चौदह रत्न - गुप्त सागर

ॐ

चौदह रत्न, गुप्त - सागर

तथा

गुप्त ज्ञान गुटका

रचयिता

श्रीमत परमहंस परिब्राजकाचार्य पूज्यपाद

अवधूत जी

श्रीगुप्तानन्दजी महाराज

तथा

तत्व ज्ञान - गुटका

रचयिता

श्रीमत परमहंस परिब्राजकाचार्य पूज्यपाद

अवधूत जी

श्रीकेशवानंदजी महाराज (केशव भगवान)

श्री गुप्तानन्द आश्रम

विष्णुपुरी, शमशान घाट मन्दसौर (म.प्र.)

प्रस्तावना

सर्व सज्जनों को विदित हो किः- कुछ समय के पूर्व वशिष्ठ विश्वामित्रादि प्रातः स्मरणीय महर्षियों की नाईं जिज्ञासु भक्तों के सुकृत कर्मों की व्यक्तिदत्त मूर्ति ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मश्रोत्रिय, महा अबधूत श्री गुप्तानन्दजी महाराज मुमुक्षुजनों के हितार्थ मध्यप्रदेश में बहुत काल तक चन्द्रवत् सानन्द विचरते रहे और सम्वत् १९७९ में मन्दसौर ग्राम के मध्य विष्णुपुरी नामक स्थान में समाधिस्थ हुवे।

वास्तव में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं (१) पामर (२) विषयी (३) जिज्ञासु और (४) मुक्त, इन के लिये क्रम पूर्वक वेद में एक लाख मन्त्र हैं। जिन में ८० हजार कर्म के प्रतिपादक और १६ हजार उपासना के प्रतिपादक-रोचक, भयानक, विधि तथा, निशेध-वाक्य हैं, तथा शेष ४ हजार ज्ञान-कांड संबंधी यथार्थ वाक्य हैं। परन्तु-वेद भगवान् का तात्पर्य साक्षात् तथा परम्परा करके अधिकारि के प्रति कर्म रूपी बंधन की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष का प्रदान करना है तात्पर्य यह है कि- क्रम से प्रथम पामर को निषेध कर्म छुड़ाने के लिये स्वर्गसुख का

लालच दिया जाता है और विहित कर्म में गुड़जिव्हा न्याय से प्रवृत्त करा के विषयी बनाते हैं, पश्चात् विषयी पुरुष को भी साँसारिक तथा-स्वर्गादिक सुखों में परिच्छिन्नता व दुःखरूपता बताकर विचार पूर्वक वैराग्य उत्पन्न कराते हैं। इस प्रकार वैराग्यवान् जिज्ञासु होकर, अन्त में ब्रह्मात्मस्वरूप असंग निश्चय करके मुक्त होता है। आत्मा स्वयंप्रकाश होने से सदैव ही सर्व को स्वतःसिद्ध है। इसमें संशय युक्त विपरीत भावनामय अज्ञानरूपी तम के नाश करने के अर्थ महात्माओं की वाणी वेद से अभेद ज्ञानरूपी सूर्य के समान है। इस प्रकार की वाणी चाहे भाषा में हो अथवा संस्कृत में उसका श्रवण मनन करना ही परमपुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त विवेकीजनों को कुछ भी कर्तव्य नहीं । यही कारण है कि इन महात्मा ने यह ग्रन्थ 'गुरु' शिष्य संवाद रूप में सहज ही बोध कराने के लिये ''चौदहरत्न गुप्तसागर'' नाम से निर्माण किया है। जैसे परमात्मा ने अगाध समुद्र से जग विख्यात चौदह रत्न निकाले थे; उसी प्रकार महात्मा श्री गुप्तानन्दजी महाराज ने वेदरूपी महा-सागर से युक्ति रत्न से लेकर विदेह रत्न पर्यन्त १४ रत्न निकाल कर जिज्ञासुजनों के सम्यक्ज्ञान, मोक्षधाम, तथा-विज्ञानियों के चित्त का चन्द्रमा प्रकट किया है और बोध की दृढ़ता के अर्थ हर एक रत्न में अनेक युक्ति, प्रमाण, न्याय, दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त कथन किये हैं, जिनके रहस्य को निश्चय कर अनुभव रूपी निराकार सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपी आत्मा स्वतःसिद्ध अवाङ्मन सगोचर नित्य प्राप्त की

प्राप्ती का अलभ्य लाभ उठा के जन्म मरण रूपी संसारमूलअविद्या से मुक्त होते हुए तुलाशेष पर्यन्त जीवनमुक्त होकर स्वच्छन्द विचरने का संयोग प्राप्त होता है। कर्म उपासना की अवधि केवल अन्तःकरण की शुद्धि पर्यन्त ही है। सो भी इस ग्रन्थ के श्रवण मनन द्वारा सत्संग पूर्वक सिद्ध होकर अनेक मुमुक्षुजनों को जीवन मुक्ति का लाभ मिल सकता है।

इसके साथ ही दूसरा ग्रन्थ "गुप्तज्ञान-गुटका" नामक छन्दोबद्ध निदिध्यासनरूप परमार्थ छन्द लावणी, गजल, होली आदि पर रसिक विद्धानों के प्रति सर्वोपयोगी इन्हीं महात्मा का कथन किया हुआ प्रकाशित है।

ॐ
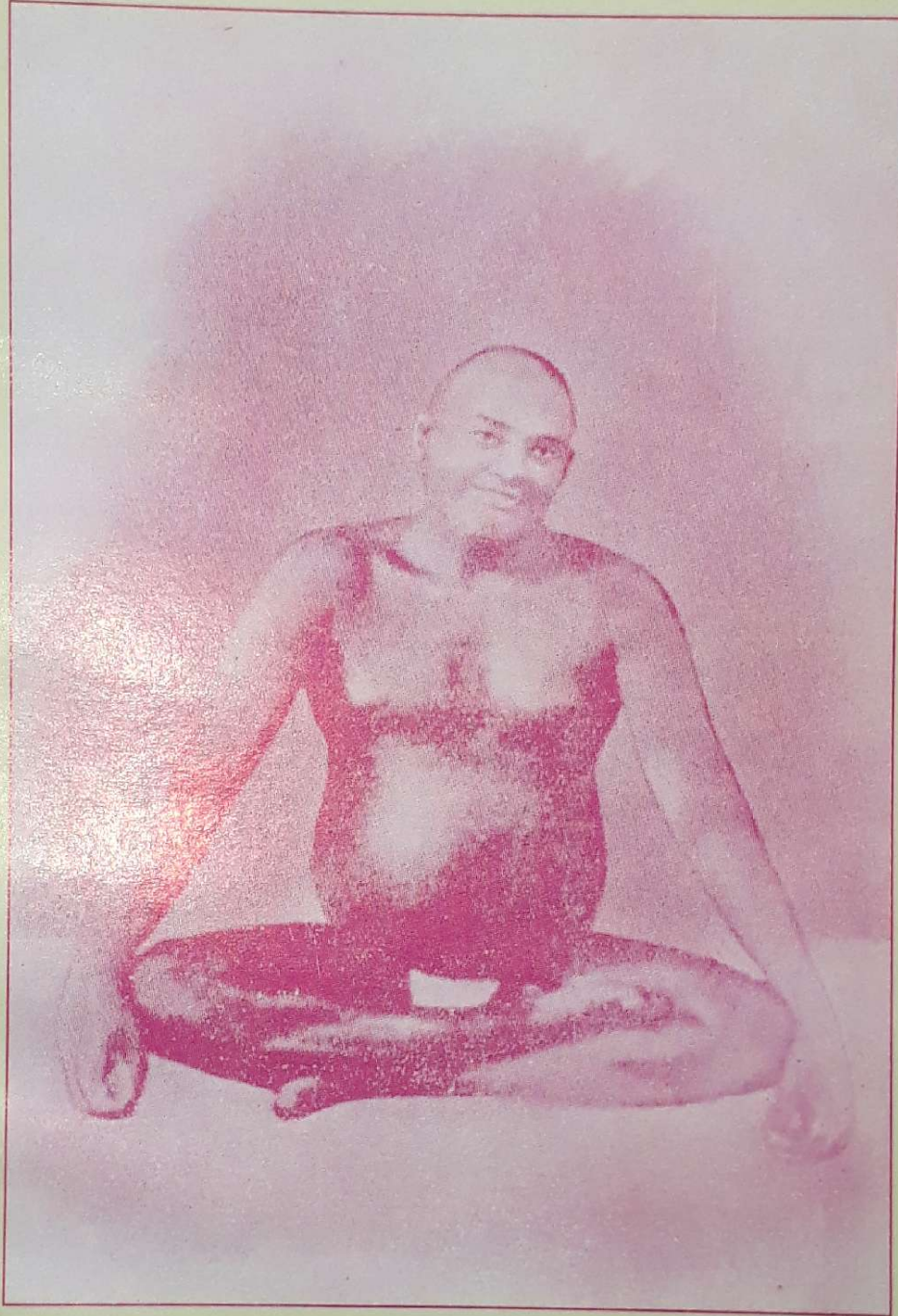
श्रीमत् परमहंस परिब्राजकाचार्य
पूज्यपाद अवधूत श्रीगुप्तानंदजी महाराज

विषयानुक्रमणिका

सूची

''चौदह रत्न-गुप्त सागर''

—o—

चौदह रत्न गुप्त सागर प्रारंभः

मङ्गलाचरण

शिवः केवलो ऽ हं शिवः केवलो ऽ हमस्मि ।
शिवः केवलो ऽ हं शिवः केवलो ऽ हमस्मि ॥
शिवः केवलो ऽ हं शिवः केवलो ऽ हमस्मि ।
शिवः केवलो ऽ हं शिवः केवलो ऽ हमस्मि ॥

—o—

इस मङ्गलाचरण के अतिरिक्त और भी मङ्गल करते हैंः—

❋ त्रोटक छन्द ❋

निज आतम मङ्गल रूप सदा । फिर मङ्गल किसका कीजै जुदा ॥
वो सब मङ्गल का मङ्गल है । तिसतें भिन्न और अमङ्गल है ॥१॥
दशहू दिशि मङ्गल है जिसको । जिन व्यापकरूप लख्या तिसको ॥
हरि हर सूर गणेश जिते । सब आतम में कल्पित हैं तिते ॥२॥

आतम सब का आधारा है। वह नाम रूप से न्यारा है ॥
जिसमें मिथ्या संसारा है। सो अव्ययरूप अपारा है ॥३॥
सत् चेतन का चमकारा है। वो आनन्द रूप हमारा है ॥
दूजे का मङ्गल क्या कीजे। जो काल पाय के सब छीजे ॥४॥
आतम त्रिकाला बाध सही। दूजे का जिसमें लेश नहीं ॥
कोइ लोक न वेद न यज्ञ सुरा। गुरु शिष्य न जामें परम्परा ॥५॥
कोइ मजब न पन्थ सन्यास जहाँ। कोइ साधन साध्य न ज्ञान तहाँ ॥
सो ज्ञान सरूप सदा नित है। नहिं भोगी नहीं इन्द्रीजित है ॥६॥
नहिं दृष्ट मुष्ट में आवत है। खोजे जब आपहि पावत है ॥
हम आपन मङ्गल आप किया। सब करना हम से दूर हुआ ॥७॥
क्रिया का मुझ में लेश नहीं। कोइ देश और परदेश नहीं ॥
मैं ही व्यापक गुप्त बिना काया। कोइ जीवरु ईश नहीं माया ॥८॥

अनुबन्ध

'अधिकारी' के लक्षण जो युक्ति रत्न से लेकर जिज्ञासा रत्न पर्यन्त कथन किये हैं सो जानने योग्य हैं। प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव रूप जो 'संबंध' है सो भी इस ग्रंथ में यथाक्रम कथन किया गया है। वास्तव में जीव ब्रह्म की एकता इस ग्रंथ का मुख्य 'विषय' है जो ज्ञान रत्न में विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति-रत्न में इसके 'प्रयोजन' का विवेचन करने में आया है।

॥ अथ युक्ति रत्न ॥

शिष्य गया गुरु देव ढिंग, छांडि कपट छल बंक ॥
कर प्रणाम लखि मुदित मन, पूछन लगा निशंक ॥१॥
सुख की चाहूं प्राप्ति मैं, सभी दुःख की हान ॥
सो कैसेकर होत है, कहिये कृपा निधान ॥२॥

किसी समय एक शिष्य कपट, छल, बक्रभाव (अर्थात्-प्रमाद) आदि त्याग कर; अपने सद्गुरु के पास गया और प्रणाम करके उसने देखा कि-इस समय गुरु महाराज अपने पर बहुत प्रसन्न हैं; तब तो वह संकोच रहित, अर्थात् निर्भय होकर सविनय पूछने लगा—

हे गुरु देव ! मैं सुख की प्राप्ति और सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति चाहता हूँ; सो हे कृपानिधान ! आप मुझ पर दया करके कहिये; मेरी यह इच्छा कैसे सफल हो सकती है ?" शिष्य के दीनता पूर्वक इस प्रकार प्रश्न करने पर गुरु बोले :—

'हे शिष्य ! तूं किसके वास्ते और कैसा सुख चाहता है ? वेदों में दो प्रकार के पदार्थ कहे हैं:-(१) आत्म और (२) अनात्म; इनमें से तू आत्मा के सुख की प्राप्ति चाहता है ?

अथवा अनात्मा के ? यदि तू कहे कि-अनात्मा के सुख को चाहता हूँ, तो तेरा यह कहना वृथा है, क्यों कि-अनात्मा का तात्पर्य अपने से भिन्न का है, और यह स्पष्ट है कि तेरे से भिन्न याने दूसरे के आराम से तेरे को आराम नहीं होता है। जैसे किसी मनुष्य को निधि प्राप्त हो तो उस निधि-जनित-सुख की प्राप्ति भी उसी को होगी दूसरे को नहीं होगी। इसी प्रकार अनात्म को सुख प्राप्त होने से तेरा प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

वेद ने अनात्म-पदार्थों को सुख रूप नहीं कहे हैं,-बल्कि असत्, जड़ और दुःखरूप ही कहे हैं। इसलिये इस लोक तथा परलोक के सभी अनात्म पदार्थों को सुख की प्राप्ति होना संभवनहीं।

अब यदि तू कहे कि-आत्मा के लिये सुख की प्राप्ति चाहता हूँ तो तेरा यह कथन भी बनता नहीं; क्योंकि-वेद ने आत्मा को सुख रूप कहा है और इस शरीर से लेकर स्त्री, पुत्र और शरीर के उपकारक-धन, पशु आदि सभी लौकिक तथा पारलौकिक अनात्म पदार्थों को दुःखरूप बताया है"।

गुरु के उक्त वचन सुनकर शिष्य बोला :-"हे भगवन्! आप कहते हैं कि-'पदार्थों में सुख नहीं है,' परन्तु-मुझे यह कथन जंचता नहीं है, क्योंकि-मेरे को तो पदार्थों में सुख प्रतीत होता है। यदि पदार्थों में सुख नहीं हो तो उनके प्राप्त होने से जो आनन्द होता है सो नहीं होना चाहिये; क्योंकि, बिना हुवे पदार्थ की प्रतीति

होती नहीं है । यदि बिना हुये पदार्थ की प्रतीति मानें तो बन्ध्या पुत्र आदि की प्रतीति होना चाहिये कि-जो किसी को भी होती नहीं । अतः-ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि-पदार्थों में ही आनन्द हैं । आप कहते हैं कि-'पदार्थ सुख रूप नहीं है'। यह कथन मेरी समझ में नहीं आता ।

यदि ऐसा कहा जाय कि-आत्मसुख का ही विषय में भान होता है, तो मेरे विचारानुसार यह भी संभव नहीं, क्योंकि-आत्मा का तो किसी काल में अभाव नहीं होता, आत्मा नित्य है, ऐसी स्थिति में सुख का भी कदापि-अभाव नहीं होना चाहिये । यदि विषय में आत्म सुख का भान हो तो सदैव ही सुख की प्राप्ति होना चाहिये, परन्तु-सुख सदैव होता नहीं है । इससे यही जाना जाता है कि-विषय में ही आनन्द है; और प्रत्यक्ष भी देखने और सुनने में आता है 'मेरे स्त्री, पुत्र, धन, नहीं इस करके मैं बहुत दुखी हूँ' । और शास्त्र द्वारा सुनने में आता है कि-''जिस काल में देवराज इंद्र का और दैत्यों का पदार्थों के वास्ते बड़ा भारी युद्ध हुआ तब दैत्यों ने जय पाई और इंद्र हार गया और भोगों की इच्छा करके दीन हो गया, तब विष्णु भगवान् के पास जा के विषय सुख के वास्ते बहुत दीनता की, ''यदि विषय में सुख नहीं होता तो-अमरेश विष्णु की कृपा का पात्र क्यों होता ? इससे जाना जाता है कि-विषय में ही सुख है'' ।

गुरुवाचः—हे शिष्य ! तुमने जो कहा कि-'विषय में ही सुख है' सो ऐसी बुद्धि तो विषयी पुरुषों की होती है, तू काहे को विषयी बनता है । और तुझे किसी रीति से विषय में सुख की प्रतीति भी हो गई है; तो तेरे से यह पूछते हैं कि-विषय में सुख अनित्य है कि नित्य ? यदि तुम प्रथम पक्ष स्वीकार करो कि-विषय सुख अनित्य है, तो अनित्य सुख की कोई भी जिज्ञासु इच्छा करता नहीं और अनित्य सुख की जो इच्छा करते हैं वे जिज्ञासु नहीं । और जो तुम दूसरा पक्ष अङ्गीकार करो कि-विषय सुख नित्य है, तो आत्मा का स्वरूप ही सुख होवेगा । क्योंकि वेद में आत्मा को सुखस्वरूप और नित्य कहा है इसलिये आत्मा से भिन्न अनात्म वस्तु कोई भी सुख रूप है नहीं, एक आत्मा ही सुखरूप है, तिसको सुख की प्राप्ति कहना बनता नहीं क्योंकि पहिल जो वस्तु नहीं होवे तिसकी ही प्राप्ति कहना बनता है, सो आत्मा वेद ने आनन्दरूप कहा है तिसको सुख प्राप्ति की चाहना बने नहीं । और जो तूने यह बात कही थी 'जो आत्मसुख ही विषय में भान होवे तो सब काल सुख की प्रतीति होनी चाहिये।' आत्मा नित्य होने से यह कहना भी तेरा बनता नहीं । क्योंकि-आत्मा का तो उत्पत्ति नाश होता नहीं और तुम भी अंगीकार करते नहीं हो क्योंकि वह नित्य है ।

परन्तु साक्षी आत्मा के आश्रित जो अनात्मा अन्तःकरण की वृत्ति वह इंद्रिय द्वारा निकल के बाह्य देश में जाकर अनुकूल वा

प्रतिकूल पदार्थ से मिल के सुखाकार वा दुखाकार होती है। और जब अनुकूल विषय की प्राप्ति होती है तब वृत्ति सुखाकार होती है। यद्यपि वह वृत्ति राजस है, तिस वृत्ति से सुख की प्राप्ति कहना संभव नहीं, क्योंकि सुख सात्त्विकी वृत्ति से होता है तिसका कोई निमित्त है नहीं, तथापि-तिस विषय की जो प्राप्ति हुई है तिस विषय की प्राप्ति से तिस राजस वृत्ति का नाश हो गया है; परन्तु तिस वृत्ति के नाश से अनन्तर दूसरी सात्त्विकी वृत्ति उत्पन्न होवे है, तिस वृत्ति के उत्पन्न होने में राजस वृत्ति का नाश ही निमित्त है, परन्तु बहिर्विषय के आनन्द का विषय करने से वह वृत्ति भी बहिर्मुख ही होती है, तिस वृत्ति से भी अन्तर आनन्द का भान होवे नहीं; परन्तु तिस बहिर्मुख सात्त्विकी वृत्ति के पीछे और अन्तर्मुख वृत्ति उत्पन्न होवे है, तिस वृत्ति से अन्तर्सुख जो अन्तःकरण उपहित आनन्द है तिसका ही भान होवे है और बहिर्मुख जो सात्त्विकी वृत्ति हुई है और विषय के आनन्द का जो लाभ हुआ है, तिस आनन्द से वृत्ति की स्थिति हुई है, यही तिस अन्तर्सुख वृत्ति के होने में निमित्त है।

तात्पर्य यह है कि-जितना कि अन्तर और बाहर जो आनन्द भान होता है सो सब वृत्ति के ही उत्पत्ति और नाश से होवे है, इसी करके सुख का नाश होवे है और वृत्ति की स्थिरता होने से विषय में आनन्द का भान होवे है सो आत्मा का ही आनन्द है।

जैसे जितने पदार्थन में जो मीठा मालूम होता है सो सभी गन्ने का रस है; क्योंकि जितनी कि अन्न मिश्रित मिठाई बनती हैं सो सब सांठे करके मीठी होती है; तैसे ही जितना कि जो आनन्द का भान होवे है बाहर और अन्तर सो सभी 'ब्रह्म आत्मा तिस ब्रह्म का ही है, आत्मा से भिन्न और कोई भी आनन्द स्वरूप है नहीं। इस करके जो तू आत्मा के वास्ते सुख को चाहे सो तेरा कहना बने नहीं, क्योंकि आत्मा सदा आनन्दरूप है, और वेद ने भी कहा है—

''प्रज्ञानमानन्दंब्रह्म''

तिस महा वाक्य करके प्रज्ञान पद जीव-आत्मा का वाचक है और ब्रह्म पद ईश्वर का वाचक है। और आनन्द पद दोनों को अपने में ही बतावे है; इस करके भी आत्मा सुख रूप ही है, परन्तु-भाग त्याग लक्षणा करके देखिये तब तेरे को मालूम होवेगा कि-आत्मा आनन्द स्वरूप ही है, और जो तू सुखादिकों को आत्मा के गुण कहे सो भी बात तेरी बने नहीं, क्योंकि-गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध होता है सो भी तिंन अनात्म पदार्थों का ही होता है, और जो जिसका जिसमें तादात्म्य होता है सो तिसका स्वरूप ही होवे है, जैसे जाति और व्यक्ति का तदात्म्य होवे सो जाति व्यक्ति स्वरूप ही है, व्यक्ति से भिन्न करके देखिये तो जाति कहीं मिलती नहीं। याते अनात्म पदार्थन का भी जिनका

तादात्म्य होवे है, तिनका भी कल्पित ही भेद होवे है, वास्तव में गुण और गुणी का अभेद ही होवे है तब अनात्म पदार्थों का भी अभेद ही है, जब अनात्म है तो निर्गुण कहाँ है ? तिस निर्गुण आत्मा का गुणों से कौन सम्बन्ध है ?

संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध है; सो समवाय सम्बन्ध तो पूर्व की रीति से बनता नहीं क्योंकि-जिन पदार्थन का न्याय शास्त्र में समवाय सम्बन्ध माना है उन पदार्थन का वेदान्तशास्त्र में तादात्म्य-सम्बन्ध माना है, तादात्म्य के नहीं बनने से समवाय भी बनता नहीं, और दूसरा संयोग सम्बन्ध कहा सो भी बनता नहीं, क्योंकि संयोग दो के आसरे रहता है याते कोई भी आसरा संयोग का बनता नहीं ।

जो ऐसा कहे कि आत्मा के आसरे संयोग रहे है, सो यह कहना बनता नहीं; क्योंकि आत्मा को असंग कहा है, याते असंग आत्मा में संयोग का आसरा बनता नहीं । और जो दूसरा पक्ष कहे कि 'गुणन के आसरे संयोग रहता है' सो भी बात बनती नहीं; क्योंकि गुण जड़ होने से संयोग का आसरा बनते नहीं, इस करके सुखादिक गुणन का और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध है नहीं । याते भी सुखादिक आत्मा के गुण नहीं है, सुखादिक आत्मा के स्वरूप ही है जो जिसका स्वरूप ही होवे है, सो तिस से भिन्न होवे नहीं । जैसे द्रवता जल का स्वरूप है; जैसे उष्णता अग्नि

का स्वरूप है; तैसे ही सुखादिक आत्मा के गुण नहीं है, आत्मा के स्वरूप ही है, और जो तुम ऐसे कहो कि—

'सुखादिक आत्मा के धर्म हैं' तो हम यह पूछते हैं कि सुखादिक अन्तरात्मा के धर्म सो तैंने कैसे जाना ? यह आप बताइये जो तुम यह कहो कि आत्मा करके जाना सो यह तुम्हारा कहना बनता नहीं; क्योंकि आत्मा सब धर्मों से रहित वेद ने कहा, जैसे और सर्व धर्मन से रहित है, तैसे जानना भी एक धर्म है सो तिस जानने से भी रहित है या ते साक्षी आत्मा में जानना बनता नहीं । तो यद्यपि अनात्मा में भी जानना बनता नहीं, और सुखादिकों का भान होता है सो नहीं होना चाहिये तथापि जैसे दूर देश में वस्तु होवे तिसके देखने में नेत्र की सामर्थ नहीं होवे है, और एक दूरबीन शीशा होता है केवल तिसमें भी सामर्थ नहीं होवे है, और जब उस दर्पण को नेत्र से मिलाइये तब दूर देश स्थित वस्तु जानी जाती है, तैसे साक्षी आत्मा में भी जानना नहीं है, और जड़ अनात्मा जो अन्तःकरण तिसमें भी जानना बनता नहीं, परन्तु—चेतन आत्मा के आश्रित जो जड़ अंन्तःकरण तिस अन्तःकरण की वृत्ति आत्मा के प्रकाश करके प्रकाशित हुई सुखादिकन को प्रकाशती है, तिस साभास वृत्ति करके सुखादिक जाने जाते हैं, इस रीति से सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं ।

न्यायशास्त्र में सुखादिक आत्मा के ही धर्म कहे हैं, इस करके

भी सुखादिक आत्मा के ही धर्म सिद्ध होवे हैं । इस युक्ति से और न्यायशास्त्र का प्रमाण देके सुखादिक आत्मा के धर्म सिद्ध करे सो भी कहना बनता नहीं, क्योंकि प्रथम तो आत्मा को सर्व धर्म से रहित ही कहा है, उस सर्व धर्म रहित आत्मा में किसी धर्म के आरोपण करने का नाम भ्रांति है । जैसे उष्णता से रहित को उष्णतासहित कहना, तथा—दंडरहित को दंडी कहना बनता नहीं, क्योंकि तत्-धर्म रहित को तत्-धर्म विशिष्ट कहना ही भ्रांति है, सो ऐसी भ्रांति तेरे को कहाँ से प्राप्त हुई है ।

सुखादिक आत्मा के धर्म हैं यह कहना तेरा ऐसा है, जैसे कोई कहे चन्द्रमा की किरण से मेरे को बड़ी तप्ती मालूम हुई और मरुस्थल की नदी में मैंने जलपान और स्नान किया तब मेरे को शीतलता हुई । ऐसे ही तू कहता है कि मैंने साभास वृत्ति से सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं, सो आत्मा के धर्म सुखादिक किस वृत्ति से जाने हैं ? सात्त्विकी वृत्ति करके जाने हैं अथवा राजसी वृत्ति करके जाने हैं ? अथवा तामसी वृत्ति करके जाने हैं ? इसमें भी वृत्ति के भेद हैं, एक सात्त्विक सात्त्विकी होती है, दूसरी सात्त्विक राजसी है और तीसरी सात्त्विक तामसी होती है। जैसे सात्त्विक वृत्ति के तीन भेद हैं तैसे ही राजस और तामस के भी जान लेना, पर उनसे किसी का ज्ञान कहना संभव नहीं, सात्त्विक वृत्ति से ही संभव है ।

फिर यह पूछते हैं—जो पूर्व तीन भेद कहे हैं, उनमें से सात्त्विक सात्त्विकी से सुखादिक आत्मा के धर्म जाने जाते हैं, अथवा सात्त्विक राजस से जाने जाते हैं अथवा सात्त्विक तामस से जाने जाते हैं?' यह बात तुम हमारे को बताओ ।

यदि तुम कहो कि ''सात्त्विक सात्त्विकी वृत्ति से सुखादिक आत्मा के धर्म हमने जाने हैं'' तो यह कहना तुम्हारा बनता नहीं, क्योंकि जाग्रत अवस्था में कोई कथा प्रसंग सुनके जो चित्त का एकाग्र हो जाना है अथवा-किसी ध्यान करके जो मन एकाकार होके ध्येय वस्तु में वृत्ति के प्रवाह की समाप्ति होती है, उसी वृत्ति को सात्त्विक सात्त्विकी कहते हैं । और इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वर्ग के भोगों की इच्छा करके यज्ञादि कर्म का करना सात्त्विक राजस वृत्ति का कार्य है, और जाग्रत अवस्था में आलस्य निद्रा के वश होके करने योग्य कार्य को नहीं करना ही सात्त्विक तामस वृत्ति है, ऐसे ही राजस और तामस को भी जान लेना । वास्तव में राजस तामस वृत्ति से तो कोई भी ज्ञान यथावत् बनता नहीं, किन्तु सात्त्विक वृत्ति से ही बनता है, ऐसा कहना पड़ेगा, और हम यह भी जानते हैं कि भगवत् वचन का प्रमाण भी तुम देओगे, कि 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एवच'' इस प्रकार से सुखादिक आत्मा के 'धर्म हैं' ऐसा तुम कहो तो हम पूछते हैं कि-जिस सात्त्विकी वृत्ति करके सुखादिक आत्मा के धर्म जाने

हैं सो वह शक्ति वृत्ति है अथवा लक्षणा वृत्ति है ? जो तू ऐसा कहे कि शक्ति वृत्ति करके सुखादिक हमने जाने हैं सो भी तेरा कहना बनता नहीं, क्योंकि—जिस पद में जिस अर्थ की शक्ति होती है सो अर्थ तिस पद का शक्य अर्थ होता है, और तिस को वाच्य अर्थ भी कहते हैं, सो धर्म सिद्ध करके सात्त्विक वृत्ति द्वारा सुखादिक अन्तिम आत्मा के तू वाच्य वाचक का भेद मानता अथवा अभेद मानता है, अथवा-भेदाभेद मानता है, यदि तू कहे कि वाच्य और वाचक का भेद मानता हूँ तो वास्तव से भेद मानता है अथवा कल्पित भेद मानता है, जो तू ऐसे कहे कि-'वास्तव में भेद मानता हूँ, तो यह तेरा कहना बने नहीं, क्योंकि वाच्य और वाचक का नाम मात्र भेद होता है। जैसे घट पद वाचक है और कलश अर्थ तिसका वाच्य है, सो घट पद और तिसका वाच्य अर्थ कलश दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, इस करके वाच्य और वाचक का वास्तव में भेद बने नहीं, और दूसरा कल्पित भेद कहें, सो वह कल्पना मात्र ही है, क्योंकि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न होती नहीं, इस से तो हमारा ही मत सिद्ध होता है।

दूसरा अभेद पक्ष कहे सो भी बनता नहीं, क्योंकि वाच्य वाचक का अभेद हो तो जैसे अग्नि पद का अंगार वाच्य है, जो अग्नि से अत्यंत अभिन्न होवे तो अग्नि पद उच्चारण करने से मुख का दाह होना चाहिये, ऐसे ही उदक पद उच्चारण करने से मुख शीतल

होना चाहिये सो होता नहीं, इससे वाच्य और वाचक का अभेद कहना संभव नहीं, और जो तीसरा भेदाभेद पक्ष कहें सो अत्यन्त ही विरुद्ध है, क्योंकि जिस वस्तु का अपर वस्तु से भेद होता है तिस वस्तु का दूसरी वस्तु से अभेद होता नहीं जैसे एक आम्र के वृक्ष में अपना अभेद होता है, भेद होता नहीं, और जैसे आम्र के वृक्ष का और करंजूवे के वृक्ष का भेद होता है तिसका अभेद होता नहीं, क्योंकि भेद और अभेद आपस में विरोधी होने से तिनका समावेश होता नहीं, इस करके तीसरा भेदाभेद पक्ष भी तेरा बनता नहीं, इसी से जो तू शक्ति वृत्ति मान के आत्मा के सुखादिक धर्मों का विषय करना कहे, सो तेरा कहना बनता नहीं, क्योंकि आत्मा किसी पद का शक्य अर्थ हो तो शक्ति वृत्ति से आत्मा का ज्ञान होवे।

जब आत्मा का ज्ञान होता है, तभी सुखादिकों का ज्ञान भी संभव है। क्योंकि धर्मी के ज्ञान से अनन्तर ही धर्मों का ज्ञान होता है। यह बात सब के अनुभव सिद्ध है, जैसे पक्षी की जो गमन रूपी क्रिया है सो पक्षी का धर्म है सो पक्षी में रहता है, जब तक पक्षी को नहीं जाने तब तक उसके क्रिया रूपी धर्म को भी नहीं जानेंगे तैसे ही अनुभव गम्य आत्मा का किसी वृत्ति करके ज्ञान संभव नहीं, तो फिर सुखादिक आत्मा के धर्म हैं' यह कहना तेरा कैसे बनेगा ? कदापि भी नहीं बनेगा। क्योंकि-अनात्म वस्तु

यदि आत्मा से जुदी हो तब तो तेरा कहना बने, क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापक है। इससे जितनी अनात्म वस्तु है सो आत्मा से भिन्न है नहीं, और तुझे भिन्न भासती हैं, यह तेरे को आत्मा के अज्ञान करके प्रतीत होती है।

जैसे जेवरी के अज्ञान करके नाना प्रकार के सर्प दंडादिक पदार्थ भासते हैं, जब जेवरी का सम्यक्ज्ञान होता है तब एक जेवरी ही प्रतीत होती है, तैसे ही तिस आत्मा के अज्ञान करके नाना प्रकार के सुखादिक धर्म आत्मा के भासते हैं। सो वह आत्मा के ज्ञान से ही दूर होंगे। दूर ऐसा नहीं जानना कि कोई कोस दो कोस चले जावेंगे। जैसे सर्प दंडादिक कहीं से आये नहीं, और कहीं जाते भी दीखे नहीं, केवल रज्जू के अज्ञान के कारण भासते थे, रज्जू का ज्ञान होने से रज्जू स्वरूप ही हो जाते हैं, तैसे आत्मा के अज्ञान करके आत्मा में सुखादिक धर्म भासते हैं, सो केवल आत्मा के ज्ञान से ही आत्म स्वरूप भासते हैं। और जो तू यह कहे, कि शक्ति वृत्ति करके आत्मा के ज्ञान के असंभव होने से सुखादिक आत्मा के धर्म विषय नहीं होवें तो लक्षणा वृत्ति से आत्मा का ज्ञान होने से सुखादिक धर्मों का ज्ञान होवेगा, सो भी कहना बने नहीं, क्योंकि लक्षणा वृत्ति दो प्रकार की होती है, एक केवल लक्षणा और दूसरी लक्षित लक्षणा। केवल लक्षणा के तीन भेद हैं-जहती, अजहती और भागत्याग।

वाच्य अर्थ का जो संबंधी हो सो लक्षणा का स्वरूप कहलाता है, और वाच्य अर्थ सारे का त्याग करके उसके संबंधी की जो प्रतीति होती है उसे 'जहती' कहते हैं। और वाच्य अर्थ सारे का ग्रहण होके अधिक उसके संबंधी का भी ग्रहण होवे; उसे 'अजहती' लक्षणा कहते हैं। जहाँ वाच्य अर्थ में से एक भाग का त्याग हो और एक भाग का ग्रहण हो वहाँ 'भागत्याग लक्षणा' होती है।

केवल लक्षणा के तीन भेद हैं। शक्य के साथ साक्षात् जिस पदार्थ का संबंध है उसी को 'केवल लक्षणा' कहते हैं। जहां शक्य के साथ किसी पदार्थ का परंपरा संबंध हो तहां 'लक्षित लक्षणा' होती है। पद का अपने अर्थ से जो संबंध है उसी का नाम वृत्ति है। आत्मा असंग होने से उस के साथ किसी भी पदार्थ का संबंध बनता नहीं। यदि तुम कहो कि-नैयायिकों ने आत्मा से मन का संयोग संबंध मान के आत्मा में ज्ञान गुण उत्पन्न होना कहा है, इस प्रकार के कथन से आत्मा ज्ञान गुण धर्म वाला ही प्रतीत होता है; ऐसा कहना भी तुम्हारा फिजूल है। क्योंकि नैयायिकों ने जो संयोग संबंध माना है सो सावयव पदार्थों का ही माना है और आत्मा को तो श्रुति ने 'निरवयव कहा है, निरवयव का संयोग कैसे होवे ? यदि समवायसंबंध कहें तो भी नहीं बनता, क्योंकि समवाय गुण और गुणी का होता है, आत्मा को तो वेद ने निर्गुण

कहा है। ऐसे निर्गुण, निरवयव आत्मा का किसी पदार्थ से कोई भी संयोग कैसे बनेगा ? कदापि नहीं बनेगा। किसी सम्बन्ध के नहीं बनने से 'लक्षणावृत्ति' से आत्मा को तुम कैसे जानोगे ? और जब आत्मा को नहीं जाना तो फिर उसके सुखादिक धर्म कैसे जाने ?

यदि तुम यह कहो कि-'तुमने भी यह बात पूर्व कही थी कि-जितना अंतर बाहर जो सुख होता है सो सब वृत्ति से ही होता है; साक्षी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हुई अंतःकरण की वृत्ति सुखाकार वा दुःखाकार होती है, ऐसे ही हमने भी 'साभासवृत्ति' से सुखाकार आत्मा के धर्म जाने हैं, तो भी तैंने हमारे कहने का अभिप्राय समझा नहीं। क्योंकि-हमारे कहने का यह मतलब कि-अन्तर बाहर जो पदार्थों में सुख प्रतीत होता है-सो सभी 'साभासवृत्ति' से होता है। आत्मा और आत्मा के धर्म-सुखादिक किसी भी 'साभासवृत्ति' के विषय हमने कहे नहीं।

यदि यह कहा जाय कि-अंतर आत्मा के बिना और कौन पदार्थ है ? तो सुनः-जैसे जाग्रत अवस्था में अंतःकरण की वृत्ति नेत्रादिक द्वारा निकल के-बाहर देश में जाकर-व्यावहारिक पदार्थों को विषय करती है, सो वृत्ति का विषय करना यही है कि-पदार्थ व छिन्न चेतन के आश्रित जो आवरण है उसे दूर करती है; यही वृत्ति की विषयता है। और कोई वृत्ति से पदार्थ का ज्ञान नहीं

होता है, परन्तु-वृत्ति में जो चेतन का आभास है उसी को चिदाभास भी कहते हैं। जैसे जाग्रत के पदार्थों के आभास और वृत्ति से ज्ञान होता है तैसे ही स्वप्न के पदार्थों का भी साभास वृत्ति से ही ज्ञान होता है; सो अंतर कहा जाता है, और-साक्षीभास-कहा जाता है। क्योंकि-जिस पदार्थ को अविद्या की वृत्ति द्वारा साक्षी प्रकाशे सो पदार्थ 'साक्षीभास्य' कहलाता है। इससे स्वप्न के पदार्थों को 'साक्षीभास्य' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि-अनात्म पदार्थ ही के प्रकाश करने में वृत्ति और आभास की सफलता है। आत्म पदार्थ के प्रकाश करने का सामर्थ्य किसी भी वृत्ति और आभास का है नहीं। इसी से आत्मा को वेद ने स्वयं प्रकाश कहा है, और यदि तू यह कहे कि-वृत्ति और आभास की पदार्थों के ही ज्ञान में सफलता है-तो सुषुप्ति अवस्था में कोई भी पदार्थ है नहीं और सुख का ज्ञान होता है-तो वही आत्म ज्ञान होगा-सो यह कहना भी तेरा ऐसा ही है जैसेः-

(१)

वृद्ध बालक न्याय

किसी वृद्ध पुरुष के पास उसका एक बालक खेल रहा था और वहीं एक जल का भरा घट रखा हुआ था। वह बालक घट के पास जाके अपने मुख के प्रतिबिम्ब को देखकर भयभीत

हुआ और अपने पितामह के पास आकर कहने लगा-'यह हमारे को डराता है' । तब बुड्ढे ने कहाः-तेरे को कौन डराता है ? बालक बोला कि-इस घड़े में है ?

बुड्ढा उठके घट के पास आकर देखने लगा तो सफेद दाढ़ी सहित उसका प्रतिबिंब भासने लगा । तब बुड्ढा कहने लगाः- अरे बेईमान ! धोली दाढ़ी तेरी हो गई अब तक बच्चों को डराता है ? तेरे को लज्जा नहीं आती ? यह बुड्ढे का दृष्टांत है ।

दार्ष्टान्त यह है—

जैसे उस बुड्ढे ने नहीं जाना कि-इस घट में मेरा ही प्रतिबिंब है। कोई दूसरा भय देने वाला समझ के उसको धिक्कार देने लगा। तैसे ही तैने जो कहा कि-'सुषुप्ति अवस्था में कोई भी पदार्थ नहीं है, और सुख का जो भान होता है सो आत्म-सुख होगा' । तू विचार करके देख-सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर रहता है—उस कारण शरीर को ही अज्ञान कहते हैं । और 'प्राज्ञ' नामा जीव रहता है सो अज्ञान की वृत्ति से सुषुप्ति के अज्ञान आवृत आनंद को भोगता है । सो भी वृत्ति द्वारा ही आनन्द का भान होता है। और जो ईश्वर की सर्वज्ञता आदि का ज्ञान है सो भी माया की वृत्ति करके होता है । वृत्ति से जो ज्ञान होता है सो ज्ञान अनात्म पदार्थों का ही है । तू चेतन आत्मा स्वयं प्रकाश होने से किसी भी वृत्ति का विषय नहीं है । और सुषुप्ति का आनन्द तो अज्ञान की वृत्ति से होता है ।

तू शुद्धरूप आत्मा अज्ञान में शामिल काहे को होता है। तू सुख को अपने से जुदा समझ के सुख की प्राप्ति की इच्छा करता है यही इच्छा तेरे को जुदाई की देने वाली है, वास्तव में देखा जाय तो किसी भी रीति से सुख तेरे से न्यारा नहीं। क्योंकि 'अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप, यह पांच अंश सब पदार्थों में होते हैं। पट का अस्तित्व यह 'अस्ति', पट का भान होता यह 'भाति', पट शीत उष्ण को दूर करता है, यह 'प्रिय', पट यह दो अक्षर 'नाम' और विस्तृत आकार, शुक्ल 'रूप'।

किसी दैवयोग से उस वस्त्र में अग्नि लग जावे तब पट नाम और शुक्ल रूप दोनों बदल जाते हैं। राख नाम और काला उसका रूप हो जाता है। और अस्ति, भाति, प्रिय यह जो तीन अंश हैं सो वहां भी बने रहते हैं। राखो अस्ति, भासती है यह भाति, और बरतन मांजने के काम में आती है इससे प्रिय है। ये तीनों अंश आत्मा के हैं। नाम और रूप दो माया के जाने जाते हैं। क्योंकि—व्यभिचारी होने से ये दोनों अंश कल्पित हैं। तैसे ही अस्ति, भाति, प्रिय, आत्मा नाम और उसके अंश ये भी नाम होने से सब कल्पित हैं, ये तेरे जताने के वास्ते कहे हैं। क्योंकि-कुछ नाम रखने से ही वाणी का व्यापार होता है और नाम से ही नामी जाना जाता है इससे बारंबार आत्मा का कथन किया है। इसमें शिष्य शंका करता है:-'हे भगवन्, नाम से नामी की

प्राप्ति भी होती है और बारम्बार जो आत्मा का कथन किया है सो भी आत्मा के समझने के वास्ते कथन किया है; क्योंकि सूक्ष्म होने से अस्ति भाति जो दो अंश आत्मा के कहे सो तो ठीक हैं, परन्तु प्रियजना, सब पदार्थों में कैसे घटेगा, क्योंकि-शेर सर्पादिक किसी को प्यारे नहीं लगते हैं, अपने शत्रु में प्रियपना कैसे घटेगा? आप इस शंका की निवृत्ति कीजिये ।

गुरु कहते हैं कि-हे शिष्य ! सर्व वस्तु सर्व को प्रिय नहीं होती है-यह वार्ता आप की मानी, परन्तु एक अंश से प्रिय-पना सर्व वस्तुओं में घटता है-जैसे सर्पिणी को सर्प प्यारा लगता है, शेरनी को शेर प्यारा लगता है, और अग्नि-कीट को अग्नि प्यारी लगती है, तैसे ही अपने शत्रु के दुख में प्रियता होती है, सो सर्व के अनुभव सिद्ध है, परंपरा से सर्व को अपना आत्मा ही प्रिय है, जितना चेतन शरीर के अंदर आया है उतने को आत्मा कहते हैं, जैसे जितना आकाश घट में आया है उतने आकाश को घटाकाश बोलते हैं, परन्तु-वह व्यापक आकाश से पृथक् नहीं हो गया है।

तैसे ही जो व्यापक चेतन है सो शरीर के अन्तर और बाहर व्याप रहा है ।

इससे विषय अविछिन्न और निरविछिन्न जो कुछ आनन्द का भान होता है सो सर्व तेरा ही आनन्द है, तेरे से जुदा आनन्द

कहीं भी है नहीं, फिर तेरे को सुख की इच्छा कैसे सम्भवेगी। तू सदा सुखरूप ही है, और सर्व ठौर में जो आनन्द प्रतीत होता है सो भी तेरा ही आनन्द है। इसी से तू चेतन स्वरूप है। जो घट पट आदिक चेतन नहीं है, सो आनन्द स्वरूप भी नहीं है। जो आनन्द है सो तेरा ही है, तैसे ही जो चेतना है सो भी तुझ चेतन की ही है। तेरे ही प्रकाश को पा के सब कुछ प्रकाशमान हो रहा है।

गुरु के ये वचन सुनकर शिष्य बोलाः- हे भगवन्! आप मेरे प्रकाश से सर्व प्रकाशमान कैसे कहते हो? क्योंकि दिन में तो सूर्य भगवान् प्रकाश करता है और जब सूर्य नहीं होता है तो रात्रि में चन्द्रमा प्रकाश करता है; और चन्द्रमा नहीं होता है तब तारागण का प्रकाश होता है, जब बादलों में तारागण आच्छादित हो जाते हैं, तब अग्नि से प्रकाश होता है, और जब अग्नि भी नहीं होती है; तब बिजली से प्रकाश होता है, और जब बिजली भी नहीं होती है तब वाक्य इन्द्रिय का प्रकाश होता है।

इस रीति से इन षट् ज्योतियों से और इन्द्रियों से और इन्द्रियों के देवताओं से अर्थात्-इस त्रिपुटी से सर्व का प्रकाश देखने में आता है। मेरे प्रकाश से सर्व का प्रकाश कैसे कहते हो? आपका यह कहना असम्भवसा मालूम होता है।

गुरुरुवाचः—हे शिष्य ! तेरा कहना दुरुस्त है, क्योंकि ऐसा ही मालूम होता है; परन्तु जब तू विचार दृष्टि से देखेगा, तब तेरे को मालूम हो जावेगा कि-मुझ चेतन आत्मा का ही प्रकाश सर्व ठौर है, सो विचार यह है कि-जब स्वप्न अवस्था होती है तब कोई भी ज्योति है नहीं, और स्वप्न के पदार्थों का प्रकाश होता है; इससे जाना जाता है कि-कोई और ही ज्योति है जो इन ज्योतियों से भिन्न है, यदि तू ऐसा कहे कि-जैसे स्वप्न में पदार्थ कल्पित प्रतीत होते हैं, तैसे ही सूर्यादिक ज्योति भी कल्पित ही है, जिनसे स्वप्न के पदार्थों का प्रकाश होता है' यह कहना तेरा ऐसा है जैसे कोई कहे कि-''मृग तृष्णा के नीर से गारा बना के मैंने घर बनाया था, और शुक्ति का रूपा बहुत सा मैंने इकट्ठा किया और उस घर में रखा था-जिसको ठूंठ का चोर फोड़ के निकाल ले गया। उस धन को ढूंढने के लिये मैं गया था, रास्ते में रज्जू के सर्प ने मेरे को काट खाया-इससे मेरे को बड़ा भारी कष्ट हुआ है ''जैसे इस प्रकार के कथन को सुन के सर्व लोगों को हंसी आती है-तैसे ही हमें तेरे कहने से हंसी आती है, क्योंकि-'कल्पित पदार्थों का कल्पित सूर्यादिक ज्योतियों से प्रकाश होता है' यह कहना तेरा केवल हंसी का ही विषय है।

कल्पित पदार्थ से कल्पित पदार्थ का प्रकाश कहना बनता नहीं, क्योंकि-कल्पित वस्तु कल्पना मात्र ही होती है; उस से किसी

का प्रकाश होता नहीं। अतः-जड़पदार्थों का स्वप्न की कल्पित ज्योतियों से जो प्रकाश प्रतीत होता है सो किसी चेतन करके ही होता है। तू अपने चित्त में विचार करके देख-तेरे बिना और कोई भी वहाँ है नहीं सर्व को जानने वाला और सर्व को प्रकाशने वाला तू ही चेतन, आत्मा, परिपूर्ण, स्वयं प्रकाश है, तेरे प्रकाश से ही सब प्रकाशवान् हो रहा है। जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीया तथा तुरीयातीत इन सर्व अवस्थाओं का प्रकाश तेरे से होता है, ये सब आपस में व्यभिचारी हैं। तू इन सब में अनुगत है; इससे तेरी चेतना को पाके यह भूत भौतिक जितना अनात्म प्रपंच है सो सब चेतन प्रतीत हो रहा है। वास्तव में तू ही चेतन है।

तेरे से भिन्न और कोई भी चेतन नहीं है तू ही सर्व ज्योतियों का ज्योति है, भगवान् ने भी कहा है ''ज्योतिषामपि तद् ज्योतिः'' और वेद ने भी कहा है-'यस्य हृदयेऽन्तरात्मा ज्योतिर्भवति'' यही कारण है कि-आनन्द रूप होने से चेतन रूप है, और चेतन रूप होने से सत्यरूप भी आत्मा ही है, सत् चित् आनन्द रूप आत्मा तू ही ब्रह्म स्वरूप है, तेरा किंचित् मात्र भी ब्रह्म से भेद नहीं है, और जो भेद कहते हैं उनके वास्ते ऐसा कहा है :—

दोहा—अस्ति भांति प्रिय आत्मा, ब्रह्म सच्चिदानन्द।
ताते एक सरूप है, भेद कहें मतिमन्द॥

इसी से कहा है ''भेदाभेद शब्द गलतो'' अर्थात् तुझ चेतन आत्मा में भेद और अभेद का लेश भी नहीं है, और जो भेद और अभेद दो प्रकार के वचन शास्त्रकारों ने कहे इससे तात्पर्य यही है कि-'कहने में जो बात आती है सो वाणी का विषय होने से अनात्म ही है। क्योंकि वाणी से अनात्म पदार्थ का ही कथन होता है, तू चेतन आत्मा किसी वाणी और मन का विषय नहीं है। और किसी जगह इसे मन और वाणी का विषय भी कहा है-सो दिखाते हैं कि जिस काल में गुरू द्वारा महावाक्यों का जो उपदेश श्रवण होता है सो वाणी से ही सुना जाता है, उस श्रवण से अनन्तर मनन का कथन किया है, सो मन से ही मनन होता है, मनन किये हुए अर्थ के परिपक्व हो जाने को निदिध्यासन कहते हैं और निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था को समाधि कहते हैं, इस प्रकार से आत्मा मन और वाणी का विषय भी कहलाता है।

किसी ने मन और वाणी का निधेष भी किया है, दोनों प्रकार के वचनों को सुन के अल्प-श्रुत जिज्ञासु को भ्रम उत्पन्न हो जाता है, वह कहीं भेद वचनों को सुनता है और कहीं अभेद को सुनता है परन्तु-शास्त्रकारों के जो कथन हैं सो सारे ही अध्यारोप में बनते हैं।

जितने वेद के वचन हैं सो अधिकारी भेद से सारे ही सफल हैं, जैसे किसी पुरुष को स्वप्न होता है तब उसको वेद और वेद

का उपदेश कर्ता अचार्य, और जगत् में नाना प्रकार के कर्म, और उनके फल, और उनका प्रेरक ईश्वर, और भोगनेवाला-जीव आदि जो कुछ प्रतीत होता है सो सब ही अविद्या और निद्रा के कारण भासता है, सो सब मिथ्या है। यथार्थ में एक स्वप्नद्दष्टा पुरुष ही सत्य होता है, इसी प्रकार एक तू ही सत्‌रूप है।

तू भ्रम के मुरदे को क्यों रोता है ? विवेक रूपी नेत्र खोल कर देख, जैसे यह स्वप्न का प्रपंच बिना हुए ही सर्व अर्थाकार भासता है, तैसे ही यह जाग्रत का प्रपंच भी तू जान, यदि तू ऐसा कहे कि- 'जाग्रत प्रपंच में तो पदार्थों के देश, काल, कारण, कार्य, भाव भासते हैं और स्वप्न में सर्व पदार्थ सम काल भासते हैं, इन दोनों की एकता कहना बने नहीं' -यह कहना तेरा ठीक नहीं है। क्योंकि-देश काल आदि जैसे जाग्रत में भासते हैं वैसे ही स्वप्न में भी भासते हैं, यह सब अविद्या के कारण प्रतीत होता है। जाग्रत के देश, काल आदि में और स्वप्न के देश, काल आदि में कुछ भी अधिक न्यूनता नहीं है, क्योंकि-ये दोनों ही अविद्या कृत हैं, इसी पर तेरे को एक—

(२)
"राजपुत्र शोक-न्याय"

सुनाते हैं:-एक राजा रात्रि के समय अपनी शय्या पर सोता था, उस समय उसको ऐसा मालूम हुआ कि मेरा राज बड़ा भारी

है और चार पुत्र सर्व गुणों की खानि और यौवन अवस्था वाले हैं। दैवयोग से उस राजा के राज में किसी अन्य राजा ने लड़ाई छेड़ दी, जिसमें उस राजा के चारों पुत्र मारे गये। तब हलकारों ने खबर दी कि-हे राजन्! आपके कुँवर इस लड़ाई में मारे गये, इस प्रकार के वचन सुन के राजा को बड़ा भारी शोक हुआ और हाहाकार शब्द करने लगा।

इतने में राजा की निद्रा खुल गई और नेत्र उघड़ते ही उसे बड़ा विस्मय हुआ और सोचने लगा-'किसका राज और किसके पुत्र ? देखो, मैं वृथा ही मोह को प्राप्त हो गया था। उसी समय मंत्रियों ने आके राजा से कहा-'हे राजन् आपके कुंवर ने तो अपने कर्म भोग की समाप्ति की, राजा इस प्रकार मंत्रियों के वचन सुन के सब को अपने पास बिठा कर कहने लगाः-'हे मंत्रियो! तुम सब धैर्य रखो, मैं तुम्हारे से एक गाथा सुनाता हूँ, तुम चित्त लगाकर सुनना, वह गाथा-इस दुखरूप संसार से वैराग्य के कराने वाली है और उसे सुनके तीन लोक की संपदा मृग तृष्णा के जलवत् भासेगी, और वह शोक मोह को दूर करने वाली तथा आनन्द की देनेवाली है वह गाथा इस प्रकार हैः—

अभी थोड़ी देर पहिले मैं सोता था उस समय मुझे स्वप्न हुआ जिस में मेरे को इस राज से चौगुना राज प्राप्त हुआ, और यह भी देखा कि-बड़ी चतुरंगिनी सेना और बड़े २ शूरवीर सेनापति

और अनेक प्रकार के कोष-खजाने आदि विभूतियाँ हैं और चन्द्रमा के समान मुख जिनके ऐसी मन को मोहने वाली अनेक रानियाँ हैं, और चार-पुत्र सर्व गुण संपन्न, रूपवान् और जवान उमर वाले हैं जिनके देखने से मेरे को बड़ा आनन्द होता था। इस प्रकार की महान् विभूति के साथ मेरे को चिरकाल व्यतीत हो गया और ऐसा भी मालूम होता था कि, मेरे बाप, दादा सभी राज करते आये हैं, और आगे हमारे पुत्र और पौत्र भी राज करेंगे। हे मंत्रियो! एक क्षण मात्र के स्वप्न में मैंने बहुत काल स्थाई देखा।

दैवयोग से मेरे उस राज में उपद्रव हो गया और बड़ा भारी संग्राम हुआ, उसी युद्ध में मेरे बड़े २ शूरबीर मारे गये और मेरे चारों-पुत्र भी युद्ध में अपनी २ सेना लेकर चढ़े और युद्ध करने लगे। बहुत बात अब क्या कहें-वे चारों कुंवर भी मारे गये। तब हलकारों ने आके कहा- हे पृथ्वीनाथ ? आपके कुंवर युद्ध में मारे गये हैं ? ये वचन सुनके मेरे को बड़ा भारी शोक हुआ, और हाहाकार शब्द करने लगा इतने में मेरी निद्रा खुल गई।

तब मैं बड़े विस्मय को प्राप्त हुआ और अपने चित्त में विचार कर ही रहा था कि, तुमने आके मेरे से कहा कि-तुम्हारे पुत्र ने अपने कर्म भोग की समाप्ति की है। अब मैं तुम्हारे से यह बात पूछता हूँ कि-उस राज और चारों पुत्रों को रोऊं ? अथवा-इस एक पुत्र को रोऊं ? सो तुम मेरे को बताओ। मंत्री कहते हैं-

''हे राजन् ! वह तो स्वप्न की सृष्टि झूठी है, और यह जाग्रत का सच्चा जगत् है । उसका क्या शोच करना है शोच करने के योग्य तो यह जाग्रत् के भोग्य पदार्थ होते हैं, स्वप्न के पदार्थों का कौन शोच करता है'' मंत्रियों की यह वार्त्ता सुन कर राजा बोला—

''हे मन्त्रियो ! तुम इस मूर्खता के मोहल्ले में आके काहे को इसको सच्चा कहते हो ? और उसको झूठा कहते हो? अरे, मूर्खो ! यह मनुष्य शरीर तुमको मिला है, इसमें कुछ विचार करके देखो, यह तो सभी झूठा है । विचार यही है कि-इस जीव ने अपने गले में आपही फांसी डाल रखी है, क्योंकि-आत्मा तो सदा अकर्ता है, परन्तु-अनात्म अन्तःकरण से मिलके; भ्रांति से अपने में कर्तापन आरोपण करके, कायिक, वाचिक, मानसिक, तीन प्रकार की क्रिया का अभिमान करने लगा,-इससे दो प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म कर्म हुवे।

जब जीव को स्थूल-कर्म भोग देने को सन्मुख होते हैं, तब इसे कर्म के बस होके जाग्रत अवस्था होती है । ऐसी दशा में जो स्थूल पसारा है उसको सत्य जानता है । और जिस काल में सूक्ष्म-कर्म भोग देने को सन्मुख होते हैं, उस काल में जाग्रत अवस्था का विस्मरण हो जाता है, और कर्मों के बस होकर स्वप्न की सूक्ष्म सृष्टि सत्रूप भासने लग जाती है; और जाग्रत की सृष्टि

वहां पर नहीं रहती, इससे जाना जाता है कि-यह भी झूठी है। और जब स्वप्न से कर्मों के आधीन जाग्रत होता है, तब स्वप्न के पदार्थों का अभाव हो जाता है, अर्थात् झूठे मालूम होते हैं।

हे मंत्रियों ! तुम अपने चित्त में विचार करके देखो, इनमें कौन सत्य है ? ये तो सभी मृगतृष्णा के जलवत् हैं, और तुम अपने चित्त में विचार कर देखो-अज्ञानरूपी निद्रा में जगत्-रूप स्वप्न भासता है, इसके दूर करने के वास्ते तुम ज्ञान-रूप जाग्रत-अवस्था प्राप्त करो, तब तुम्हारे विचार-रूपी नेत्र खुलेगें और तुमको मालूम होगा कि-'ये दोनों ही 'मन के स्पंद' हैं। यह मन भी जल के बर्फ के टुकड़े के समान है, जो ज्ञान-रूपी सूर्य भगवान् के उदय होने पर पिघल जाता है; फिर वही जल होके बहने लगता है; ऐसी दशा में वह चेतन रूप ही भासता है।

इसलिये हे मंत्रियो ! ज्ञानरूपी सूर्य की उपासना करो, जिससे तुम्हारी जगत् की सत्तारूपी ठण्ड दूर होगी, सूर्यरूपी आत्मा का प्रकाश होगा, तब तुम्हारी मूर्खता इस प्रकार चली जावेगी जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है। देखो यही अन्धकार हैं-

स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीनों शरीर, और जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति ये तीन अवस्था; और विश्व, तेजस, प्राज्ञ इन तीनों के अभिमानी तीन जीव, और तीन शरीरों में अन्नमयादिक पंचकोश इनमें और इन सबों के जो धर्म हैं-कर्ता, क्रिया, कर्मपना, और जो इनमें

अहंकार है सो ही अन्धकार है । और जब तुम इनको साक्षी रूप होके देखोगे कि-जिस काल में विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा समाधान, उपरति तितिक्षा और श्रवण, मनन, निदिध्यासन, और 'तत्-त्वं' पद का शोधन करोगे, तब तुम्हारे को परिपूर्ण आत्मा ही भासेगा, और तुम्हारे शोक, मोह, सब नष्ट होय जावेंगे । हे मंत्रियो ! यह सारा ही स्वप्न है, इसमें किसी का रोना और शोक करना वृथा है, क्योंकि-सब जीव अपने कर्म-भोग के अनुसार जन्मते हैं और मरते हैं, इस बात को समझ के यथा योग्य कार्य को करो ।

हे शिष्य ! इस प्रकार पूर्व के संस्कारों से राजा को ऐसा बोध उत्पन्न हुआ और सब मंत्रियों को उपदेश करके वह शोक मोह से रहित होके अपने स्वरूप में स्थित हुआ । वह स्वरूप कैसा है ? शान्त है, निर्विकार है, चेतन है, परमानन्द है, अजन्मा है, अविनाशी है और सत्-रूप है । उसी चेतन आत्मा की सत्ता का सब पदार्थों में अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होके सारे पदार्थ सत्य जैसे भासते हैं, परन्तु-इसमें कोई भी सत्य नहीं है; क्योंकि-अविद्या कृत होने से ये तो सारे ही भ्रम रूप हैं, एक तू ही सत्य रूप है, और सर्व देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है, क्योंकि जिस पदार्थ का देश से अंत होता है, उसका काल से भी अन्त होता है, उसका वस्तु से भी अंत होता है। जैसे घट, पट, आदिक पदार्थ देश, काल वस्तु से अंतवाले हैं इसी से असत् हैं, और

तू चेतन-आत्मा देश-कालादि के परिच्छेद से रहित है; इसी से तू सत् रूप है ।

शिष्य प्रश्न करता है ।

हे भगवन् ! आपने मेरे को सत्, चित्, आनन्द रूप कैसे कहा ? मैं तो जन्मता हूँ और मरता हूँ, पुण्य-पाप करता हूँ, और उनके फल सुख-दुख को भोगता हूँ, और भी अनेक प्रकार के जीवत्व-धर्म मेरे में भासते हैं, इससे मैं तो असत्, जड़, दुखरूप हूँ। और ब्रह्म को तो सच्चिदानन्द रूप हमने आप जैसे महापुरुषों के मुख से सुना है। 'मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ' यह वार्ता मैं किस प्रकार जानूं? वेद ने भी इस जीव को मोह्यमान और अनीश ही कहा है। इस कारण जीव विरुद्ध-धर्मवाला होने से सच्चिदानन्द रूप नहीं है, जैसे-कोई मलिन कर्मों के करने वाले हैं और कोई शुद्ध आचरण से रहने वाले हैं, इन दोनों प्रकार के पुरुषों की एकता कैसे बनेगी ? नहीं बनेगी । यदि तुम ऐसा कहो कि ''भाग-त्यागलक्षणा से इनकी एकता बनती है'' सो तुमने अंगीकार की नहीं; इससे किसी रीति से भी जीव को सच्चिदानन्द कहना बनता नहीं ।

पूर्व आपने यह भी कहा था 'भागत्यागलक्षणा करके देखेगा तब तेरे को मालूम होगा,' और फिर आगे आपने-'सर्ववृत्तियों का निषेध कर दिया है', इसमें हम कौनसी बात को अंगीकार

करें ? हमको तो गवोला मालूम होता है, आप हमें समझा कर कहो ।

गुरुरुवाच—

यद्यपि यह वार्ता हमने पूर्व कही थी, परन्तु तेरी समझ में गलती है सो सुन, हमने जो लक्षणा-वृत्ति कही थी सो कोई आत्मा के प्रकाशने में नहीं कही है। हमारा कथन यह नहीं था कि-'लक्षणा वृत्ति से आत्मा का प्रकाश होता है' ऐसा नहीं समझना। क्योंकि-वृत्ति का तो पदार्थ के आवरण दूर करने में सामर्थ्य है; पदार्थ के प्रकाश करने में सामर्थ्य नहीं है, तब वह आत्मा के प्रकाश करने में कैसे सामर्थ्य होगी ? इसी वास्ते यह बात कही थी कि-तेरे को आपही मालूम हो जावेगा कि, 'आत्मा किसी भी वृत्ति का विषय नहीं है' क्योंकि-वह स्वयं-प्रकाश है। इसी से वृत्ति आदिक जितने जड़-अनात्म पदार्थ हैं; सो सब आत्मा में कल्पित हैं। उन कल्पित वृत्ति आदिकों से आत्मा का प्रकाश कहना बने नहीं; क्योंकि-वे जड़ हैं।

और जो तुमने कहा था कि-'जीव तो जन्म मरण से आदि लेकर ब्रह्म से विरुद्ध धर्म वाला है; उसकी ब्रह्म से एकता बने नहीं, और भागत्यागलक्षणा मानी नहीं-इससे भी जीव को सच्चिदानन्दरूपता बने नहीं' यह जो तेने कहा है सो सारा ही सिद्धान्त के अज्ञान से कहा है, क्योंकि-सिद्धान्त में आत्मा से

भिन्न सर्व अनात्म-वस्तु आत्मा में कल्पित होने से रज्जू के सर्प की तरह सर्व कल्पना मात्र हैं। जैसे-रज्जू में जो सर्प प्रतीत होता है, सो केवल जेबरी के अज्ञान से प्रतीत होता है, उसके दूर करने को कौन सी वृत्ति आवश्यक है ? किसी भी लक्षणा वृत्ति की जरूरत नहीं है। केवल रज्जू के ज्ञान से सर्प भ्रम निवृत्त हो जाता है। तैसे ही वृत्ति और उपादान-कारण अंतःकरण और अज्ञान और नाना प्रकार के विषय और उनका प्रकाश जितना कि-ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी समाज है सो सारा ही आत्मा के अज्ञान से तेरे को भासता है, सो सारा आत्मा के ज्ञान से निवृत्त होगा, और प्रकार से नहीं । लिखा भी है-

भ्रान्त्या प्रतीतः संसारो विवेकान्नास्ति कर्मभिः ।
रज्ज्वामारोपितः सर्पो घन्टाघोषन्निवर्त्यते ॥

जो वस्तु जिस के अज्ञान से प्रतीत होती है; सो उसी के ज्ञान से ही दूर होती है, और किसी भी वृत्ति आदिक की अपेक्षा नहीं। यदि तू ऐसा कहे कि-'अधिष्ठान का जो ज्ञान है और कल्पित की निवृत्ति का जो ज्ञान है; सो भी तो किसी वृत्ति से ही होता है' तो यद्यपि तेरा यह कहना दुरुस्त है; क्योंकि शास्त्रकारों ने प्रमा, अप्रमा और स्मृति, तीन प्रकार की वृत्ति मानी है, परन्तु-इनका विषय जो ज्ञान है, सो सब अनात्म ही कहा जाता है, आत्मा को तो किसी ने भी किसी वृत्ति का विषय नहीं कहा, और तुम

अपने अनुभव से देखो-शुद्ध आत्मा किसी भी लक्षणा आदिक वृत्ति का विषय नहीं है, क्योंकि-वाच्य और वाचक-भाव और लक्षण-भाव तुझ शुद्ध आत्मा में हैं नहीं, इसलिये ''किसी वृत्ति से आत्मा का ज्ञान मेरे को होगा'' यह इच्छा छोड़कर तू अपने आप विचार के देखेगा; तब तेरे से जुदा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय कुछ भी नहीं मिलेगा। इसी बात पर तेरे को एक-

(३)

'रुपया, चोर, राज, न्याय'

सुनाते हैं, सो यह है कि-एक मनुष्य ने किसी का एक रुपया चुरा लिया था। जिसका रुपया चुराया उसने अपने मन में विचार किया कि-'आज के दिन अमुक मनुष्य से मिलाप हुआ था, उसने हमारा रुपया लिया है'। तब वह उसके पास जाके कहने लगा कि-भाई ! हमारा रुपया तुमने लिया है सो देदो'। उसने जवाब दिया कि-'हमने तो नहीं लिया'। तब उसने राज में जाके एक कच्चा सवाल दे दिया। फिर मुद्दई और मुद्दाइलेह से इन्साफ करने वाले ने पूछा-'तुम्हारा क्या झगड़ा है' ? मुद्दई कहने लगा कि-इसने मेरा माल चुराया है।

इंसाफ करने वाले ने कहा-'तेरा क्या माल चुराया है?' तब उसने कहा-'एक रुपया था, और दो अठन्नी, और चार चुअन्नी

और आठ दुअन्नी, और सोलह आने और बत्तीस अधन्ने, और चौंसठ पैसे, इतना माल इसने मेरा चुराया है'। जब इंसाफ करने वाले ने चोर से कहा-अरे तू ने इसका इतना माल चुराया है ? तब वो चोर मुद्दई से कहने लगा-'अरे भलेमानस ! तेरा तो एक ही रुपया था, इतना माल मैं कहाँ से दूंगा'। मुद्दई ने कहा कि-अच्छा तुम एक ही रुपया देओ, हम राजीनामा लिख देंगे। उसने कहा-'बहुत अच्छी बात, यह अपना रुपया लो'। तब उसने ले लिया; और इन्साफ करने वाले से कहने लगा-'हुजूर ! हम तो राजी हो गये'। इन्साफ करने वाले ने पूछा-'तुम कैसे राजी हुवे ?' तब मुद्दई ने कहा-'एक रुपया लेकर राजी हो गये'। इंसाफ करने वाले ने कहा-तुम बड़े बेईमान हो ! तब मुद्दई ने कहा-कैसे ? न्याय कर्ता ने कहा कि-'तुम्हारा एक ही रुपया था; फिर इतना माल काहे को लिखवाया था ? इससे तुम बेईमान हो'। तब वह कहने लगा कि-'हुजूर ! आप विचार करके देखो, वह तो सारा ही इसी के अन्दर है'; मुद्दई ने इंसाफ कर्ता के आगे रुपये से आदि लेकर पैसे पर्यंत सारा माल उस रुपये में ही बता दिया, तब इंसाफ कर्ता ने कहा-ठीक है।

यह तो दृष्टान्त है, दार्ष्टान्त यह है कि-तेरा मन है यही रुपया है, जितना यह जगत् और बंध-मोक्ष से आदि लेकर संसार का विस्तार है; सो सारा तेरे मन के ही अन्दर है। जैसे वह रुपया

नाम है सो भी रजत धातु में कल्पना मात्र है, वैसे ही जो मन नाम है सो भी तुझ चेतन आत्मा में मन की ही कल्पना है, सब चेतन का ही चमत्कार है। जैसे रुपया और उसका विस्तार सब रजत रूप है; वैसे ही मन और मन का विस्तार सब चेतन स्वरूप है।

तू विचार करके देख-जितने घट हैं सो सारे मृतिका से भिन्न नहीं होते-सब मृतिकारूप ही होते हैं, जितने सुवर्ण के आभूषण होते हैं सो सब सोना ही होते हैं, और जितने लोहे के विवर्त-हथियार आदिक-होते हैं सो लोहे से भिन्न नहीं होते हैं, सब लोहा ही होता है, और घट, आभूषण, हथियार, आदि नाम मृत्तिका, सुवर्ण, और लोहे में कहीं भी नहीं मिलते, केवल पुरुषों की कल्पना मात्र से ही हैं। जिसको सुवर्ण भासता है उसको आभूषण नहीं भासता है। और जिसको आभूषण भासता है उसको सुवर्ण नहीं भासता है। परन्तु-जिस पुरुष की सुवर्ण में भूषण-बुद्धि है; सो पुरुष यथार्थ-दर्शी कहलाता है। इसी पर तेरे को एक-

(४)

"बाबा, ठाकुर, सराफ़ न्याय"

सुनाते हैं, इसको जब तू चित्त लगा के सुनेगा; तब तेरे को सुवर्ण स्थानी एक आत्मा ही भासेगा, और भूषण स्थानी नाना भाव सब दूर हो जावेंगे, सो अब कहते हैंः—

एक बाबा ने जवान अवस्था में देश देशांतरों में घूम के बहुत

सा रुपया इकट्ठा किया और ठाकुर पूजा भी रखता था। जवान अवस्था में उस रुपैये और ठाकुरजी का कुछ बोझा मालूम नहीं होता था, वह उन्हें उठा कर घूमा करता था। परन्तु-फिर काल पाके जब वृद्ध अवस्था आई तब वह बोझा तोकने लायक नहीं रहा। बाबा ने अपने मन में विचार किया कि-बोझे को हल्का करना चाहिये ! तब सब रुपैयों का सोना खरीद के सोने के ठाकुरजी बनवालिये, और सोने ही का सिंहासन बनवाया, और जो पहिले पत्थर के ठाकुर जी थे सो गंगा में प्रवेश कर दिये; और वह एक स्थान में रहने लगा; और एक चेला भी सेवा के वास्ते मूंड लिया।

जब इस प्रकार कर के शरीर के कर्मों का अंत हुआ, तब शरीर शांत हो गया। फिर चेले ने अपने मन में विचार किया कि-गुरु महाराज का भण्डारा करना चाहिये, नहीं तो हमारे भेष के लोगों में निरादर होगा। इस प्रकार सोचकर वह ठाकुर जी को और सिंहासन को सराफ के यहां लेजा के कहने लगा कि-'भाई इस ठाकुर जी को और सिंहासन को बेचता हूँ' तब उन दोनों को सराफ ने कांटे पर रख के कहा कि-सौ रुपये के तो ठाकुर जी हैं और चार सौ का सिंहासन है। चेले ने कहा-अरे तू क्या बकता है, ठाकुर जी तो सौ रुपयै के हैं और सिंहासन चार सौ का है ? तेरी अकल को क्या कोई ले गया है ? कहीं

ऐसा भी होता है ? सराफ ने कहा कि-महाराज ! मैं तो सोने का मोल करता हूँ, ठाकुर जी और सिंहासन तो तुम्हारी ही दृष्टि में हैं, मैं तो सुवर्ण ही देखता हूं, मेरे को तो कहीं भी इसमें ठाकुर और सिंहासन मालूम नहीं होता है ।

दार्ष्टान्त-यह है कि जब तू अन्दर से आकार दृष्टि को मिथ्या जान के दूर करेगा, तब तेरे को सत्‌चित्‌ आनन्द रूप एक आत्मा ही परिपूर्ण भासेगा, जैसे-उस सराफ को एक सुवर्ण ही भासता था । इसी का नाम 'दृष्टि-सृष्टि बाद' कहा है, जिसका और भी विवेचन करने में आता है । बाल्मीकि ऋषि ने वाशिष्ट नाम महा रामायण में यही मुख्य सिद्धान्त रखा है ।

दोहा- दृष्टि सृष्टी बाद का, सुन लीजे शिष भेद ।
द्वैत विलय होजाय है, दूर होय सब खेद ।।

'दृष्टि-सृष्टि-बाद' के तीन भेद हैं, सो तू जब एकाग्र होकर सुनेगा, तब तेरा द्वैत रूप दुख विलय हो जावेगा, अर्थात्-जैसे अग्नि में धूम निकलता हुआ मालूम होता है, परन्तु-वह आकाश में लीन हो जाता है, तब जाना नहीं जाता कि कहाँ गया । तैसे ही जब तू इस उत्तम सिद्धान्त को धारण करेगा, तब तेरा धुआंरूपी द्वैत आकाश रूप आत्मा में लय हो जावेगा, फिर तेरे को सर्वत्र एक आत्मा ही भासेगा । जैसे उल्लू को अंधेरा ही भासता है ।

'दृष्टिरेव सृष्टिः' दृष्टि से तात्पर्य कहिये 'नेत्र की वृत्ति' का है। जब तक नेत्र का विषय पदार्थ है; तब तक ही पदार्थ है, जब नेत्र की वृत्ति का विषय नहीं है, तब पदार्थ भी नहीं है—यह मत कनिष्ठ है। क्योंकि-जब तक नेत्र का विषय पदार्थ है, तब तक द्वैत है, इसी के 'कनिष्ठ' कहा है।

दूसरा-मत जो समझा जाता है इस प्रकार है-'दृष्टिरेव सृष्टिः' से यहाँ तात्पर्य दृष्टि कहिये 'अंतःकरण की वृत्ति से है। जब तक अन्तःकरण की वृत्ति का विषय पदार्थ है, तब तक पदार्थ की साक्षात् सत्ता रहती, इस में भी द्वैत बना रहता है, इसी से यह मत 'मध्यम' कहलाता है।

तीसरा-मत जो उत्तम कहा जाता है सो दिखाते हैं-'दृष्टिरेव सृष्टिः' अर्थात्-दृष्टि कहिये 'जो चेतन-आत्मा है, सो ही सृष्टि रूप होके भास रहा है' इस प्रकार समझ के जब तू इस उत्तम दृष्टि को धारण करेगा; तब तेरा द्वैत-भाव नष्ट हो जावेगा, और एक अद्वैत ही तेरे को भासेगा। परन्तु-अद्वैत भी फिर तेरे को अपने स्वरूप में कल्पित ही प्रतीत होगा। तब तू आपही जान लेगा कि ''सुखादिक आत्मा के स्वरूप ही हैं, क्योंकि-आत्मा में अनात्म-वस्तु कल्पित होने से वह आत्मा का स्वरूप ही है, वास्तव में मैं चेतन आत्मा सदा ही सुख रूप हूं और जो मेरे को सुख की इच्छा हुई थी, सो तो केवल भ्रांति करके हुई थी'' हे शिष्य !

तू इस उत्तम सिद्धांत को धारण कर, तू तो सदा शुद्ध-स्वरूप, सर्वगुण और धर्मों से रहित है।

इस प्रकार से गुरु ने समझाकर कहा; तब शिष्य सविनय कहता है-'हे भगवन् ! शुद्ध आत्मा में कोई धर्म नहीं भी हो, परन्तु-विशिष्ट आत्मा में तो सुखादिक धर्म होंगे, क्योंकि-'अहं सुखी' 'अहं दुःखी', ऐसी प्रतीति किसको होती है। सो आप हमको बताइये। और जो आप ऐसा कहो कि-अंतःकरण में होती है; तो यह कहना बने नहीं, क्योंकि-अंतःकरण को जड़ भी कहा है, परन्तु-जड़ पदार्थ में सुख दुःख की प्रतीति कहना बने नहीं; क्योंकि-जड़ पदार्थ में जो सुख-दुख का भान हो, तो घटादिक में भी होना चाहिये? सो होता नहीं, इसी से जाना जाता है-ये चेतन ही के धर्म होंगे !

यदि आप साक्षी आत्मा में इस प्रकार धर्म होना कहो तो; वह उचित नहीं होगा; और न विशिष्ठ में कहना ठीक होगा, क्योंकि-जो धर्म अंतःकरण में नहीं है और न साक्षी आत्मा में है, वे उनके मिलाप में कहाँ से होंगे ? होना नहीं चाहिये; किन्तु-दुख-सुख प्रत्यक्ष में होते हैं ? सो कैसे होते हैं ? जो धर्म जिन पदार्थ में नहीं है, वह उनके मिलाप में कैसे आवेगा ? यदि पान सुपारी कत्थे में रक्तता न हो तो उनके मिलाप में कहाँ से आवे ? तैसे

ही अंतःकरण और आत्मा में सुखादिक नहीं हों तो उनके मिलाप में कैसे होंगे? हे प्रभू ! यह बड़ा भारी सन्देह मेरे को प्राप्त हुआ है, आप कृपा कर के इसे निवारण कीजिये'' ।

गुरु कहते हैं—हे शिष्य ! तूने अच्छा प्रश्न पूछा है; क्योंकि-इस बात को तो मैं भी भूला ही था; तैंने स्मरण करवाया है । अब तू चित्त लगाकर श्रवण कर । यद्यपि— अंतःकरण तो जड़ है; और सुखादिक प्रतीत होते हैं; सो कैसे ? सुन-पूर्व जन्मों में जो नाना प्रकार के कर्म किये हैं; सो सभी अंतःकरण विशिष्ट में ही हुवे हैं; और अंतःकरण विशिष्ट में ही सुख दुख की प्रतीति होती है, क्योंकि-जो कर्ता है सो ही भोक्ता है, और जो कर्ता नहीं होता है, सो भोक्ता भी नहीं होता है ।

शुद्ध-चेतन इस अनुमान से जाना जाता है कि-अन्तःकरण विशिष्ट जीव-चेतन में ही सुख दुःख का भान होता है, क्योंकि-जैसे घट में जल का आनयन रूप जो कार्य होता है; सो केवल घट में नहीं होता है, और केवल आकाश में भी नहीं बनता है, उन दोनों का जो औपाधिक संबंध है; उसमें ही पाँच सेर और दस सेर संख्या का व्यवहार होता है । केवल आकाश में भी पाँच सेर कहना बनता नहीं, और केवल मृत्पिंड में भी पाँच सेर की संख्या की जाती नहीं, उनका जो औपाधिक संबंध है, उसमें ही

कहना होगा, क्योंकि-कार्य-अनुमिति से जाना जाता है कि-दोनों के मिलाप में ही व्यवहार होता है ।

इसी प्रकार दुःख सुख रूप कार्य की प्रतीति होने से जाना जाता है कि अंतःकरण विशिष्ट में ही सुख दुःख का भान होता है। और तैने कहा था कि-'जो धर्म दोनों पदार्थों' में नहीं होता है; सो उनके मिलाप में कैसे होगा।' सो भी नियम नहीं बनता क्योंकि-विचार कर देखो, जैसे धूम्र केवल लकड़ी में नहीं होता है, और न केवल अग्नि में होता है, परन्तु-जब दोनों मिलते हैं, तब धूम्र की प्रतीती होती है। अब तू देख-इनमें से किसमें धुवाँ था ? ऐसे ही हस्त की दोनों तालियों में शब्द नहीं है, परन्तु-जब दोनों मिलते हैं तब शब्द होता है ।

हे शिष्य ! इस प्रकार समझके देख-यदि तुझे ऐसा दिखाई देता हो, तो अंतःकरण विशिष्ट में समझ ले, और नहीं तो पूर्व हमने 'दृष्टि-सृष्टि वाद' में जो 'उत्तम दृष्टि' कही थी उसी को धारण कर; और जो 'अंतःकरण-विशिष्ट-बाद' पूर्व कथन किया है; सो तेरे प्रश्न के उत्तर देने के वास्ते है; जिससे तेरी भ्रांति दूर होवे। तुझ चेतन में जैसे और सर्व धर्म कल्पित हैं, वैसे ही विशिष्टपना और शुद्धपना भी सब कल्पित ही है। यदि तू ऐसा कहे कि-'जो कुछ भी कल्पित है सो कल्पना मात्र ही है'', उस से कोई भी कार्य होता नहीं, जैसे स्थंभ में पिशाच का भ्रम

होता है; सो वह कल्पना मात्र पिशाच किसी के बालक को मारता नहीं है, और रज्जू में कल्पना मात्र के सर्प से रज्जू विष वाली नहीं होती है। ऐसे ही जो तुझको आत्मा में अनात्मा का अध्यास हुआ है सो तेरे आत्मा में कुछ भी हानि नहीं कर सकता, किन्तु-यह अध्यास ही तेरे को दुख का देने वाला है। इस पर तुझ को एक-

(५)

'रूई पिंजारा न्याय'—

सुनाते हैं, सो तू जब इसको मन लगा कर सुनेगा; तब तेरा यह अध्यास ढूंढने से भी नहीं मिलेगा, और तेरे को शान्तरूप एक आत्मा ही भासेगा, तू सावधान हो के सुन-

एक पिंजारा चला जाता था,उस समय किसी मण्डी में उसने रूई का बहुत भारी गंज देखा, तब उसको ऐसा शोच हुआ कि-यह 'तो सारी मुझको ही पीजनी पड़ेगी' वह रात और दिन इसी फिकर में रहने लगा; और ऐसी भारी चिन्ता के मारे उसका शरीर सूखकर कमजोर हो गया; और चलने फिरने के लायक न रहा। तब किसी पुरुष ने उस पिंजारे से पूछा-'अरे भाई ! तू किस चिन्ता में रहता है ? किस दुख के कारण तेरा शरीर कृश हो गया है ? सो बता तो सही', पिंजारे ने उत्तर दिया कि-'वह सारी रूई मेरे को ही पीजनी पड़ेगी,' तब वह पूछने वाला बोला-'अरे भाई!

तू ऐसा फिकर कुछ भी मत कर; वह तो अग्नि लग के सारी भस्म हो गई है' । यह सुन उस पिंजारे ने कहा-क्या सच्ची बात है ? तब वह कहने लगा-'अरे झूठ बोलकर हमें कुछ तेरे से लेना है ? वह तो परसों के रोज भस्म हो गई' । तब इस प्रकार उस पुरुष के वचनों को सुन के पिंजारे का अध्यास निवृत्त हो गया। इसी प्रकार तैने आत्मा में अनात्म अन्तःकरण के सुख दुखादिक धर्म आरोपण करके 'मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ' ऐसा जो मान लिया है इसी का नाम 'अध्यास' है ।

वास्तव में ऐसा सभी को होता है तथापि-ज्ञानवान् और अज्ञानी के अध्यास में सामान्य और विशेष की जिस प्रकार विलक्षणता होती है सो दिखाते हैं-ज्ञानवान् व्यवहार दशा में 'अहं सुखी अहं दुःखी' ऐसे शब्दों को उच्चारण करता मालूम होता है, परन्तु उसने जो चेतन आत्मा को अपना स्वरूप जाना है, सो सर्व दुख सुख आदि से रहित, असंग है-ऐसा उसका दृढ़ निश्चय होने से ज्ञानवान् का अध्यास सामान्य होता है जिससे वह जन्मों का कारण नहीं होता है । अज्ञानी को ऐंसा अकर्ता रूप करके आत्मा का ज्ञान है नहीं,-इसी कारण अज्ञानी को विशेष अध्यास होता है जो जन्मों का कारण होता है ।

शिष्य प्रश्न करता है-हे भगवन् ! अध्यास कितने प्रकार का होता है ? सो आप कृपा करके कहो, क्योंकि भली प्रकार

से वस्तु का स्वरूप जाने बिना ग्रहण और त्याग होता नहीं, इसलिये अध्यास के भिन्न २ स्वरूप कथन करो'। इस प्रकार सुनके गुरु कहते हैं-'हे शिष्य ! अध्यास का स्वरूप और भेद हम कहते हैं, तू चित्त लगाकर श्रवण कर। अध्यास दो प्रकार का होता है, एक तो 'अर्थाध्यास' और दूसरा 'ज्ञाना-ध्यास' होता है। इनमें अर्था-ध्यास के और भी बहुत भेद हैं। कहीं-केवल 'संबंधी अध्यास' होता है और कहीं 'संबंध सहित सम्बन्धी का अध्यास' होता है, कहीं केवल धर्मा-ध्यास' होता है और कहीं 'अन्योन्या-ध्यास' होता है, और कहीं 'अनन्तरा ध्यास' होता है। सो भी दो प्रकार का होता है। एक तो 'संसर्गाध्यास' होता है, और दूसरा 'स्वरूपा-ध्यास' होता है। इतने अध्यास के भेद कहे हैं। और भी अनेक भेद हैं।

माया के पदार्थों का चिंतन करने से अंत नहीं है, उनको तो मिथ्या जानने से ही अंत होता है, बहुत गधे के बाल गिरने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, इसलिये जितना अध्यास क्रम है सो सब 'अर्था-ध्यास' और 'ज्ञाना-ध्यास' के अन्तर्भूत है। अध्यास का स्वरूप यह है कि-मिथ्या वस्तु और उसका ज्ञान दोनों को अध्यास कहते हैं, सो अध्यास और अध्यस्त वस्तु के अधिष्ठान के ज्ञान बिना और प्रकार से निवृत्ति होती नहीं।

यह सुन शिष्य शंका करता है-हे भगवन् आप कहते हो-

कि अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यास और अध्यस्त की निवृत्ती होती है। सो यह नियम बनता नहीं, क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान बिना भी अध्यस्त की निवृत्ति देखने में आती है। जैसे-किसी पुरुष को सर्प के मंद संस्कारों से रज्जू में सर्प भ्रम होके; उसके अन्तर फिर दंड के भी संस्करण हैं और वे तीव्र हैं, इससे पीछे दंड का ही भ्रम होगा, तब रज्जू के ज्ञान बिना ही, सर्प भ्रम निवृत्ति होगा, इसमें अधिष्ठान के ज्ञान की क्या जरूरत है। ऐसे ही आत्मा में कर्तापने का जो भ्रम हो रहा है सो आत्मा के अकर्तारूप ज्ञान से निवृत हो जावेगा तो फिर आत्मा को ब्रह्म रूप कर के जानना, इस ज्ञान की क्या जरूरत है ?" ऐसी शंका के करने पर-

गुरु कहते हैं-हे शिष्य ! यद्यपि विरोधी पदार्थ के ज्ञान से विरोधी पदार्थ की लय रूप निवृत्ति हो जावेगी, तथापि-अत्यन्त निवृत्ति होती नहीं। क्योंकि सर्प भ्रम तो निवृत्त हो गया है, परन्तु अधिष्ठान का अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ; इसी से फिर दंड का भ्रम हो जाता है। अधिष्ठान के ज्ञान बिना अत्यन्त निवृत्ति होती है नहीं। कारण सहित जो कार्य की निंवृत्ति है सो ही अत्यन्त निवृत्ति कही जाती है, जो केवल अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है और किसी प्रकार से होती नहीं। और जो तैंने कहा था कि-आत्मा का जो ब्रह्मरूप करके ज्ञान है उसकी क्या जरूरत है ? आत्मा के अकर्तापने के ज्ञान से आपही निवृत्ति हो जावेगी, सो तेरा कहना

बनता नहीं,क्योंकि कर्तारूप से जो आत्मा का ज्ञान है सो तो अकर्तापने के ज्ञान से लय रूप निवृत्ति को प्राप्त हो जावेगा, परन्तु-आत्मा को ब्रह्म रूप से नहीं जानेगा तब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। जब अज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई तो अकर्तापने का ज्ञान भी अध्यास रूप ही है, जैसे सर्प ज्ञान से डंड ज्ञान हो गया है, परन्तु-दोनों ही भ्रम रूप हैं।

तात्पर्य यह है कि-जब तक अधिष्ठान के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है, तब तक भ्रम की भी निवृत्ति नहीं हो सकती। दार्ष्टान्त में सर्व कल्पित वस्तु का अधिष्ठान आत्मा है, सो उसको ब्रह्म से भिन्न जानना अधिष्ठान का अज्ञान है, और ब्रह्म स्वरूप आत्मा को जानना ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान है। इस प्रकार आत्मा के यथार्थ ज्ञान से सर्व अध्यास और अध्यास का कार्य जो अध्यस्त पदार्थ है; इन सब की निवृत्ति होती है, इसी को अत्यन्त निवृत्ति कहते हैं। इसी पर तेरे को एक पद सुनाते हैं सो तू मन लगा के सुनः-

कहिं आना है नहीं जाना, यक मन का मैल मिटाना।
दरियाव की मौज्या देखो, दरियाव के बीच समाना ॥टेक॥

कर्ता बुद्धि को त्यागो, अब भर्म नींद से जागो।
तुम आतम पद से लागो, तज देउ विषय बिष खाना ॥१॥

जहां हिंसा नहीं अहिंसा, नहिं जाति वरन कुछ वंशा ।
कोई निंदा नहीं प्रशंसा, चहे कोई कुछ बको जमाना ।।२।।
जहां नहीं गायत्री संध्या, कोई मोक्ष हुआ नहिं वंध्या ।
आतम है सदा स्वछंदा, जहां नहीं ज्ञान अरु ध्याना ।।३।।
जहाँ नहिं मूला नहीं तूला, कभी कुम्हलाता नहिं फूला ।
कुछ जान अजान न भूला, वह ऐसा देश देवाना ।।४।।
जहां जीव ईश नहीं माया, कोई धर्म कर्म नहिं पाया ।
तुझ चेतन की सब छाया, यह स्वर्ग पाताल जहाना ।।५।।
जब गुप्त रूप को जाना, तब मिटा भेद भ्रम नाना ।
भई माया मलकी हाना, जब देखा एक समाना ।।६।।

—इस बात को अपने चित्त में विचार के आत्मा को एक समरूप जान, और जो पूर्व में सुख को आत्मा से भिन्न आत्मा का गुण तथा-आत्मा का धर्म रूप करके जाना था; सो वास्तव में आत्मा का स्वरूप ही जान। यदि तू ऐसा कहे कि-'सुखादिक किसी क्रिया से आत्मा को प्राप्त होते हैं' तो तेरा यह कहना बनता नहीं, क्योंकि-क्रिया करके अनात्म पदार्थ की ही प्राप्ति होती है, आत्मा तो सर्व व्यापी होने से नित्य ही प्राप्त है। और जो तू ऐसा कहे कि "नित्य प्राप्त की प्राप्ति, और नित्य निवृत्त की निवृत्ति वेदान्त शास्त्र में कही है, इसलिये प्राप्त की प्राप्ति बनती है", सो ठीक है।

परन्तु-तैने इस प्रकार के कथन का अभिप्राय समझा नहीं है।

जो वस्तु नित्य ही प्राप्त है उसकी फिर किस क्रिया से प्राप्ति होगी? उसका तो अज्ञात होना ही अप्राप्ति है, और ज्ञात होना उसकी प्राप्ति कही जाती है, यथार्थ में किसी से उसकी प्राप्ति नहीं होती है। और जो नित्यपद दिया है, उसको तू विचार के देख, जब तू इस प्रकार विचार करेगा, तब तेरी क्रिया-जन्य प्राप्ति की शंका निवृत्त हो जावेगी, सो विचार यह है जिस पर तेरे को एक-

(६)

"बच्चा-बाजार-पिता-न्याय"

सुनाते हैं-एक पुरुष अपने बच्चे को संग लेके बाजार की सैल करने गया था, उसने बाजार में गाड़ी घोड़े की बहुत सी भीड़ देख कर अपने मन में विचार किया कि-इस बच्चे को कोई चोट फेंट लगे नहीं। इसलिये उसने उस बच्चे को अपने कंधे पर बिठा लिया, और बाजार में घूमता रहा। वह अनेक प्रकार के कौतुक तमाशे देखता रहा और बाजार की अनेक वस्तु देख के उसका मन रुजू होने के कारण उसे उस लड़के का बिस्मरण हो गया, फिर उस पुरुष को ऐसा भ्रम हुआ कि लड़का तो कहीं बाजार में खो गया है।

तब वह उस लड़के को ढूंढने लगा और साराही बाजार उसने ढूंढा, परन्तु-वह बच्चा उसको कहीं भी नहीं मिला। ऐसी दशा में वह पुरुष हैरान होकर घर चला। जब घर के दरवाजे में घुसने

लगा तब उस बच्चे का शिर दरवाजे में टकराने से वह रोने लगा, उसका रोना सुनके पिता को उसी वक्त पुत्र की ज्ञात हो गई । अब तू इस बात को विचार कर देख, उस बच्चे की प्राप्ति किस क्रिया से हुई ? किसी भी क्रिया से नहीं हुई ? पूर्व में उस पुरुष ने अनेक क्रिया उसकी प्राप्ति के वास्ते की, परन्तु-किसी भी क्रिया से उस बच्चे की प्राप्ति नहीं हुई । जब वह पुरुष सर्व क्रिया को त्याग के निराश होकर अपने घर आया; तभी उसको अपने बच्चे की प्राप्ति हुई, यह तो दृष्टान्त है ।

दार्ष्टान्त यह है कि-जब तक तेरे को किसी कायिक, वाचिक, मानसिक क्रिया का अहंकार है कि-अमुक क्रिया करके आत्मा को सुख की प्राप्ति होगी, तब तक तेरे को कभी सुख की प्राप्ति नहीं होगी ।

जैसे-वह पुरुष जब तक ढूंढने की क्रिया करता रहा, तब तक पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई, जब वह निराश होकर अपने घर आया तब उसको पुत्र की प्राप्ति हुई । ऐसे ही तेरे को जो सुख प्राप्ति की इच्छा हुई है और उसके वास्ते नाना प्रकार की जो क्रिया करता है, जब तू इन सर्व से निराश होगा; और जो सच्चा आत्मारूपी घर है उसकी तरफ आवेगा; तब तेरे पुत्र स्थानी आत्म-स्वरूपी 'नित्य-सुख' की प्राप्ति होगी ।

परन्तु-वह तभी होगी; जब दरवाजा स्थानी जो 'सत् शास्त्र

और महात्मा का सत्संग है;' उसी में तू आवेगा, और तेरे ''अहं ब्रह्मास्मि'' ऐसी चोट लगेगी, तब तू उस बच्चे की तरह चिल्लावेगा कि-मैं ही चेतन आत्मा परिपूर्ण ब्रह्मरूप हूँ और अक्रिय हूँ, इसी से मैं सर्व धर्मों से रहित हूँ, और सभी धर्म और सभी क्रिया मेरे ही से सिद्ध होती हैं, और मेरे से कोई भी पदार्थ जुदा नहीं है। जब इस प्रकार समझेगा, तब तू जान लेगा कि-नित्यप्राप्ति जो कही है, सो केवल प्राप्त पदार्थ का ज्ञात कराने के वास्ते कही है; और किसी क्रिया से प्राप्त की प्राप्ति नहीं होती है।

जिस पदार्थ की किसी क्रिया से प्राप्ति होती है; सो पदार्थ अनात्म ही होता है; जैसे-घट-पटादिक पदार्थ हैं, ये सारे क्रिया जन्य होने से अनात्म ही हैं। जो पदार्थ किसी क्रिया से उत्पन्न होता है, सो नाशवान् ही है। यज्ञादिक कर्मों से स्वर्ग के भोग पदार्थ प्राप्त होते हैं, सो भी काल पा के नाश हो जाते हैं। यदि किसी क्रिया जन्य पदार्थ से आत्मा के सुख की प्राप्ति कहो; तो वह सुख भी नाश वाला ही होगा। वास्तव में वेद ने आत्मा को अक्रिय ही कहा है। उसमें किसी क्रिया का आरोपण करके उसको सुख की प्राप्ति कहना सर्वथा वेद और शास्त्र से विरुद्ध है। इस बात को सुन के शिष्य प्रश्न करता है:—

''हे गुरो ! वेद में दो प्रकार के कर्म कहे हैं, उनमें एक तो 'विधि' और दूसरा 'निषेध' कर्म कहा है 'इन दोनों में से निषेध-

कर्म का तो त्याग ही कहा है, और जो विधि-कर्म है सो करने के वास्ते कथन किया है। विधि-कर्म से सुख की प्राप्ति कही है। जीवात्मा से भिन्न और किसी को भी कर्म का अधिकार है नहीं, जीवात्मा ही कर्म का अधिकारी है। इसलिये जीवात्मा के सुख के वास्ते ही वेद ने कर्म का कथन किया है, सो कर्म किसी क्रिया से होता है। और आप कहते हो कि—'किसी भी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति होती नहीं।' इसमें तो आपका कहना ही वेद से विरुद्ध मालूम होता है, क्योंकि वेद ने कर्मों का जो कथन किया है; वह कथन जीवात्मा के सुख के ही वास्ते करने में वेद का अभिप्राय है। और जो किया-जन्य कर्म से सुख नहीं होता, तो वेद ऐसा कथन क्यों करता ? इससे जाता है कि-वेद का तो किसी के बहकाने में तात्पर्य नहीं है, वेदों को ईश्वर ने सर्व जीवों के भले के वास्ते ही उत्पन्न किया है'' । ऐसी शङ्का होने से—

गुरु कहते हैं- यद्यपि वेद ईश्वर ने जीवों के भले वास्ते ही उत्पन्न किये हैं, और विधि-निषेध दो प्रकार के कर्मों का कथन किया है, सो भी जीवों के कल्याण वास्ते ही है। परन्तु-अपनी बुद्धि में जो असम्भवनादिक दोष होने से वेद के वचनों का तात्पर्य समझ में नहीं आता है, इसी कारण विरोध मालूम होता है। क्योंकि-किसी स्थान में तो ऐसा कहा है कि 'जब तक जीवे तब तक कर्मों को ही करे'' और किसी जगह ऐसा भी कथन किया कि-

''कर्मणा बन्ध्यते जन्तुः'' (अर्थात्-कर्मों से जीव बन्धायमान होते हैं।) इस रीति से नाना प्रकार के वचनों को सुन के पुरुषों की बुद्धि में भ्रम हो जाता है। इससे न तो कर्मों का त्याग होता है, और न कर्मों के करने में चित्त की प्रवृत्ति ही होती है, उभयतः संशय में ही उमर बीत जाती है।

इससे प्रथम अपनी बुद्धि में जो 'असम्भावना' दोष है उसकी निवृत्ति करनी चाहिये। उसकी निवृत्ति बारम्बर शास्त्र के विचार ने; और महा पुरुषों के वचनों में विश्वास रखने से होती है। जब इस प्रकार महात्मा पुरुषों के वचनों को बारम्बार सुनेगा; और शास्त्र का विचार करेगा; तब जान जावेगा कि-'अधिकारी भेद से सारे ही वेद के वचन ठीक हैं'।

'विधि, निषेध' ये दो प्रकार के 'कर्म वेद ने कहे हैं। निषेध-कर्म से रोक के 'विधि-कर्म में लगाना और फिर सकाम को छुड़ा कर 'निष्काम विधि-कर्म' में लगाना; और जबतक अशुभ वासना दूर नहीं हो; तब तक निष्काम कर्म करना, और जब अशुभ वासना नहीं मालूम हो; तब निष्काम-कर्म को भी नहीं करना, किन्तु-'निष्काम-उपासना' को करना, और वह भी जबतक चित्त को स्थिरता नहीं दीखे तबतक करना; और जब 'विक्षेप-दोष' दूर हो जावे तब निष्काम-उपासना भी नहीं करना; और वैसी दशा में 'नित्य-अनित्य वस्तु का विचार' करना, और कुछ भी नहीं करना।

ऐसे ही विधि कर्म से लेकर ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त 'सोपान-कर्म' अर्थात्-अधिकार भेद से एक कर्म का त्याग और दूसरे का ग्रहण वेद ने कहा है। सो कर्म के कराने में वेद का तात्पर्य नहीं है; किन्तु-सर्व कर्मों को क्रमशः छुड़ाने में ही वेद का गूढ़ अभिप्राय है। क्योंकि-जिन कर्मों में अहंकार करके जन्म-मरण रूप नाना प्रकार के क्लेश प्राप्त होते हैं; उन कर्मों के दूर होने से ही दुःख की निवृत्ति होगी। कर्मों का नाश तीन प्रकार से होता है— (१) किसी ज्ञात में पाप हो जावे तो उसकी निवृत्ति 'विरोधी-कर्म' से होती है, जैसे 'प्रायश्चित-कर्म', (२) कर्म के भोगने से कर्म नाश होते हैं, जैसे 'प्रारब्ध-कर्म' और (३) 'ब्रह्मज्ञान' से सर्व 'संचित' और आगामी-'कर्म' नाश होते हैं।

इस प्रकार से 'क्रिया-जन्य-कर्म' का वेद ने जो कथन किया है-सो कर्म के ही नाश करने के वास्ते है। जैसे-किसी के भूत चिपट जाता है तब उसको बलिदान देकर निवृत्त करते हैं। परन्तु-जैसा प्रेत होता है वैसा उसका बलि होता है। इसी प्रकार इस जीव को 'कर्म-रूपी-भूत' लगा है, तो 'कर्म-रूपी बलिदान' देने से ही वह दूर होता है। और किसी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसा जो 'अक्रिय और सुखरूप' आत्मा है; उसको किसी क्रिया से सुख की प्राप्ति कहना संभव नहीं। परन्तु-जो तेरे को सुख प्राप्ति की इच्छा हुई है सो दोष

है, इसी से तेरे को 'अक्रिय-आत्मा में नाना प्रकार की क्रिया और कर्म' प्रतीत हुवे हैं ।

जैसे-किसी के 'नेत्र में दोष' होता है उसको आकाश में दो चन्द्रमा भासते हैं, इसी प्रकार किसी को 'पित्त-दोष' हो तो उसे सभी पदार्थ पीले प्रतीत होते हैं । वास्तव में दोष केवल नेत्र में ही है चन्द्रमा तो एक ही है-और सारे पदार्थ पीले नहीं होते हैं परन्तु-अपने नेत्र के दोष से पीले भासते हैं । फिर वह पुरुष दवाई करता है और आराम होने पर जो पदार्थ जैसा होता है वैसा ही भासने लग जाता है । वास्तव में दवाई से नेत्र का दोष ही दूर होता है; नेत्र में उस दवाई से सामर्थ्य नहीं बढ़ती है ।

तैसे ही 'अज्ञान-रूपी-दोष' से अपनी बुद्धि में ही कर्ता, क्रिया, कर्म भासता है, सो किसी दवाई से ही दूर होगा, और वह दवाई 'निष्काम-कर्म' है । उससे अन्तःकरण शुद्ध होता है । शुद्ध अन्तः-करण में विवेक, वैराग्य, आदि साधन उत्पन्न होते हैं । फिर श्रवण मनन, निदिध्यासन से 'असंभावना' और 'विपरीत-भावना' दूर होकर आत्मा का यथार्थ ज्ञान होता है । 'जैसा वस्तु का स्वरूप हो वैसा ही जानना' इसी का नाम ''यथार्थ-ज्ञान'' है ।

तात्पर्य यह है कि-जैसे दवाई की सामर्थ्य रोग के दूर करने में होती है, तैसे ही-जितनी साधनरूपी दवाई हैं-सो अज्ञानरूपी

रोग के दूर करने में तो समर्थ हैं; परन्तु-आत्मा को सुख को प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है । क्योंकि-आत्मा तो सदा सुख रूप ही है । जैसे-कपड़े में जो मैल होता है उसकी मल से ही निवृत्ति होती है, परन्तु-साबुन-रूपी-मल' से उस वस्त्र में सफेदी नहीं उत्पन्न होती है क्योंकि-'सफेदी तो वस्त्र का स्वरूप ही है' । कोई कहे कि-'जल को ठंडा करो' वह कौन वस्तु है जो जल को ठंडा करेगी ? वास्तव में जितनी वस्तु ठंडी मालूम होती है; सो सब जल ही से ठंडी होती हैं । इसी प्रकार पदार्थों में जो सुख की प्रतीति होती है सो सारा सुख चेतन आत्मा का है, फिर आत्मा को सुख की प्राप्ति कौन पदार्थ करायेगा । पदार्थ मात्र को वेद ने दुख रूप कहे हैं, यही वेद का गूढ़ अभिप्राय है, सो तैने समझा नहीं, जैसे एक वैरागी ने गुरु के उपदेश का अर्थ नहीं समझा था। इसी पर तेरे को एक—

(७)

"गुरू-शिष्य उपदेश न्याय"

सुनाते हैं सो यह है कि:-एक गृहस्थी को उसके पूर्व जन्म के उत्तम संस्कारों के योग से वैराग्य उत्पन्न हुआ, तब वह घर छोड़ कर चल दिया, और अपने कल्याण की इच्छा करके विचरने

तथा तीर्थ यात्रा करने लगा। एक दिन वह किसी वैरागी के मंदिर में जाकर ठहरा; तब मंदिर वाला वैरागी उससे पूछने लगा, 'तुम कहाँ से आये और कहाँ जाते हो ?' वह कहने लगा कि-''महाराज जी ! मैं तो ऐसे ही तीर्थ यात्रा में विचरता रहता हूँ, अपने घर का तो मैंने त्याग किया है, परन्तु मेरे को यह इच्छा बनी रहती है कि-इस जन्म मरण रूपी संसार-दुख से किसी प्रकार मुक्त होऊँ''। इस प्रकार सुन कर वे बाबाजी कहने लगे-'अरे ! यह तो तेरे को हम बता देंगे' । तब वह बोला कि-'महाराज बहुत अच्छी बात है, आप कृपा करके बताइये' ।

बाबाजी कहने लगे कि-''भाई ! तुम तीन काम करते रहो तो तुम्हारी मुक्ति हो जावेगी, वे तीन काम ये हैं-एक तो गऊ का गोबर थाप दिया करो, दूसरा काम-तमाखू को कूटकर मेरे को भर दिया करो, और तीसरा काम-गऊ के वास्ते हरी हरी घास जंगल से खोद लाया करो, इन तीन कामों के करने से तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा'' । तब वह पुरुष इस बात को सुन के उस बाबा का चेला होकर उसी मन्दिर में रहने लगा, और ये तीनों काम करने लगा। बहुत दिन व्यतीत होने पर वह अपने मन में विचार करने लगा कि-'ये काम तो हम अपने घर पर भी करते थे, जो इनसे कल्याण होता तो वहीं हो जाता ! महाराज ने कहा है सो कुछ समझ के ही कहा होगा !'' इस प्रकार विचार करता ही रहा!

फिर एक दिन वह बाबा गैया के वास्ते किसी तालाब के किनारे घास खोद रहा था, उस समय उसी तालाब पर कोई परमहंस महात्मा विचरते हुए चले आये। उन्होंने वहां स्नान किया; तब वह पुरुष उन महात्मा की तरफ देख रहा था। स्नान करके वे महात्मा उसी तालाब के किनारे, आसन लगा कर बैठ गये और गीता का पाठ करने लगे। जब वे पाठ कर चुके, तब वह मनुष्य उनके पास जा के 'जय सीताराम' कहता हुआ, वन्दना पूर्वक उनके समीप बैठ गया।

फिर वे महात्मा उससे पूछने लगे कि-'तुम कौन हो ?' उसने कहा कि-'महाराज मैं भी साधू हूँ' तब उन्होंने कहा कि-'बहुत अच्छी बात है'। वह मनुष्य कहने लगा कि-''महाराज ! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ, सो आप कृपा करके बताइये''। महात्मा ने कहा-'बहुत अच्छा आप पूछिये' तब वह कहने लगा कि-''महाराज, मेरे गुरु ने तीन काम मेरे को बताये हैं, और यह कहा है कि-इनको तुम करते रहो, तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा। वे काम ये हैं-(१) गऊ का गोबर थापना (२) तमाखू को कूट कर, भर २ के देना, और (३) गऊ के वास्ते हरी २ घास खोद लाना। इन कामों के करने से मोक्ष होता है ? या-क्या ? सो आप बताइये''। तब वे महात्मा कहने लगे—

'हे सज्जन, इन कामों के करने से तो मोक्ष नहीं होता है, परन्तु

इनका अर्थ समझने से मोक्ष होता है, तुम्हारे गुरु ने ठीक बातें बतलाईं, परन्तु-तुमने इनका अर्थ नहीं समझा ।'' तब वह कहने लगा कि-'महाराज ! कृपा करके अर्थ बताइये' । इस पर से वे महात्मा बोले कि-'गोबर थापने का अर्थ यह है, कि-'गो' नाम इंद्रियों को और 'थापना' से तात्पर्य खोटे विषयों से रोकने का है ऐसे ही वर' नाम श्रेष्ठ का है। वही पुरुष श्रेष्ठ है-जिसने अपनी इन्द्रियों को दुष्ट विषयों से रोका है। तमाखू 'कूटने' और 'फूंकने' का अर्थ तमा अर्थात्-तम (लोभ और लालच आदि) को कूट कूट के फूंक देना ही तमाखू कूट कूट कर भर देना है। तीसरा काम-जो हरी २ घास खोद लाने का है इसका अर्थ यह है कि-जब तू खोटे विषयों से मन और इंद्रियों को रोकेगा, और लोभ, लालच, काम, क्रोध आदि सर्व को कूट २ के फूंक देगा; तब हरि' अर्थात्-विष्णु भगवान् को खोजने से ही तेरा मोक्ष होगा।''

इस प्रकार से उन कामों के अर्थ को समझ के वह जाली खुरपी छोड़ के मंदिर में जाकर बैठ गया और माला हाथ में लेकर ठाकुर जी का भजन करने लगा। जब गुरु जी उसे पुकार कर कहने लगे, ''अरे ! जानकीदास फलाना, अमुक का काम नहीं किया'' ? तो वह बोला कि-''महाराज आज तो मैं सब कामों के अर्थ को समझ गया हूँ, अब पहिले जैसे काम करने से क्या प्रयोजन है ?'' यह सुन गुरुजी कहते हैं:—

''अरे, जानकीदास ! आज तेरे को कोई चोटीकट तो नहीं

मिला ?'' यह गुरु-चेले का दृष्टांत है। दार्ष्टान्त यह है-कि जबतक उन कामों का अर्थ जानकीदास ने नहीं समझा था, तब तक गोबर को थापा, तमाखू को कूटा और घास को भी खोदता रहा। जिस समय उनके अर्थ को जान लिया, तो सर्व कामों से निवृत्त हो गया और आनन्द को प्राप्त हुआ। तैसे ही-जब तक तू किसी क्रिया से आत्मा को सुख की प्राप्ति चाहता है; तब तक तेरे को सुख की प्राप्ति कदापि नहीं होगी। क्योंकि कर्म और उनके फल को वेद ने दुःखरूपी कहा है, इससे भी जाना जाता है कि-कर्म और उनके फल दुःख रूप ही हैं। प्रत्यक्ष में भी यही देखने में आता है कि-बिना संतोष के जो पुरुष नाना प्रकार के लौकिक कार्य आरंभ करता है; उसको देख के लोग कहते हैं-यह तो बहुत दुःखी है। और जो पुरुष सर्व कार्यों को त्याग; विवेक पूर्वक एकान्त देश में रहता है; उसे देख कर लोग कहते हैं कि-'यह पुरुष आनन्द में है'। कहीं ऐसा लिखा भी है—

दोहा- नहीं देव नर ताम सम, जो नर वसै एकान्त।
भोगों की नहिं वासना, मन हुवा ब्रह्म में शान्त॥
कर्ता क्रिया कर्म का, टूट गयाऽहंकार।
तास समान न और सुख, सब कहते संत पुकार॥

हे शिष्य ! जैसे उस महात्मा ने उस बाबा को उन कर्मों का गूढ़ अर्थ समझाया, तब अर्थ समझने पर बाबा को आनन्द प्राप्त

हुवा, तैसे ही तू भी वेद के गूढ़-अर्थ को समझ । वेद का गूढ़ अर्थ यह है कि-कर्म के करने से कर्म का नाश होता है'-इस वास्ते कर्म का कथन वेद में किया है, 'किसी क्रियाजन्य कर्म से आत्मा की प्राप्ति होती है'-ऐसा वेद ने कथन नहीं किया । क्योंकि आत्मा तो नित्य ही प्राप्त है, नित्य-प्राप्त वस्तु की किसी क्रिया से प्राप्ति होती नहीं, जैसे कोई पुरुष कहे कि -'मेरे को आकाश की प्राप्ति किस क्रिया से होगी' ? तब सुनने वाला उसे कहता है-''अरे, मूर्ख ! कहीं क्रिया से आकाश की प्राप्ति होती है ? आकाश तो नित्य ही प्राप्त है, इसकी प्राप्ति क्या होगी, ऐसी इच्छा करना ही मूर्खता का चिन्ह है'' । इस प्रकार की बात सुन के साधारण मनुष्य भी ऐसा उलम्भा देते हैं, तो विद्वान् लोग क्या कहेंगे ?

आकाश की किसी क्रिया से प्राप्त नहीं बनती । आकाश भी चेतन-आत्मा में सुमेरु-पर्वत के तुल्य है, सूक्ष्म से सूक्ष्म सर्व जीवों के अन्दर और बाहर जो व्याप रहा है-ऐसा परिपूर्ण-आत्मा कैसा है । वह सर्व विक्षेपों से रहित और सदा सुख रूप है; इसमें कुछ भी संदेह की बात नहीं है कि-'आत्मा स्वयं आनन्द स्वरूप है ।' उसको किसी क्रिया से आनंद की प्राप्ति कहना सर्वथा असंभव है ।

जैसे-जल में जो लहरें होती हैं वे पूछें कि-'जल किस क्रिया से हमको मिलेगा'? और वस्त्र पूछे कि-'मेरे को सूत किस क्रिया से मिलेगा' इसी प्रकार भूषण कहे कि-'स्वर्ण कहां और

किस क्रिया से मिलेगा'। ऐसे प्रश्न पूछने वाले की केवल मूर्खता सिद्ध होती है, तैसे ही तुम कहते हो कि-'किसी क्रिया से आत्मा को सुख की प्राप्ति होगी' सो यह तुम्हारा कहना भी उन लहरों आदि के प्रश्न करने के तुल्य है। वे तो जड़ पदार्थ हैं; परन्तु-तू बुद्धिमान् मनुष्य होकर ऐसी बात क्यों करता है ?

वास्तव में 'सच्चिदानन्द-स्वरूप' जो तू ही है-तो फिर किस क्रिया से सुख की प्राप्ति चाहता है ? तू केवल अपनी भूल से ही दुख को प्राप्त होता है। जैसे कोई बनिया अपने घर को भूल के सारे बाज़ार में फिरा और दुख पाया, तैसे ही तू अपने को नहीं जान के नाना प्रकार की क्रिया-जन्य क्लेशों को प्राप्त हो रहा है, इसी पर तेरे को एक—

(८)

"बनिक, अफीम, घर-विस्मरण न्याय"

सुनाते हैं, सो तू चित्त लगा कर सुन—एक बनिये की दुकान बाजार में थी और उसका घर जरा फासले पर था। एक दिन ऐसा हुवा कि-रात्रि के समय जब कुछ वर्षा हो रही थी तब सर्दी की वजह से उस बनिये ने कुछ अफीम खा लिया। वैसी दशा में वह बनिया दुकान से घर को चला। रास्ते में किसी जगह पेशाब करने बैठ गया, तब अफ़ीम के नशे में उसकी आंख लग गई। कुछ देर बाद उसकी आंख खुली-तो वह अपने मन में विचार

करता है कि-'हम घर को चले थे, सो घर तो अब तक आया ही नहीं' । वह वहां से उठ के आगे चला और भयभीत हो गया। फिर अपने घर की जाँच उसको नहीं रही । तब जिसका घर आवे उसी को अपना घर समझ के वह दरवाजे के किवाड़ खोलने लगा। वे घर वाले कहने लगे-'अरे कौन है !' तब वह बनिया वहाँ से भागा । ऐसे ही और भी अनेक गृहों में जा-जा के भागता रहा- आखिर दैवयोग से उसी का घर आ गया । वहाँ सेठानी रास्ता देख ही रही थी । तब सेठजी गर्म पानी से पैर धोके रसोई जीमे और पलंग पर विराज गये । फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगे । तब कहते हैं कि-'सुख तो अपने ही घर में है, क्योंकि-जब तक मैं अपने घर को प्राप्त नहीं हुवा, तब तक दूसरे गृहों में जा २ के अनेक प्रकार के तिरस्कार-जन्य-दुःख को प्राप्त हुवा । जब अपने गृह में आया, तभी मुझको सुख प्राप्त हुवा'' ।

तैसे ही तू अपने सत्‌चित्‌, आनन्द-स्वरूप को भूल के किसी क्रिया से सुख की प्राप्ति चाहता है ! यह इच्छा अपने स्वरूप के अज्ञान से ही हुई है-सो स्वरूप के ज्ञान से ही दूर होगी । वह स्वरूप कैसा है ? 'नित्य ही प्राप्त है,' ऐसा समझना ही 'नित्य प्राप्त की प्राप्ति है,' और किसी क्रिया से प्राप्त की प्राप्ति किसी ने भी नहीं कही है । और जो किसी क्रिया से प्राप्ति कही है- सो तो, अनात्म-पदार्थ की ही प्राप्ति होती है, जैसे-कुम्हार की

क्रिया से घट की प्राप्ति है और पुरुषों को दण्ड आदिकों के प्रहाररूप-क्रिया करने से सर्प आदिकों का नाश रूप फल की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार पंडाई* पुरुष को चलनरूप-क्रिया से ग्राम आदि की प्राप्तिरूप फल होता है, और रसोई करनेवाले को पाक-क्रिया से नाना प्रकार के पदार्थों का विकाररूप फल होता है, और संस्काररूप-क्रिया से मल की निवृत्ति और गुण की प्राप्ति रूप फल होता है ।

ऐसे क्रियाजन्य-कर्म से ये फल होते हैं, परन्तु-आत्मा तो इन क्रियाओं में से किसी भी क्रिया का फल नहीं है, क्योंकि-जो आत्मा पूर्व में नहीं हो तो 'उत्पाद्यरूप-क्रिया' से होना सम्भव हो सकता है; परन्तु-आत्मा तो 'अज' है, इसी से आत्मा का नाश भी नहीं होता है, क्योंकि जिसका जन्म होता है उसी का नाश होता है, जैसे-घट, पट आदि । यदि, आत्मा किसी एक देश में हो तो गमनरूप-क्रिया से प्राप्त होवे, परन्तु-आत्मा को तो वेद ने 'सर्वव्यापी' कहा है। आत्मा 'सावयव' हो तो 'विकाररूप-क्रिया' का फल होवे; परन्तु-आत्मा को तो श्रुति ने 'निरवयव' कहा है । ऐसे ही आत्मा में 'मैल' हो तो मैल की 'निवृत्तिरूप-क्रिया' का फल होवे, परन्तु-आत्मा को वेद ने 'निर्मल' कहा है। गुण की 'प्राप्तिरूप-क्रिया' का फल भी तभी हो सकता है; जब

* पत्रवाहक।

गुणादि-पदार्थ आत्मा से जुदे हों, वास्तव में गुणादिक आत्मा में कल्पित होने से आत्मा के स्वरूप ही हैं, जैसे-शुक्ती में जो रजत कल्पित होता है; सो शुक्ति का स्वरूप ही है, इसी से आत्मा को वेद ने 'निर्गुण' कहा है। श्रुति इस प्रकार कहती है :—

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
कर्माध्यक्षः सर्वभूतादिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्र ॥

हे शिष्य ! प्रथम तेने कहा था कि-"मैं सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति चाहता हूँ" सो तेरा कहना तभी बन सकता है; जब आत्मा में दुख हो और सुख नहीं हो ! वास्तव में-आत्मा सदा ही सुख-रूप है और सुखादिक आत्मा के गुण और धर्म नहीं है, किन्तु-आत्मा के स्वरूप ही हैं। इसी से-किसी भी क्रिया की जरूरत नहीं है। इस रीति से पूर्व जो अनेक प्रकार के दृष्टान्त, प्रमाण, युक्ति और न्याय कहे हैं-सो केवल आत्मा को 'सुखरूप' और 'स्वयंप्रकाश-रूप' जानने के वास्ते कहे हैं। ऐसा 'सुखरूप और स्वयं-प्रकाश-आत्मा' तू ही है।

॥ इति श्री युक्ति रत्न समाप्तम् ॥

(२)

॥ अथ सत्संग रत्न ॥

(शिष्य पूर्व सुने अर्थ को अपना दृढ़ निश्चय करने के वास्ते पूछता हैः-) 'हे भगवन् ! आपने अनेक प्रकार के दृष्टान्त और सिद्धान्त कह के आत्मा को सर्व गुण और धर्मों से रहित, सुख-रूप, कथन किया, इसी से क्रिया का निषेध किया और स्वयम्-प्रकाश होने से सर्व वृत्तियों का भी निषेध किया है ।

इस रीति से-आत्मा को 'सुख-रूप' और 'स्वयंप्रकाश' कथन किया; सो मैंने भली प्रकार से जाना, और आपने कहा कि-'वह आत्मा तू ही है'-इस बात को मैं कैसे निश्चय करूं कि-मैं ही सुख रूप और स्वयंप्रकाश हूँ ? और 'प्राप्त-वस्तु' की प्राप्ति में किसी भी क्रिया को कथन नहीं किया; किन्तु-कहा कि 'उसका ज्ञान होना ही प्राप्ति है'-इस प्रकार जो आपने कहा; उस पर से मैं जानना चाहता हूँ कि-'उसका ज्ञान होना कैसे संभव है ? सो आप कृपा करके बताइये' ।

श्रीगुरुरुवाच-'हे शिष्य ! यह बात तो हमने पूर्व भी कही थी कि-जब तू सत्-शास्त्र और सत्संग-रूपी दरवाज़ा में दाखिल होगा-तब तेरे ''अहं ब्रह्मास्मि'' ऐसी चोट लगेगी, और वैसी दशा में तू बच्चे की तरह चिल्लावेगा'' । यह सुन **शिष्य बोला—** ''हे भगवन् ! मेरी बुद्धि अल्प है; मैं थोड़े में नहीं समझ सकता हूँ।

आप विशेष प्रकार से समझाइये-सत्संग किसको कहते हैं ? सत्शास्त्र कौन से हैं ? सत्संग का कारण और स्वरूप क्या है? उसका फल किस प्रकार होता है? उसकी अवधि क्या है? और जिस शास्त्र को आप सत् कहते हो उसमें सत्पना क्या है? क्योंकि- 'आत्मा से भिन्न कोई भी अनात्म-वस्तु सत् नहीं है'-ऐसा जो आपने कहा था उस पर से ये शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं''।

गुरु कहते हैं— ''हे शिष्य ! यद्यपि आत्मा से भिन्न कोई भी 'अनात्म-वस्तु' सत्य नहीं है, तथाति-सत्यता दो प्रकार की होती है, एक तो 'व्यावहारिक सत्यता' और दूसरी 'पारमार्थिक सत्यता'। पारमार्थिक सत्यता तो वेद में नहीं है; परन्तु-व्यावहारिक सत्यता वेद में है, जैसे-सत्य वचन कहने वाले को सत्यवादी कहते हैं, तैसे ही सत्वस्तु-प्रतिपादन करने वाला वेदान्त शास्त्र है; इससे उसको 'सत्' कहा है, और वेदान्त शास्त्र से भिन्न जो पाँच-'न्याय, वैशेषिक आदिक' शास्त्र हैं; सो द्रव्य, गुण, प्रमाण, प्रमेय आदिक- अनात्म पदार्थों का ही कथन करते हैं, इसी से वे 'सत्य' नहीं कहे जाते हैं। जैसे-कोई छे पुरुष किसी मन्दिर में दर्शन करने को गये थे उसमें पांच तो अंधे थे और एक काणा था, वे नीचे लिखे अनुसार दर्शन करने लगेः—

(१)

''अन्ध, ठाकुर, न्याय''

अन्धों ने कहा कि-पुजारी जी ! हमको नेत्र से दिखता नहीं

है, इसलिये ठाकुरजी का हमारे हाथ से स्पर्श कराइये' । तब पुजारी ने बता दिया कि-'ये ठाकुरजी हैं' । वे पांचों अन्धे हाथ लगाय २ के ठाकुरजी का स्पर्श करने लगे। एक का हाथ अंगुली के लगा, दूसरे का पंजे के लगा, तीसरे का पैरों के लगा, चौथे का धड़ के लगा, और पाँचवें का सिर के लगा । इस रीति से जिसका जहां २ हाथ लगा था, उसने वैसा ही ठाकुरजी का स्वरूप निश्चय किया, और काणे ने तो जैसा ठाकुरजी का स्वरूप था वैसा ही जान लिया ।

जब वे इस प्रकार दर्शन करके मन्दिर से बाहर आये तब आपस में कहने लगे कि-भाई ! ठाकुरजी का कैसा स्वरूप था ? एक ने तो अंगुली जैसा ही बताया, दूसरे ने पंजे जैसा बताया, तीसरे ने डंडे जैसा बताया, चौथे ने सारंगी जैसा बताया और पाँचवें ने गोले जैसा बताया। वे इस प्रकार आपस में एक दूसरे के विरुद्ध बकने लगे, तब उनके परस्पर विवाद हो गया । उस समय छठा जो काणा था उनकी बातें सुन २ के हंसता रहा, क्योंकि-वे पांचों ही वृथा बकते थे ।

ऐसे ही ये जो पांच शास्त्र हैं सो अंधों के समान हैं छठा जो वेदान्त है, सो काणे के समान है। क्योंकि-जैसे काणे को ठाकुरजी का यथार्थ ज्ञान था, और वे अंधे किसी एक अङ्ग को ही ठाकुरजी कहते थे । तैसे ही पांचों शास्त्र हैं । कोई तो अन्नमय कोष-जो यह स्थूल शरीर है-उसी को आत्मा कहते हैं, और कोई प्राणमय

को, कोई मनोमय को, कोई विज्ञानमय को और कोई आनन्दमय कोष को ही आत्मा कहते हैं ।

(इस प्रकार तीन शरीर और उनमें जो पंचकोष हैं) वे किसी एक अनात्म-पदार्थ में आत्म-बुद्धि करके नाना प्रकार के विवादों से उन अंधों की तरह क्लेश को ही प्राप्त होते हैं । जैसे-काणा ठाकुरजी के यथार्थ स्वरूप को जानता है; सो उन अंधों की बात को सुनके हंसता है। वैसी ही अन्नमय आदि कोष को आत्मा मानकर अन्यथा बकते हुवे सुन के हंसी आती है ।

और जैसा आत्मा का स्वरूप है वैसा ही 'सत्‌चित्, आनन्द-स्वरूप' से जो शास्त्र कथन करता है; वही उसमें 'सत्‌पना' है। इसी प्रकार जो पुरुष 'सत्-वचन' बोलने वाला होता है; उसकी बात सुन के संशय दूर हो जाता है । तैसे ही आत्म-वस्तु में जो कुछ भी संशय हो; वह 'वेदान्त-शास्त्र' के बारम्बार श्रवण करने से निवृत्त हो जाता है और जो नित्य-प्राप्त आत्मा है उसकी 'स्मृति' हो जाती है, उसी को 'ज्ञात' कहते हैं, इसी में वेदान्त-शास्त्र को 'सत्' कहा है । परन्तु-उसको 'काणा' भी कहते हैं, क्योंकि केवल वेदान्त के पढ़ने से 'परोक्ष-ज्ञान' होता है परन्तु-जब 'गुरु-मुख' से वेदान्त के अर्थ का 'श्रवण' होता है-तब दोनों से ही आत्मा का 'अपरोक्ष-ज्ञान' हो सकता है । इस प्रकार ''दूसरा-नेत्र गुरु है'' । और जो तू यह बात कहे-'गुरु किसको कहते हैं ?'' तो सुन—

॥ दोहा ॥

वेद शास्त्र में कुशल है आतम ब्रह्म स्वरूप ।
आंख तले आने नहीं चहे होय भूप का भूप ॥
एक अखंडित आत्मा, करे यही उपदेश ।
देश काल अरु वस्तु का, जामें नाहीं लेश ॥

अर्थ स्पष्ट है, परन्तु-भाव यह है कि-''वेद शास्त्र के जानने में चतुर हो; और आत्मा को ब्रह्मरूप करके जानने वाला और निःस्पृही हो, चाहे कोई राजाओं का भी राजा हो-तो भी उसे नेत्र के नीचे नहीं लावे, जिज्ञासु-जनों को यही उपदेश करे कि-तू चेतन आत्मा एक है, अखंड है और देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है । इस प्रकार जिज्ञासु-पुरुषों की बुद्धि में नाना प्रकार के जो भेद-रूपी पक्षी बैठे हों; उनको ज्ञान-रूपी ताली बजा कर के तत्काल उड़ा देवे और सत्मार्ग में चलावे सो ''सद्गुरु'' कहलाता है ।

ऐसे सत्-पुरुषों का संघ और 'सत्-शास्त्र का विचार' जो नित्य प्रति करते हैं उनके कल्याण होने में क्या संशय है ? वे तो सदा ही कल्याण रूप हैं आप स्वतः संसार-समुद्र से तरते हैं और दूसरों को भी तार देते हैं । जैसे नौका आप तरती है और अन्य को तार देती है । ऐसे ''सत्शास्त्र के, विचार; और ऐसे महा-पुरुषों के संग ही का नाम सत्सङ्ग है'' । सत्संग के कारण आदिक के संबंध में जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर तू अब श्रवण कर:—

जब मनुष्य को किसी पूर्व-जन्म के शुभ-कर्म भोग देने के अर्थ सन्मुख होते हैं, तब उसके अन्तःकरण में 'शुभ-वासना' उत्पन्न होती है। उस वासना के अनुसार जो 'पुरुषार्थ' किया जाता है वही पुरुषार्थ 'सत्संग का कारण' होता है, और सत्शास्त्र और सत्पुरुषों के वचनों में चित्त की स्थिति होना 'सत्संग का स्वरूप' है, (''तत्कथनं तच्चिंतन' तत्परस्पर-बोधनम्'' अर्थात्-बारम्बार उसी सत्-वस्तु का कथन करना, उसी का चिन्तन करना और उसी को परस्पर विचार करके अधिकाधिक जानना यही 'सत्संग का स्वरूप' है)। निष्काम-कर्म से लेकर मोक्ष पर्यंत जो 'साधन-साध्य-पदार्थ' प्राप्त होते हैं; सो 'सत्संग का फल' है। और 'सत्संग की अवधि' तो कुछ है नहीं; परन्तु जबतक कण्ठ में प्राण रहे, वहाँ तक; अथवा-'विदेह मोक्ष' पर्यन्त सत्संग अवश्य ही करना चाहिये, फिर आपही अवधि हो जायेगी, यही उसकी अवधि है।

जब इस प्रकार कारण को, स्वरूप को, और उसके फल तथा अवधि को जानकर नित्यप्रति सत्संग करेगा; तब दीर्घ काल के अभ्यास से उस 'सत-वस्तु' का ज्ञान तेरे को होगा। क्योंकि सत्-पुरुषों में और सत्शास्त्र में यही सत्पना है कि-अपने सहित जितना स्थूल और सूक्ष्म पसारा है उसको मिथ्या करके जनाते हैं; और जो चेतन-आत्मा है; उसे सत्रूप करके कथन करते हैं, यह सत्यवादीपना उनमें होने से ही वे 'सत्' कहे जाते हैं।

'सत्शास्त्र' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ जो-वस्तु का यथार्थ कथन नहीं करते हैं, सो सभी 'असत्' कहे जाते हैं। तैसे ही जो सत् का उपदेश करने वाला 'गुरु' है; उससे भिन्न जो कण्ठी माला के बाँधने वाले और कान में फूंक मारने तथा मंत्र यंत्र के सुनाने वाले और चोटी काट के गेरुए कपड़े रंगने आदि नाना प्रकार के चिन्हों वाले हैं-सो सब ''असत् गुरु'' कहे जाते हैं। उनका संग करने से जीव इस संसार-समुद्र में तिर नहीं सकते, क्योंकि-काठ के संग में लोहा तिर जाता है, परन्तु-लोहे के संग लोहा नहीं तिरता। इसी प्रकार से वे तो आपही काम, क्रोध, लोभ, मोह-रूप लोहे समान भार को प्राप्त हो रहे हैं, दूसरे को कैसे तिरावेंगे? इससे जो पुरुष ऐसे गुरु का संघ करेगा सो—

(२)

''कुत्ता कान फड़क थूक न्याय''

को कैसे ? प्राप्त होगा सो दिखाते हैं-एक गृहस्थी ऐसा था कि-अपने हाथों से कुछ काम उसने नहीं किया, और उसके भाई पिता आदि जो कमाई करके उसका पालन-पोषण करते थे सो दैवयोग से हैजे की बीमारी चलने से सारे मर गये। तब उस पुरुष ने अपने मन में विचार किया कि-'कमाई तो होवे नहीं, और खाने को दोनों वक्त चाहिये, इसलिये कोई ऐसा हुनर-धंधा करना चाहिए

कि-जिससे तकलीफ नहीं होवे, और खाने पीने का काम चल जाये' ।

उसने सब कामों को अपने मन में विचारा तो सभी में उसको तकलीफ दिखाई दी परन्तु-'माँगना' उसको सुगम मालूम हुवा । तब बाबा का स्वांग बना कर नजदीक के ग्रामों में जा के माँग लाने लगा । फिर लोगों में जान पहिचान भी हो गई तब तो गंडा गोली भी करने लगा, और चेली चेला भी बहुत से हो गये । कुछ चेले कहने लगे कि- 'महाराज ! आप काहे को तकलीफ उठाते हो' ? वहीं एक बहुत अच्छा मकान बनवा दिया और महाराज उसमें रहने लगे । फिर और भी चेले बहुत से हो गये और खूब ही आनन्द के तार बाजने लगे । कोई तो पुत्र की इच्छा करके उनकी सेवा करे; और कोई धन की कामना करके सेवा करे, इस प्रकार जब गाड़ा गुड़कने लगा-तब उन चेलों में कोई पुरुष परमार्थ के भी जिज्ञासु थे; उन्होंने महाराज से पूछा कि-हे भगवन् ! इस दुख-रूप संसार से यह जीव किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? यह बात आप कृपा करके हमारे को बताइये'' । तब वे कहने लगे कि-''भाई ! अभी तो तुम्हारी जवान उमर है, बच्चे बच्चियों का विवाह करो; फिर तुमको बता देंगे; अभी क्या जल्दी है''। तब उन चेलों ने काल पाके फिर पूछा कि-''महाराज ! अब तो कुछ बताओ, उमर तो बीती जाती है'' । तब बाबा ने कहा-''अरे !

तुम ऐसी जल्दी काहे को करते हो ? बेटों के बहू आने दो और पोते पोती होने दो।'' इस प्रकार वो लपोडशंख वाली बातें करता रहा। अन्त में दैवयोग से उस बाबा का शरीर शान्त हो गया, तब कुत्ते की योनि को प्राप्त हुआ। उसके जिज्ञासु चेलों को गुरु से मिलने की कामना थी; वे भी मर के कुत्ते ही हुवे, गुरु जी तो पहिले ही से हाड़ चाबते फिरते थे। वे चेले गुरुजी को मिलकर कहने लगे कि-''महाराज ! आप और हम कौन गति को प्राप्त हुवे हैं ? अब तो कुछ बताओ।'' तब वह कान हिलाके कहता है-''अरे! मैंने तो खाने पीने के लिये स्वाँग बनाया था और मैं कुछ भी नहीं जानता था''। तब वे चेले कहने लगे कि-''धिक्कार हो तेरे को, क्योंकि-तू आप भी डूबा और हमें भी डुबाया''। इसी पर कहते हैं—

॥ दोहा ॥

झूठे गुरु के आसरे, डूबि गये बहु जीव।
सच्चा सत् गुरु सेइये, जासे पावे पीव॥
झूठे गुरुवा मरि गये, हो गये भूत मसान।
सच्चे गुरु से पाइये, सत् वस्तु का ज्ञान॥

जब इस प्रकार 'सत्-गुरु' और 'सत्-शास्त्र का विचार और महा-पुरुषों का संग कोई करता है; तभी वह जीव कल्याण का भागी होता है।

॥ चौपाई ॥

जो तिरि गये तिरगे जेते ।
अब तिरते हैं कहुं अरु केते ।
सो सव साधु-संगति से जानो ।
दूजा और उपाव न मानो ॥

इसमें बहुत लिखने की जरूरत नहीं है, जिस किसी के घर की बुद्धि होती है वह थोड़े ही में समझ लेता है और उस के समझने के लिये एक-कुंडलिया लिखते हैं—

सत-संगति महिमा कही, लीजै यही प्रसाद ।
हम कह्या तुम सुन्या, इसको रखना याद ॥
इसको रखना याद, वाद काहु से न कीजे ।
जो कोइ साधू मिले, संग बाहू का कीजे ॥
लोभी लंपट लालची, इनसे रहना दूर ।
गुप्तानन्द निज रूप लाख, सदा एक भरपूर ॥

हे शिष्य ! तेरे को 'कर्ता-बुद्धि' है, इसी से तुझे आत्मा में कर्तव्य-भ्रान्ति हो रही है। जब तू और सर्व क्रिया का त्याग करके एक 'सत्-संग' को ही करेगा; तो उस से तेरी कर्तापने की भ्रान्ति मिट जायगी, और आत्मा को ब्रह्मरूप करके अपने आप ही जानेगा कि-वह कर्ता, क्रिया, कर्म से रहित है ।

॥ इति श्री सत्संग रत्न समाप्तम् ॥

ॐ

।। अथ निष्काम रत्न ।।

कर्म कहे हैं वेद में, सुन तिनका विस्तार ।
एक निषेध दूजा विधी, सो कहिये चार प्रकार ।।
काम्य प्रायश्चित नित निमित, करो काम का त्याग ।
नित्त निमित्तक कीजिये, फल का तजि के राग ।।

अर्थ यह है कि-वेद में जो कर्म का कथन किया है उसका विस्तार यह है-एक तो 'निषिद्ध-कर्म' कहाता है जिसको कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि-वह वेद विरुद्ध है । यदि कोई ऐसा पूछे कि-'निषिद्ध कर्म-कौन से हैं ?' तो सुन—

परस्त्री गमन करना, जुवाँ खलना, मदिरा-मांस खाना, वेश्या का संग करना, झूठ बोलना, कमती तोलना, इत्यादि सब निषिद्ध ही हैं । इससे ये कर्म कदापि नहीं करना चाहिये ।

दूसरे 'विधि-कर्म' हैं सो चार प्रकार के हैं (१) काम्य (२) प्रायश्चित्त, (३) नित्य और (४) नैमित्तिक । जिज्ञासु-पुरुष 'काम्य-कर्म' और 'निषिद्ध' का त्याग करके; 'नित्य' और 'नैमित्तिक-कर्म' को फल की इच्छा से रहित होकर करें, तब उसे ऐसे कर्म से 'नित्य-सुख' की प्राप्ति होती है, और जो फल की इच्छा रख

कर करता है; उसे अनित्य ही फल मिलता है इसी पर तेरे को एक—

'राज मन्दिर मज़दूर न्याय'

सुनाते हैं, सो अपने मन को सावधान करके सुन-किसी राजा का एक मकान बनता था उसमें बहुत से मज़दूर लगे हुवे थे। उन मज़दूरों में एक ऐसा मज़दूर था; जो काम तो कर दे और मज़दूरी चुकाते समय नहीं ले, फिर जब गिनती होवे तब एक मनुष्य ज्यादा निकले और जब मज़दूरी चुकावे तब कमती होवे। इस प्रकार एक मज़दूर की मज़दूरी बच जाती थी। जो मज़दूरी चुकाने वाला कामदार था सो कहने लगा-'अरे मज़दूरो ! यह एक मनुष्य की मज़दूरी बच जाती है और गिनती पूरी होती है, वह कौन मज़दूर है जो मज़दूरी नहीं लेता है ?' तब फिर जिन मज़दूरों के पास में वह रहता था वे कहने लगे कि-'हुजूर ! वो यह है'। तब कामदार बोला-'अरे ! तुम मज़दूरी क्यों नहीं लेते' ? तब वह कहने लगा कि-'काम तो हमारा ही है; मज़दूरी किस से लेवें ? क्योंकि-राजा तो सारी प्रजा का पिता है और प्रजा पुत्र के समान होती है, फिर पुत्र पिता से क्या मज़दूरी लेवे ?'

ऐसी बातें उस मज़दूर की सुन के कामदार ने वह हकीकत राजा की कचहरी में जाकर कही, और आखिर जब ये सब राजा

के कान तक पहुँची तो राजा ने कहा-'उस मज़दूर को हमारे पास लाओ' । इस पर से कामदार मजूर को राजा के पास ले गया। तब राजा ने पूछा-'अरे ! तुम मज़दूरी क्यों नहीं लेते ?' उसने जैसा कामदार से कहा था वैसा ही राजा को भी उत्तर दिया । उसकी बात सुन के राजा बड़ा प्रसन्न हुवा; और बोला कि-'तुम हमारे पास रहा करो' । उसने कहा-'हुजूर ! बहुत अच्छा' फिर राजा के पास रहने लगा । उसका सच्चा व्यवहार और निष्कामता देख के कुछ काल पाकर; ज्यादा क्या कहें-उसको ही राजा बना दिया और राजा खुद ठाकुरजी के भजन करने के वास्ते वन को चला गया । यह दृष्टान्त है ।

दार्ष्टान्त यह है कि-'राजा' की नाईं तो 'ईश्वर' है और 'मजदूर' की नाईं यह 'जीव' है। जिसके अनेक प्रकार के 'शुभ-कर्म' का फल ही 'मज़दूरी' है, ऐसे फल की कामना का त्याग ही 'निष्कामता' है । जैसे राजा ने उस मजदूर को अपने पास ही रख लिया था; तैसे ही ईश्वर 'निष्काम-कर्म' करने वाले 'भक्त' के वश होकर (वह) आपही उसके पास रहता है; और जिस प्रकार राजा ने सब राज दे दिया था; तैसे ही वह 'निष्कामी-भक्त' अपने आपको ईश्वर के अर्पण कर देता है । इस प्रकार 'निष्काम-कर्म' का महान् 'नित्य-सुख' रूपी फल है; जो सर्व पापों का नाश करने वाला है ।

यह बात सुन शिष्य प्रश्न करता है-'हे भगवन् ! आप कहते हैं कि-'निष्काम-कर्म सर्व पापों को नाश करता है' सो यह कहना आपका बनता नहीं । क्योंकि-जो ज्ञानवान् हैं; वे दुःख भोगते हुवे देखने में आते हैं, और ज्ञान से पूर्व उन्होंने 'निष्काम-कर्म' किये, तो फिर उनको दुःख नहीं होना चाहिये' ? ऐसी शंका होने पर ?

गुरु कहते हैं कि-''निष्काम-कर्म करने से पापों की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती है । जैसे बीज से दो अंकुर निकलते हैं, एक तो नीचे को जाता है और दूसरा ऊपर को आता है । नीचे के अंकुर में पुरुषार्थ नहीं चलता है, ऊपर के ही में पुरुषार्थ चलता है, तैसे ही-कर्मरूपी-बीज से भी दो अंकुर निकलते हैं, एक-तो 'वासना' और दूसरा-'अदृष्ट' । अदृष्ट से सुख-दुख का जो भोग होता है सो दूर नहीं हो सकता, परन्तु-वासना रूपी अंकुर ऊपर के अंकुर की नाईं फिर जाता है, और सर्वथा नाश तो उसका भी नहीं होता है; परन्तु-विरोधी 'शुभ-वासना' से 'अशुभ-वासना' जो जन्मान्तर के मलिन-कर्म से होती है; सो पलट के 'शुभ' हो जाती है । ऐसा अवसर प्राप्त होने पर विवेक, वैराग्य उत्पन्न हो के 'श्रवण' में प्रवृत्ति हो जाती है, श्रवण से 'ज्ञान होकर सर्व 'सञ्चित' तथा 'आगामी' कर्मों का नाश हो जाता है । और 'प्रारब्ध-कर्म' का भोगने से नाश होता है । इस रीति से सर्व कर्मों का नाश 'निष्काम-कर्मों' से कहा है-सो 'वासना के पलट जाने द्वारा ही

संभव है', साक्षात् 'निष्काम-कर्म' से सर्व कर्मों का नाश नहीं होता है। इसी से ज्ञानवान् को भी सुख-दुख होते हैं'' । इस बात को भली भांति समझ कर **शिष्य पूछता है—**

''भगवन् ! आपने जो यह 'निष्काम-कर्म-रत्न' कहा है; सो इसमें 'रत्नपना' क्या है ? और 'निष्कामता' क्या है ? और इसका कारण?' तथा 'स्वरूप' क्या है ? और 'फल' तथा 'अवधि' क्या है ? यह सब आप हमारे को समझाय के कहिये'' ।

गुरु कहते हैं-''हे शिष्य ! श्रुति, स्मृति आदि में अनेक प्रकार के कर्मों का कथन किया है; सो सब कर्मों का सार खींच के महात्मा पुरुषों ने 'निष्काम-कर्म' के रूप में जिज्ञासु-पुरुषों के वास्ते रक्खा है; यही उसमें 'रत्नपना' है, और इस लोक तथा परलोक के पदार्थों की कामना इसमें नहीं है; यही इस में 'निष्कामपना' है। शास्त्रों में सकाम-कर्म के फल को 'अनित्य' कहा है; और निष्काम-कर्म के फल को 'नित्य' कहा है, जैसे गीता में भगवान् कहते हैं—

॥ श्लोक ॥

नेहाभिक्रमनमाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात् ॥

इस प्रकार 'ऐसे शास्त्र का बारंबार श्रवण करना' ही निष्काम-कर्म का 'कारण' है। और किसी भी लौकिक, वैदिक आदि पदार्थों

की कामना नहीं; किन्तु-'केवल अपने कल्याण की कामना' ही उसका 'स्वरूप' है। और 'अशुभ-वासना की निवृत्ति' होना उसका 'फल' है। अशुभ-वासना निवृत्त नहीं हो; तबतक निष्काम-कर्म करें, और जब अशुभ-वासना अपने अंतःकरण में नहीं रहे-तब नहीं करें; यही उसकी 'अवधि' है। फिर 'मल' दोष निवृत्त हो जाता है, इसी मल दोष को 'अशुभ-वासना' कहते हैं सो 'निष्काम-कर्म' से दूर होती है।

भगवान् ने सब कर्मों से 'निष्काम-कर्म' ही को श्रेष्ठ कहा है, और उसके करने वाला जो पुरुष है; उसको सर्व तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी से भी श्रेष्ठ कहा है। चांद्रायण कृच्छ आदिक उपासना करने वाले को 'तपस्वी' और शास्त्र के पद पदार्थों के जानने वाले को 'ज्ञानी' और सकाम कर्म करने वाले को 'कर्मी' कहते हैं। इन से 'अपरोक्ष-आत्मज्ञानी' ऊंचा है। इस प्रकार निष्काम कर्म करने वाले को भगवान् ने सब से ऊंचा कहा है।

॥ इति श्री निष्काम रत्न समाप्तम् ॥

॥ अथ भक्ति रत्न ॥

॥ दोहा ॥

भक्ति नाम यक कहत है, तिसके सुन अब भेद ।
नौधा, प्रेमा, अरु परा, यों कहत शास्त्र अरु वेद ॥

वास्तव में (१) नौधा, (२) प्रेमा, (३) परा भेद से भक्ति तीन प्रकार की होती है। इस प्रकार शास्त्र में भक्ति के तीन भेद कहे हैं ।

॥ दोहा ॥

नौधा नौ प्रकार से, ईश्वर में चित लाय ।
याही से भक्ति कही, भय सब गत होजाय ॥

अर्थ—नौधा कहिये 'नौ प्रकार से ईश्वर में अपना मन लगाने से नाना प्रकार के जो जगत् के भय हैं— सो सारे दूर हो जाते हैं; इसी से इसे नौधा भक्ति कहते हैं ।'

शिष्य पूछता है—'हे भगवन्, वह नौ प्रकार कौन से हैं ? जिनसे ईश्वर में मन लगे; सो आप कृपा करके बतलाइये' ।

गुरु कहते हैं—'हे शिष्य ! जिस कथा में परमेश्वर का कथन होता हो उसको चित्त लगा कर श्रवण करना, इसको 'श्रवण-भक्ति' कहते हैं ॥ १ ॥ ईश्वर के जिन विशेषणों को श्रवण किया हो

उन विशेषणों का भिन्न भिन्न कथन करना कि-ईश्वर कैसा है? सत्यकाम है, सत्य संकल्प है, दयालु है, अन्तर्यामी है, एक है, चैतन्य है, परमानन्दस्वरूप है, व्यापक है, अजन्मा है, अविनाशी है, और ऐसा चिद्घन देव है कि-जिसका नाश कभी नहीं होता है, इसको 'कीर्तन' कहते हैं ॥ २ ॥ जो ईश्वर के विशेषण पूर्व कथन किये हैं उनको बारम्बार याद करना ही उसकी 'नामस्मरण' भक्ति है ॥ ३ ॥ जो पादसेवन रूपी भक्ति कही सो प्रत्यक्ष में तो ईश्वर के पादों का सेवन बनता नहीं; क्योंकि-ईश्वर में परोक्षता धर्म है, परन्तु-'चल' और 'अचल' ये दो प्रकार के परमेश्वर के स्वरूप कहे हैं, इसमें महात्मा तो 'चलरूप परमेश्वर का रूप है', और 'मूर्ति आदिक अचलरूप हैं' इनके पैरों का पूजन करना ही परमेश्वर की 'पाद-सेवन' भक्ति कही जाती है ॥ ४ ॥ दो प्रकार का परमेश्वर का स्वरूप कहा है, उन दोनों का श्रद्धा पूर्वक नाना प्रकार के धूप, दीप, पुष्पमाला, चन्दनादि का जो लेपन करते हैं-उसी को 'अर्चन' भक्ति कहते हैं ॥ ५ ॥- 'उनके चरणों में प्रेम पूर्वक श्रद्धा भक्ति से नमस्कार करने' को 'वन्दना' भक्ति कहते हैं ॥ ६ ॥ परमेश्वर में इस प्रकार 'दास-भाव' होना कि-'परमेश्वर ही मेरे कर्म के फल को देने वाला है, और मैं उसका दास हूँ' इसी को ''दास-भाव'' भक्ति कहते हैं ॥ ७ ॥ जैसे ग्वालों ने अपना सखा रूप जान के परमेश्वर को भजा था; उसी प्रकार 'परमेश्वर को अपना सखा रूप जान के

हर वक्त याद रखने' ही को 'सखाभाव' भक्ति कहते हैं ॥ ८ ॥ और 'निज के शरीर से आदि लेकर स्त्री, पुत्र, धन, इत्यादि को अपने नहीं जाने; किन्तु-इन सब को परमेश्वर के ही जाने' इसको ''आत्मनिवेदन'' भक्ति कहते हैं ॥ ९ ॥

इस प्रकार नौधा भक्ति का विवेचन है। अब प्रेमा भक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—

॥ दोहा ॥

प्रेमा प्रीति हरि से बड़ी, और न कछू सुहाय ।
भक्ति भाग्या जगत से, मन दर्शन में जाय ।।
जहां प्रेम तहं नेम नहिं, तहां न विधि व्यवहार ।
प्रेम मगन जब मन मये, कौनगिनै तिथि वार ।।

अर्थ यह है कि जिस काल में नवधा-भक्ति के दृढ़ अभ्यास होने से फिर 'प्रेमा-भक्ति' होती है तब सब पदार्थों से प्रीति छूट कर एक परमेश्वर में ही प्रेम हो जाता है इसी से प्रेमा-भक्ति कहते हैं। भक्ति यों कहा है कि-मन जगत् की तरफ से तो भगता है और परमेश्वर की ओर जाता है। जैसे विषयासक्त पुरुष का मन परमेश्वर में लगाने से भी नहीं लगता है, और विषय भोगों की तरफ स्वतः ही चला जाता है, तैसे ही 'प्रेमा-भक्त' का मन परमेश्वर की ओर तो स्वतः हो जाता है, और संसार के विषय भोगों में लगाने से भी नहीं लगता है। जल जैसे नीचे की ओर

जाके ठहरता है, तैसे ही भक्त का मन एक परमात्मा में ही जाकर ठहरता है, क्योंकि-उस के अन्तःकरण से जो वृत्ति उठती है; सो परमेश्वर-आकार ही होती है, और जो कुछ देखता है; सो सब परमेश्वर का स्वरूप ही उसको भासता है।

॥ शेर ॥

नगर में बाग में बन में, कुल आलम निहारा है।
जिधर देखूं उधर प्यारे, सभी जलवा तुम्हारा है॥

इसी पर तेरे को एक-

'लैली-मजनूँ न्याय'

सुनाते हैं, सो यह है कि-दिल्ली के किसी बादशाह की लैली नाम की एक लड़की थी, और लाहौर के बादशाह का मजनूं नाम का एक लड़का था। जब लैली ने मजनूं की तसवीर देखी और मजनूं ने लैली की तसवीर देखी, तब परस्पर उनका स्नेह बढ़ गया। दिल्ली के बादशाह ने लैली के निकाह की तैयारी की; तब लैली ने कहा कि-'मैं तो मजनूं से निकाह करूंगी, और किसी के साथ नहीं करूंगी।'' बादशाह ने हुक्म दिया कि देश-देशांतरों में खबर करवादो कि-अमुक रोज लैली का निकाह होगा! जो कोई मजनूं हो! सो आवे। तब देश-देशांतरों में ढिंढोरा फिर गया, बहुत से मजनूं बन २ कर आगये, और वह सच्चा मजनूं भी आया।

बादशाह ने सारे दिल्ली शहर में यह ढिंढोरा फिरवा दिया कि-'जिसकी दूकान से मजनूं जो कुछ भी ले; सो दे देना दाम सरकार से मिल जावेंगे'। तब देश-देशांतरों से जो अनेक मजनूं बन २ के आये थे, सो दूकान-दूकान से अनेक प्रकार की चीजें लेते रहे और खूब माल उड़ाने लगे। वह जो सच्चा मजनूं था; सो तो दिल्ली से तीन मील दूर जमुना किनारे पर रहता था। जब निकाह का दिन आ गया, तब सारे शहर में खबर करवादी कि-''आज लैली का निकाह होगा, जो कोई मजनूं हो सो आवे''। और जो निकाह का मकान मुकर्रर किया था; उसमें लैली को सामने बिठा दिया और बीच में लोहे की तवी गर्म करवा दी, मजनूं आने लगे; और तपती हुई तवी को देख के उलटे फिरने लगे। जो उलटे फिर कर चले उनको पींजरा पौल में रोक दिया, वहां वे बनावटी मजनूं चक्की फेरने लगे।

अन्त में जो सच्चा मजनूं था सो भी आया; और उसने लैली को देखा, तब उसकी वृत्ति लैली में ही लग गई, और जो वह तवी गरम हो रही थी उसकी तरफ उसने देखा ही नहीं। क्योंकि-उसकी वृत्ति तो लैली में ही लग गई थी, लैली के सिवाय उसको दूसरा कुछ भी नहीं दीखता था।

उस सच्चे मजनूं से लैली का निकाह हुआ और झूठे मजनूं चक्की फेर २ के दाना दलते रहे। यह तो दृष्टान्त है दार्ष्टान्त

यह है कि-बादशाह की नाईं परमेश्वर है; और लैली की नाईं भक्ति है; और मजनूं की नाईं प्रेमी-भक्त है। जैसे-सच्चे मजनूं को लैली मिली है; तैसे ही-सच्चे प्रेमी-भक्त ही को लैली रूपी भक्ति प्राप्त होती है, और जैसे झूठे मजनूं चक्की पीसते थे; तैसे ही सकामी झूठे भक्त जन्म-मरण रूपी चक्की के फेर से नहीं छूटते। इस संसार रूपी कैदखाने में ही पड़े रहते हैं। इसी प्रकार जो 'निष्काम-प्रेम भक्ति' को करते हैं सो ही इस जन्म-मरण से छूटते हैं, इसी का नाम प्रेमा भक्ति है। अब परा भक्ति को दिखाते हैं—

महतः परमव्यक्त मव्यक्तार्त्यपुरुषः परः ।
पुरुषान्नपरः कश्चित्सकाष्ठा स परागतिः ॥

॥ दोहा ॥

परा न पारावार है, व्यापक एक स्वरूप ।
भक्ती ही से पाइये ऐसा लूप अनूप ॥

अर्थ यह है कि-जिससे परे कोई पदार्थ नहीं है, सोही सर्व पदार्थों की अवधि रूप है, और सर्व से सूक्ष्म है, (यह परा शब्द का अर्थ है) ऐसा व्यापक, उपमा रहित, एक स्वरूप, भक्ति से ही प्राप्ति होता है, यही परा भक्ति का तात्पर्य है। सो ऐसा व्यापक उपमा से रहित, एक रूप, एक ब्रह्म ही कहा जाता है।

श्रुतिः-इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था, अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तुपरावुद्धिर्वुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परः कश्चित् सः काष्ठासः परागतिः ॥

अर्थ यह है (अर्थाः) कहिये-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये जो विषय है सो (पराः) कहिये-इंद्रियों से सूक्ष्म और व्यापक हैं; और इन विषयों से मन सूक्ष्म और व्यापक है, और मन से बुद्धि सूक्ष्म और व्यापक है, और व्यष्टि-बुद्धि से समष्टि-बुद्धि रूप जो महान् आत्मा हिरण्यगर्भ है, उसकी समष्टि-बुद्धि सूक्ष्म और व्यापक है, और समष्टि-बुद्धि से माया सूक्ष्म और व्यापक है, और अव्यक्त माया से पर कहिये सूक्ष्म और व्यापक ब्रह्म आत्मा है, ब्रह्म आत्मा से पर कहिये सूक्ष्म और कोई नहीं है, इसलिये परा गति कहिये ब्रह्म-आत्मा सर्व की अवधि कहिये सीमाँ अथवा हद है। इस प्रकार आत्मा को सर्व से सूक्ष्म और व्यापक-रूप करके जानना ही 'पराभक्ति' का स्वरूप है। वास्तव में 'पराभक्ति' और 'परोक्ष-ज्ञान' में कुछ भी भेद नहीं है।''

शिष्य कहता है-''हे गुरो ? यह जो आपने तीन प्रकार की भक्ति कही है; इसका कारण कौन है ? और इसका स्वरूप और फल क्या है ? और उसकी अवधि किस प्रकार है ? क्योंकि-

किसी भी कार्य का कारण, स्वरूप, फल तथा-अवधि जाने बिना उस कार्य में यथार्थ प्रवृत्ति होती नहीं है।''

गुरु कहते हैं-''हे शिष्य ! पूर्व जन्मों में जो निष्काम-कर्म' किये हैं; उन कर्मों के संस्कार और इस जन्म के 'पुरुषार्थ' से जो महापुरुषों का संग किया है; ये तीनों ही 'भक्ति' के कारण हैं, और पूर्व जो तीन प्रकार की भक्ति कथन की है; और तीनों के जुदे २ लक्षण कहे हैं; सो ही भक्ति का स्वरूप है, विक्षेप दोष की निवृत्ति उसका फल है, जब तक सत् असत् वस्तु का दृढ़ निश्चय नहीं हो; तब तक भक्ति करे और जब दृढ़ निश्चय हो जावे तब नहीं करे यही भक्ति की अवधि है। फिर सत् असत् वस्तु का विचार ही किया करें'' ।

॥ इति श्री भक्ति रत्न समाप्तम् ॥

॥ अथ विवेक रत्न ॥

इसी में विचार संबंधी कुछ विवेचन भी किया जावेगा।

जाग्रत अवस्था में 'स्थूल-शरीर' से नाना प्रकार के स्थूल-पदार्थों का भोग रूपी व्यवहार होता है; ऐसे 'व्यवहार' और स्थूल-शरीर को और उसकी 'जाग्रत-अवस्था' को जानेवाला मैं इन सर्व से जुदा हूं। इस प्रकार ''स्वप्न अवस्था में जो २७ तत्व का 'सूक्ष्म-शरीर' है और उसमें नाना प्रकार के जो 'सूक्ष्म-भोग्य पदार्थ' हैं उनको और 'सूक्ष्म-शरीर' को और उनकी 'स्वप्न-अवस्था' को जाननेवाला मैं उनसे जुदा ही हूँ।'' तैसे ही ''सुषुप्ति अवस्था में जो 'कारण-शरीर' है, और उसमें जो 'सुख का भोग' और 'सुषुप्ति-अवस्था' है, इन सर्व का जानने वाला मैं तो वहां भी सब से जुदा ही हूँ।'' इस प्रकार इन तीन शरीर के विवेक से ही पंचकोषों का विवेक हो जाता है।

तीन शरीर और पंचकोष से आत्मा को पृथक् जनने का नाम यथार्थ विचार है। इस प्रकार के विचार से ही नित्य-अनित्य पदार्थ जाना जाता है; क्योंकि-ये तीन शरीर तो व्यभिचारी हैं। वास्तव में-इस स्थूल देह की प्रतीति स्वप्न में नहीं होती है; और स्वप्न-पदार्थों का जानने वाला मैं वहां भी हूँ। सूक्ष्म शरीर सुषुप्ति में

नहीं रहता है, और सर्व के अनुभव करनेवाला मैं तो वहाँ भी हूँ। सुषुप्ति का कारण शरीर है; जो-जाग्रत स्वप्न में नहीं रहता है और सूक्ष्म-स्थूलपदार्थों का जाननेवाला मैं वहाँ भी हूँ। इस प्रकार के विचार से ही 'तीन-शरीर' और उनमें जो 'पंचकोष' और 'तीन अवस्था' हैं ये सब व्यभिचारी और 'अनित्य' हैं और आत्मा अनुगत होने से 'नित्य' कहलाता है । अतः-''आत्मा की नित्यता और अनात्मा की अनित्यता का जो दृढ़ निश्चय है, उसी को विवेक कहते हैं।''

शिष्य प्रश्न करता है-''हे भगवन् ! यह तो सभी जानते हैं कि-शरीर आदि अनित्य हैं, और आत्मा नित्य है, ऐसे विवेक ही से वैराग्यादि उत्पन्न होते हैं। परन्तु-ऐसा विवेक तो कर्मी पुरुषों को भी होता है, क्योंकि-शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान; कर्म का हेतु है। यदि-शरीर रूप ही आत्मा को जानें तो शरीर जब यहीं भस्म हो जावेगा; फिर कर्म के फल को कौन भोगेगा ? इससे भोगने वाले को जुदा ही मानते हैं, फिर उनको वैराग होना चाहिये, सर्व कर्मों से रहित होना चाहिए, परन्तु-इस प्रकार होते तो नहीं हैं, कर्मों को ही करते देखने में आते हैं, सो इसमें कारण क्या है ? आप कृपा करके कहिये'' ।

गुरु कहते हैं-''हे शिष्य ! यद्यपि कर्मी को देह से भिन्न और नित्य रूप करके आत्मा का ज्ञान है भी; परन्तु-अकर्ता रूप से आत्मा का ज्ञान कर्मी को नहीं है। इसी से वैराग्य आदि उत्तम

साधन नहीं होते हैं। और जो तुमने कहा था कि-'ऐसा सभी जानते हैं कि-आत्मा नित्य है, और शरीर आदि अनित्य हैं।' सो तो तेरा कहना दुरुस्त है; परन्तु उनके निश्चत में भेद है। क्योंकि-विवेकी पुरुष को तो अन्वय व्यातिरेक युक्तियों के सम्बन्ध में विचार पूर्वक दृढ़ निश्चय है, और अविवेकी का विवेक 'स्मशान-वैराग्य' की नाईं होता है, इसी कारण अविवेकी की शरीर आदि में आत्मा बुद्धि होती है। और विवेकी को दृढ़ निश्चय होने से शरीर आदि में आत्मबुद्धि नहीं होती है, इसी से विवेकी को वैराग्यादि उत्पन्न होते हैं, और अविवेकी को आत्मा अनात्मा का दृढ़ निश्चय पूर्वक विवेक है नहीं, इसी से वैराग्य नहीं होता है; अतः-उसको अविवेकी कहते हैं।

इस प्रकार सुनके **शिष्य पूछता है**-हे भगवन्! आपने यह जो विवेक का कथन किया है उसमें 'रत्नपना' क्या है ? और इसका 'कारण' 'स्वरूप' तथा 'फल' क्या है ? और उसकी 'अवधि' क्या है ? सो आप कृपा करके कहिये'।

गुरु कहते हैं कि-जैसे रत्नों से अनेक प्रकार के स्वर्ण, रजत आदि अशरफियें सराफे में प्राप्त होती हैं, तैसे ही विवेक रूपी रत्न से सतसंग रूपी सराफे में अनेक प्रकार के वैराग्यादि अशरफियें, रुपये प्राप्त होते हैं, और जिस प्रकार द्रव्य पदार्थ से व्यावहारिक सुख की प्राप्ति होती है, तैसे ही-वैराग्यादि से

पारमार्थिक आनन्द की प्राप्ति होती है, यही उस विवेक में रत्नपना है ।

पूर्व जो तीन प्रकार की भक्ति कही थी; सो वास्तव में ऐसी भक्ति से चित्त की एकाग्रता होकर सत् असत् पदार्थों का विचार उत्पन्न होता है, इस प्रकार विचार करने पर पदार्थों से नित्य अनित्य वस्तु का विवेक उत्पन्न होता है इसलिये भक्ति और विचार में दोनों ही विवेक के कारण हैं । और नित्य, अनित्य से तात्पर्य यह है कि-आत्मा तो नित्य है, और जो वैराग्य आदि के उत्तम साधन विवेक से होते हैं; यही विवेक का फल है । और ज्ञान प्राप्ति होने पर्यंत उसकी अवधि है । और वह विवेक रत्न जो कहा है उसे जिज्ञासु पुरुषों को अवश्य सम्पादन करना चाहिये क्योंकि-यही ज्ञान के अन्तरंग साधनों का मूल है ।

॥ इति श्री विवेक रत्न समाप्तम् ॥

।। अथ वैराग्य रत्न ।।

।। कुण्डलिया ।।

वैराग नाम यक कहत हैं, उभय भेद तिहिं जान ।
पर अपर दो कहत हैं, तिन का करूं बखान ।।
तिन का करूं बखान अपर का यह विस्तार ।
यत्तमान व्यतिरेक एक इंद्रिय अरु वशिकार ।।
वशीकार है तीन विधि तीव्र तर तीव्र मन्द ।
जो इन को धारन करे सोइ पावै गुप्तानन्द ।।

अर्थ यह है कि:- एक ही वैराग्य के 'पर' और 'अपर' दो भेद हैं। इस में अपर-वैराग्य के चार भेद हैं-यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार। वशीकार भी मन्द, तीव्र और तीव्रतर ऐसे भेद से तीन प्रकार का होता है। ये सब एकही वैराग्य की तारतम्यता करके भेद कहे जाते हैं। परन्तु-जितनी वैराग्यमाला है; उस से तात्पर्य-सूक्ष्म, स्थूल; लोक, परलोक के जो पदार्थ हैं; उन सबके त्याग करने ही का है।

।। दोहा ।।

भोग लोक परलोक का मन में रहे न राग ।
दारा सुत वित गेह का करना चाहे त्याग ।।

ऐसी बात विचार के छांडि गये नृपराज ।
धारण कर निरवेद को कीन्हा अपना काज ॥

अर्थ यह है कि-स्त्री, पुत्र, धन, आदि इस लोक के जितने भोग पदार्थ हैं, और अमृत पान अप्सरादिक जो ब्रह्म-लोक के भोग हैं, उन सबका 'राग' मन से जिसने दूर किया है, और उनके 'त्याग' करने की इच्छा जिसको उत्पन्न हुई है-उस पुरुष को ऐसा विचार करना चाहिये कि-इन भोग पदार्थों में सुख होता ? तो राजा लोग राज को छोड़ के वैराग्य को क्यों धारण करते ? इसी से जाना जाता है कि-पदार्थों में सुख नहीं है । जो पदार्थों में सुख होता तो उन राजाओं को तो बहुत से पदार्थ प्राप्त थे, इस प्रकार अपने चित्त में विचार करना चाहिये कि-विषयों के भोग से सुख नहीं होता है, किन्तु विषयों के त्याग में ही सुख है । इसी युक्ति के न्याय को विचारना चाहिये कि-विषयों में जो सुख प्राप्ति की इच्छा है; उसको त्याग के सर्व विषयों का त्याग करना चाहिये, क्योंकि-जिन राजाओं को सर्व भोग पदार्थ प्राप्त थे उन को भी सुख नहीं हुआ; तो हमारे को कहाँ से सुख होगा ?' इस प्रकार से जो विचार करता है; सो ही वास्तव में मनुष्य है । जो मनुष्य शरीर पाके ऐसा विचार करके वैराग्य धारण नहीं करता है-वह गर्दभ के समान है । इसी पर तेरे को एक—

(१)

राजा, साधु, शोक-निवर्तन न्याय

सुनाते हैं; सो तू सुन-एक राजा को मन्द वैराग्य उत्पन्न हुआ था। मन्द वैराग्य का लक्षण है कि-न तो विषयों का त्याग होना, और न भोग होना। उभयतः संदेह ही रहता है। इस प्रकार वह राजा दोनों तरफ संदेह करके शोकातुर हुआ। तब कामदार मंत्री आदि सभी लोग राजा की दशा देख के चिन्ता में रहे और आपस में विचार किया करते कि-''राजा की तो ऐसी दशा हो गई कि जैसे कोई सर्प चूहे के धोखे में छछूंदर पकड़ लेता है, तब वह उसको खाता भी नहीं और न उसको छोड़ता है, क्योंकि-उसको खावे तो कोढ़ी हो जावे, और छोड़े तो वह उसके नेत्र फोड़ दे। इसी प्रकार राजा को भी कोई बड़ा भारी भेद आके प्राप्त हुवा है इसकी निवृत्ति का कोई उपाय करना चाहिये। क्योंकि-सच्चा मंत्री भी वही है; जो अपने महाराज को दुःख प्राप्त होने पर उसकी निवृत्ति का उपाय करे, नहीं तो सुख में तो बहुत मंत्री हो जाते हैं''।

जब इस प्रकार मंत्रियों ने विचार करके अच्छे बुद्धिमान् पंडितों को बुला के पूछा कि-''महाराज ! राजा को जो बड़ा भारी शोक हुआ है; उसकी निवृत्ति का कोई उपाय आप बताइये'' मंत्रियों की बात सुनके पंडितों ने कहा कि-'शोक निवृत्ति तो कोई साधु

महात्मा करते हैं; इससे तुम किसी साधु को ढूंढ के लाओ' तब मंत्री ने चारों तरफ ढूंढने वाले भेज दिये । किसी जगह गुरु चेला दो साधू मिल गये, उस समय वे अपनी कुटिया को लीप रहे थे । ढूंढने वालों ने उनको नमस्कार किया, और कहने लगे कि 'महाराज ! आप कृपा करके चलिये, हमारा राजा बड़े शोक को प्राप्त हुआ है, उसके शोक को आप निवृत्ति कीजिये ।' तब गुरु ने कहा कि-'बहुत अच्छा', और चेले से कहा कि-'जाओ, राजा के शोक को निवृत्त करो ।'

वह मिट्टी से भरा हुआ ही चल दिया, और उनके संग में राजा की कचहरी में आया । तब राजा ने उस महात्मा की तरफ देखा, उसको बेढंगा देखके उस राजा को हंसी आई, और अपने पास में उसके वास्ते गादी बिछवादी । वह तो मिट्टी से भरे हुए शरीर से उस गादी पर एक दम गिर गया, क्योंकि-''डोल ढंग दुनिया; बेढंग फकीर'' अर्थात्-जैसे राजा तैसे ही फकीर ।

वह राजा कहने लगा कि-'महाराज । आप में और गधे में कितना फर्क है ? आप बताइये ।' वह महात्मा अपने और राजा के बीच की जमीन हाथ से नापकर कहने लगा कि''-गधे में और हमारे में दो हाथ का फर्क है ।'' तब तो राजा लज्जित होके बोला कि-'महाराज ! आपने तो हमारे को ही गधा बनाया; मैं किस रीति से गधा हूँ ? सो कहिये ।'' उस महात्मा ने उत्तर दिया कि-'हमने अपनी युक्ति से तुमको गधा नहीं कहा है, किन्तु-तुम्हारे जैसे को शास्त्र ही गधा कहता है:—

श्लोक

आत्मानमात्मस्थमवेत्ति मूढः,
संसारकूपे परिवर्तितो यः ।।
कृत्वाऽऽत्मरूपं विषयान्हि भुंक्ते ।
मतः स साक्षान्नर एव गर्दभः ।।

भावार्थ यह है कि-आत्मा को परमात्मा रूप करके तुमने नहीं जाना है, और संसार रूपी कूप में पड़े हुवे हो; इसी से तुम मूढ़ हो, और आत्मा का जो 'व्यापक-रूप' है; सो भी तुमने नहीं जाना है; और यत्किंचित् वैराग्य के होने से पदार्थों में दोष-दृष्टि होने के कारण उनको भी भोग नहीं सक्ते हो; ऐसे पुरुष को ही शास्त्र ने साक्षात् 'गर्दभ' कहा है । इस प्रकार के लक्षण तुम्हारे में घटते हैं, इसी से तुमको गधा कहा गया है ।''

इस रीति से जब मंद वैराग्यवाले को भी गर्दभ कहा है; तो जिस को सर्वथा वैराग्य का अभाव है; उसके गर्दभपने में क्या संशय है ? वह तो साक्षात् गर्दभ ही है, उस से परे और गर्दभ कौन होगा ? यह दशा गृहस्थ की कही है ।

जो वैराग्य को धारण करके विषयों का त्याग नहीं करता है, वह लाख गर्दभों का गर्दभ है । इस से जिसने घर, ग्राम छोड़कर वैराग्य धारण किया है, उसको 'स्त्री-संग' तथा 'पैसे का संग्रह' नहीं करना चाहिये क्योंकि ये दोनों वैराग्य के नाश करने वाले

हैं। महात्मा पुरुषों का तो वैराग्य ही धन है, वैराग्य जिसके नहीं होता है; उसी को साधु लोग कंगला कहा करते, हैं। और जिसको वैराग्य से भी वैराग्य होता है; वही सबसे उत्तम कहा जाता है। सर्व पदार्थों से वैराग्य को उत्तम और निर्भय कहा है—

श्लोक—

भोगे रोगभयं, सुखे क्षयभयं, वित्ते नृपालाद्भयं,
माने हानिभयं जये रिपुभयं रूपे जरायाभयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

इस रीति से महात्मा पुरुषों ने वैराग्य ही को सर्व पदार्थों से उत्तम और निर्भय कहा है। यही कारण है कि-वैराग्यवान् पुरुष सर्व पुरुषों से उत्तम और निर्भय दिखाई देता है। इसी पर एक—

(२)

'राजा-वज़ीर न्याय'

सुनाते हैं:-एक राजा का वजीर किसी समय अपने स्वामी से बात करता था; तब वह राजा किसी और ही तरफ काम कर रहा था, इससे वज़ीर की बात सुन नहीं सका, तो भी एक दो बार उस वज़ीर ने कहा, परन्तु-राजा की निगाह वज़ीर की तरफ नहीं हुई, तब वज़ीर हैरान हो के अपने को धिक्कार देता हुआ

चल पड़ा; और अफसोस करने लगा कि-''देखो, यह भी मनुष्य है और हम भी मनुष्य ही हैं, परन्तु-हम लोभ, मोह के वश होकर; कैसे दीन हो रहे हैं ! हम तो महाराज ! महाराज ! करते हैं, और वह हमारी तरफ नजर करके भी नहीं देखता है । इस से हमारे को धिक्कार है । ऐसी दीनता ने ही हमको दीन किया है, और ये लोभ, मोह ही हमारे से नीचे-कर्म करवाते हैं; इससे इनका त्याग ही करना योग्य है।'' ऐसा विचार करके वह राजा का वजीर सर्व का त्याग कर बनको चला गया ।

जब राजा को खबर हुई कि-'वज़ीर साहब तो संन्यासी बन के बन को चले गये ।' तब राजा ने और मंत्रियों से कहा कि-'चलो वज़ीर को मनाके लावेंगे ।' राजा और दूसरे मनुष्य जहाँ पर वज़ीर था वहाँ पहुँचे; और राजा ने वज़ीर को देखा कि-वो लम्बे पैर पसार जमींन पर पड़ा है । राजा उसके पास जाके बोलने लगा; तब वज़ीर नहीं बोला, तो राजा दो चार बार बात करने लगा, तो भी वह नहीं बोला । तब राजा कहने लगा कि-''वज़ीर साहब आपने इस प्रकार कब से किया ?'' तब वज़ीर ने कहा कि-''हाथ सिकोड़े जब से ।''

इस प्रकार वज़ीर के उत्तर देने पर राजा ने बहुत सी बिनती की कि-''आप हमारा कसूर माफ कीजिए और शहर को चलिये।'' तब वज़ीर ने अपने मन में विचार किया कि-''एक ही दिन के

वैराग्य से राजा हमारे आगे हाथ जोड़ के बिनती करता है; तो जाना जाता है कि-यह वैराग्य कोई बड़ी चीज है, इस को त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि-जिस राजा के भय से हमारा शरीर कंपायमान होता था; वो इस वैराग्य के बल से एक सूखे तृणवत् प्रतीत होता है।'' इस प्रकार विचारने लगा और राजा हैरान होकर अपने नगर को लौट आया। वैराग्य की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में एक दो पुरुष के परस्पर—

(३)

'श्रेष्ठता-विवाद, न्याय'

और भी श्रवण कर, वह इस प्रकार है कि किसी जगह दो पुरुष रहते थे। एक ने कहा कि-'चलो भैया ! ठाकुर जी के दर्शन करें।' तब दूसरा कहता है कि-'ठाकुर जी तो मैं ही हूँ।' यह सुन प्रश्न-कर्त्ता ने कहा कि-'तुम ठाकुर जी हो; तो मैं मुकुट हूँ।' तब उसने कहा कि-'मैं किरीट हूँ।' इस पर दूसरे ने कहा कि-'मैं पुष्प हूँ।' तब पहिले ने कहा कि - 'मैं भंवरा।' तो दूसरा बोला कि - 'मैं सूर्य हूँ।' पहिले ने कहा कि-'मैं कर्ण हूँ।' दूसरे ने कहा कि-'मैं दानी हूँ।' पहिला बोला कि-'मैं निरचाह हूँ।' तब दूसरे ने कहा कि-'इसमें आगे बढ़ने को और कोई भी रास्ता नहीं है।' वास्तव में ऐसी निरचाह वैराग्य से ही होती है, इससे

भी जाना जाता है कि-वैराग्य से बड़ा और कोई भी पदार्थ संसार में नहीं है। इसलिये जिज्ञासु पुरुषों को अवश्य चाहिये कि वैराग्य को ही धारण करें।

यह बात सुनके **शिष्य पूछता है** कि-'वैराग्य का कारण कौन है ? उसका स्वरूप तथा फल क्या है ? और अवधि कितनी होती है ! सो कृपा करके बताइये।'

श्री गुरु कहते हैं-कि "पूर्व जो नित्य-अनित्य पदार्थ का दृढ़ विवेक हुआ है; उससे अनात्म पदार्थ में 'दोष-दृष्टि' हुई है। यह 'दोष-दृष्टि' वैराग्य का कारण है। और विषयों का मन से 'त्याग' करना वैराग्य का स्वरूप है। और 'दीनता से रहित' होकर दीनों का सा स्वांग धारण करके फिरना ही वैराग्य का फल है। और संसार के जितने भोग पदार्थ हैं उन सबको मृग-तृष्णा के जलवत् जानना, जैसे मृगतृष्णा के जल से किसी की भी प्यास दूर नहीं होती है, तैसे ही पदार्थों से किसी की तृष्णा नहीं जाती है, इससे उनके त्याग करने से ही 'अमृत-भाव' की प्राप्ति होती है, यही वैराग्य की अवधि है। सर्व वेद शास्त्रों से विद्वान् पुरुषों ने यही तत्व निकाला है, इसी से इसको रत्न कहा है।

॥ इति श्री वैराग्य रत्न समाप्तम् ॥

॥ अथ षट् सम्पत्ति रत्न ॥

॥ दोहा ॥

एक साधन के बीच में, प्राप्त होयँ षट् बात ।
ताको षट् संपति कहें, अब भिन्न २ सुन तात ॥
दुष्ट विषय से रोकनो, मन कर्मेन्द्रिय ज्ञान ।
यासे शम, दम कहत हैं, समुझि करो पहिचान ॥

अर्थ यह कि-एक ही साधन में षट् पदार्थों की जो प्राप्ति होती है; उसको "षट् संपत्ति" कहते हैं। अब उनको जुदे २ कहते हैं, तू सुन-शास्त्र ने जिन विषयों का निषेध किया है; उन विषयों से मन के रोकने का नाम 'शम' है। और पंचज्ञान इंद्रियों और पंच कर्म इन्द्रियों को उन्हीं विषयों से हटाने का नाम 'दम' है। अब 'श्रद्धा' और 'समाधान' के सम्बन्ध में कहते हैं:—

त्रोटक छन्द ।

तीजी श्रद्धा को पाय जबी ।
गुरु वेद वचन सत् जान तबी ॥
चौथा समाधान समझ सोई ।
मन में विक्षेप नहीं कोई ॥

पंचमी उपरती सुन प्यारे ।
साधन अरु कर्म सभी जारे ॥
नेत्रों से नारि लखै जबही ।
तिहिदुःख अगार पेखै तबही ॥
यह छठी तितक्षा जोइ लहे ।
सो द्वंद धर्म का सरस सहै ॥
आतप अरु शीत क्षुधा तिरषा ।
स्वप्ने सम जानिके सहै मृषा ॥
जो ऐसी धारणा धारैगा ।
सो काम क्रोध को मारैगा ॥
यह सीख हमारी मानेगा ।
तब गुप्त रूप को जानेगा ॥

—o—

अर्थ यह है कि-''गुरु-वेद के वचनों को सत्य करके जानने का नाम 'श्रद्धा' है। यह श्रद्धा गुरु-वेद के वचनों को सत्य जानने से होती है। मन में किसी प्रकार की चंचलता नहीं होने को अर्थात्-किसी एक वस्तु में मन की वृत्ति ठहरने को 'समाधान' कहते हैं। साधन सहित सर्व कर्म को नहीं करे, अर्थात्-सर्व प्रकार के कर्म और उनके साधनों का त्याग करके केवल शम-दमादिक ही करे, और सर्व का त्याग करे, जब कभी नेत्र से नारी को देखे; तो उसे दुःख का स्थान जाने, इसी को 'उपरति'

कहते हैं। आतप, शीत, क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, मान, अपमान इत्यादिक द्वंद के सहन करने से 'तितिक्षा' की प्राप्ति होती है। जब कोई ऐसी धारणा को धारता है और महात्मा पुरुषों के वचनों को अङ्गीकार करता है; तब वह आप अपने को निराकार और व्यापक रूप जानता है। यह जो 'तितिक्षा' रत्न कहा है; सो नाना प्रकार की दीनता रूपी कंगाली का नाश करने वाला है और आत्मा रूप अलौकिक धन को देनेवाला है; यही उस में रत्नपना है।

शिष्य कहता है—"हे गुरो! यह जो आपने 'षट् सम्पत्ति रत्न' कहा है; इसका कारण कौन है? और इसका स्वरूप तथा फल क्या है? और इसकी अवधि किस प्रकार है? सो आप कृपा करके बताइये"।

गुरु कहते हैं—"पूर्व जो वैराग्य का कथन किया गया है; सो ही इसका कारण है, क्योंकि-वैराग्य बिना शम-दमादि के नहीं होते हैं। इससे वैराग्य ही षट् सम्पत्ति का कारण है, और जो षट् साधनों का जुदा २ कथन किया गया है; वह ही उसका स्वरूप है, इसके प्राप्त होने पर जो मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है; वह ही उसका फल है। इस प्रकार फल की प्राप्ति पर्यन्त प्रयत्न करना ही उसकी अवधि है। अतः जिज्ञासु पुरुष को प्रथम 'षट् सम्पत्ति' सम्पादन करना चाहिये।

॥ इति श्री षट् सम्पत्ति रत्न समाप्तम् ॥

ॐ

।। अथ मुमुक्षुता रत्न ।।

कवित्त —

मोक्षहि की इच्छा को मुमुक्षता कहत सुधी, जाको यह होय ताको मुमुक्षु पहिचानिये ।। सुख की हो प्राप्ति जोई दुःख की निबृत्ति होई, मोक्ष का स्वरूप यही वेदन में मानिये ।। समिध पाणि होय सत्‌गुरु के शरण जाये, ईश्वर से अधिक तामे भक्ति ही को ठानिये ।। पूर्वले पुण्य से गुरुदेव जो प्रसन्न होयँ तिन के प्रसाद गुप्तरूपहि को जानिये ।। १ ।।

अर्थ यह है कि-'सु' कहिये-'श्रेष्ठ' है 'धी' नाम 'बुद्धि' जिनकी ऐसे जो महात्मा पुरुष हैं; वे मोक्ष की इच्छा को 'मुमुक्षुता' कहते हैं। और जिस पुरुष में वह इच्छा उत्पन्न होती है; उसको ही 'मुमुक्षु' कहते हैं। जो ऐसा पूछे कि-'मोक्ष का स्वरूप क्या है ?' तो सुन-''अत्यन्त सुख की प्राप्ति और अत्यन्त दुःख की निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं''-यह वेद में मोक्ष का स्वरूप कहा है; जिस की प्राप्ति के वास्ते समिध पाणि कहिये हाथ पै कुछ भेंट रख के सत्‌गुरु के पास जाकर; ईश्वर से भी अधिक उनकी अनुकूल सेवा करे। तब ऐसी सेवा करने से अथवा किसी पूर्वजन्म के निष्काम-कर्म से गुरु प्रसन्न हो के आप ही कृपा करके; 'गो' अर्थात् 'इंद्रियें' उन सर्व का जो 'पति' अर्थात् 'प्रेरक' ऐसा

गूढ़ और सूक्ष्म जो चैतन्य आत्मा है; उसको निज का स्वरूप करके जना देते हैं। ऐसी जो यह मुमुक्षता है-सो अलौकिक रत्न है।

क्योंकि-जो लौकिक रत्न हैं उनका तो मोल सराफे में होता है, जौहरी उनके आकार को देखता है; तब कीमत करता है। परन्तु-आत्मा रूपी रत्न निराकार और अमोल है; उसकी प्राप्ति के वास्ते जिज्ञासु 'सत्संग रूपी सराफे' में जाता है; तो तहाँ सत्गुरु ही जौहरी हैं, वे कैसे हैं ? वे 'निराकार' और 'गूढ़' कहिये-तीनों शरीर और पंचकोश से ढँके हुवे आत्मा को साक्षात् स्वरूप करके जना देते हैं। इसमें जिज्ञासा ही कारण है; इसी से उसको रत्न कहा है। अतः यह तो जिज्ञासु को अवश्य ही प्राप्त करना चाहिये।''

शिष्य कहता है — ''हे भगवन् ! यह मुमुक्षता रत्न तो ठीक है, परन्तु-इसका कारण कौन है ? और स्वरूप क्या है ? तथा फल क्या है ? और इसकी अवधि किस प्रकार है ? सो आप कृपा करके कहो।''

गुरु कहते हैं— ''पूर्व जो साधन कहे हैं, सो परम्परा से तो सभी कारण हैं, परन्तु-साक्षात् कारण 'षट् सम्पति' ही है। और इसका स्वरूप पूर्व छन्द में कथन किया वही है। मोक्ष की इच्छा को मुमुक्षुता कहते हैं, सोही इसका स्वरूप है। और श्रवण की प्राप्ति ही इसका फल है। जब तक श्रवण दृढ़ नहीं हो; तब तक करे, फिर नहीं करे यही इसकी अवधि है।''

॥ इति श्री मुमुक्षुता रत्न समाप्तम् ॥

ॐ

॥ अथ श्रवण रत्न ॥

प्रथम श्रवण का स्वरूप दिखाते हैं—

॥ दोहा ॥

जो सुनने में आवता, सबही सरवन जान ।
अधिकारी के भेद से, जुदा जुदा पहिचान ॥ १ ॥
जो अधिकारी ज्ञान का, गुरु से पूछे तत्त्व ।
महावाक्य के अर्थ का, सरवन करना नित्त ॥ २ ॥

अर्थ यह है कि-जो कुछ सुनने में आता है; सो सभी श्रवण कहा जाता है। यह तो श्रवण का साधारण स्वरूप है, जैसे—ईश्वर, ईश्वर की इच्छा, ईश्वर का प्रयत्न, और ज्ञान। तैसे ही-देश, काल, अदृष्ट, प्रागभाव और प्रतिबंधाभाव ये नौ, सर्वकार्य के कारण होने से 'साधारण-कारण' कहे जाते हैं। और जो एक ही कारण हो; वह 'असाधारण-कारण' होता है, जैसे-रसना इंद्रिय से एक रस का हीं ज्ञान होता है, सुगंध आदि का नहीं होता है। तैसे ही जो श्रवण किसी एक ही के वास्ते हो; वह श्रवण का असाधारण स्वरूप कहलाता है। जैसे-महावाक्य का श्रवण, एक ज्ञान की इच्छा वाले के ही वास्ते है, इससे 'महावाक्य के श्रवण को असाधारण श्रवण' कहते हैं।

जो पुरुष आत्मज्ञान की इच्छा वाला है; सो सत् वस्तु को ही गुरु से पूछता है; और महावाक्य के अर्थ को ही बार-बार श्रवण करता है। क्योंकि-हर वक्त वेदान्त का चिंतन करने से संशय की निवृत्ति हो जाती है। संशय ही पदार्थ के ज्ञान में प्रतिबंध होता है। इसी को 'असंभावना' भी कहते हैं। वह भी दो प्रकार की होती है, एक तो प्रमाणगत' और दूसरी 'प्रमेयगत' कहलाती है। प्रमेयगत को आगे कहेंगे, यहां 'प्रमाणगत' का विवेचन करते हैं-प्रमाण कहिये 'शास्त्र' 'गत' अर्थात्-उस (शास्त्र) में 'असंभावना' या 'संशय' यह है कि-वेदान्त के वचन स्वर्ग या मोक्ष का कथन करते हैं; इसमें जो संशय है-उसको 'प्रमाणगत असंभावना' कहते हैं। सो वेदान्त शास्त्र के बारम्बर श्रवण करने से ऐसी प्रमाणगत असंभावना की निवृत्ति हो के निस्संशय हो जावेगा।

जैसे-रत्न के परखने वाले जौहरी होते हैं; जो नाना प्रकार की युक्ति सुना के उस रत्न वाले को निस्संशय कर देते हैं, तैसे ही यह जो श्रवण है, उसमें अनेक प्रकार के जो संशय हैं-जैसे- "वेदान्त शास्त्र के सुनने का हमारे को अधिकार है ? वा-नहीं है ? अब इस प्रकार श्रवण करने से कौन फल होता है ? स्वर्ग प्राप्त होता है कि-मोक्ष ? अथवा-इसका सुनना निष्फल ही होता है ?" इस रीति से जो अनेक प्रकार के संशय होते हैं, उन सर्व

संशयों को जौहरी की नाईं जो गुरु है, सो अनेक प्रकार की युक्ति सुना के शिष्य को निस्संशय कर देते हैं ।

आत्मा सर्व में होने से आत्मजिज्ञासा सर्व को ही होती है, इससे 'श्रवण का सभी को अधिकार है' । और स्वर्ग को तो वेदान्त ने बारम्बार 'अनित्य' कहा है, अतः-नित्य जो 'मोक्ष' है उसके प्रतिपादन करने से वेदान्त की सफलता है । इसी से वेदान्त में अपूर्वता है । इस प्रकार की युक्ति रूपी बाघिनी को देख श्यालरूपी-संशय भाग जाता है । इस रीति से श्रवण रूपी रत्न में जो नाना प्रकार के संशय हैं; उनसे जिज्ञासु को निस्संशय होकर श्रवण करना चाहिये । इसी से उनको रत्न कहा है । और जिज्ञासा ही श्रवण का कारण है । पूर्व जो साधारण व असाधारण दो प्रकार का श्रवण कहा; सो ही इसका स्वरूप है, और असंभावना की निवृत्ति इसका फल है । मनन करने की सामर्थ्य नहीं हो; तब तक श्रवण करते रहना यही श्रवण की अवधि है ।

॥ इति श्री श्रवण रत्न समाप्तम् ॥

॥ अथ मनन रत्नम् ॥

दोहा—

मनन तिसी को कहत हैं, मनसे करे विचार ।
बैठि इकान्तिक देश में, सोधे सार असार ॥
युक्ति बाधक भेद को, अरु पुनि कहे अभेद ।
तिनहीं करिके दूर होय, असम्भावना खेद ॥

अर्थ यह है कि-पूर्व गुरुमुख से महावाक्यों का जो श्रवण किया था; उसको एकान्त स्थान में बैठे के; विचार करके, सार और असार का शोधन करने को 'मनन' कहते हैं ।

शिष्य कहता है—"हे भगवन् ! आपने जो सार असार का शोधन कहा; सो सार क्या है ? और असार क्या है ? और इनका शोधन किस प्रकार होता है ? सो आप कृपा कर कहिये।" इस पर से **गुरु कहते हैं**—'हे शिष्य ! पूर्व "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि जिन महावाक्यों का श्रवण कहा है; उन सर्व वाक्यों के तीन २ पद होते हैं । 'अहं' पद जीव का वाचक होता है 'ब्रह्म' पद ईश्वर का वाचक होता है, और 'अस्मद्' पद चेतनमात्र का वाचक होता है ।

शुद्ध-सतोगुण वाली 'माया' में चेतन का जो आभास पड़ा है; उसको 'ईश्वर' कहते हैं, और मलिन-सतोगुण वाली जो 'अविद्या' है, उसमें चेतन का जो आभास है, उसको 'जीव' कहते हैं। इस प्रकार जीव अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति, पराधीनता, आदि अनेक जीवत्व धर्म वाला है। और माया में आभास जो ब्रह्म है, सो कैसा है ? सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, और स्वतंत्र है, इनके अतिरिक्त और भी ईश्वर धर्म उसमें बहुत हैं। परन्तु-जीव ईश्वर के अल्पज्ञता, सर्वज्ञता, आदि जितने धर्म कहे हैं, सो सब औपाधिक धर्म हैं। वास्तव में उनके कोई धर्म नहीं है। क्योंकि-यह माया और अविद्या उपाधि है, इसी से जीव और ईश्वर में सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का आरोपण किया जाता है, वास्तव में चेतन का कोई धर्म नहीं है।

अतः-जो कोई धर्मों के सहित जीव और ईश्वर की एकता कहता है; वह महामूर्ख है। क्योंकि-दोनों के धर्मों का आपस में विरोध है, फिर जिनका विरोध हो; उनके संबंध में एकता कहना मूर्खता नहीं तो क्या है ? जैसे कोई मलिन-कर्म करने वाले भंगी की ब्राह्मण से एकता कहें; सो वह सम्भव कैसे होगी ? ब्राह्मण का धर्म तो वेद अध्ययन आदि शुद्ध है; और भंगी का धर्म-मूत्र विष्टा उठाना मलिन है, इससे उन धर्मों का विरोध है। और जब धर्मों को त्याग दें तो मनुष्य मात्र में एकता बन सकती है, उसमें कोई भी विरोध नहीं है।

जैसे-'घटाकाश' और 'मठाकाश' की घट, मठ उपाधि के सहित एकता कहें; तो नहीं बनती है, क्योंकि-घट में दस सेर अन्न समाता है और मकान में हजारों मन आ सकता है, फिर उनकी एकता कहना कैसे बने ? इससे उपाधि सहित एकता कहना विरुद्ध है। घट मठ रूपी उपाधि और उसके जो आननरूप धर्म हैं; उन सर्व को त्याग के केवल आकाशमात्र की एकता बनती है । इसी प्रकार माया, अवद्यिा और उनके सर्वज्ञता अल्पज्ञता आदि धर्मों के सहित एकता नहीं बनती है । परन्तु-उन सर्व को त्याग के ''चेतन-मात्र एक ही है, वही सार है, और सर्वज्ञता-अल्पज्ञता आदिक धर्म सहित माया-अविद्या असार है ।'' इस प्रकार से विचार करके सार और असार का भली प्रकार निश्चय करना चाहिये ।

अब दूसरे दोहे का अर्थ कहते हैं-प्रमेय कहिये 'जीव-ब्रह्म का एकत्व' गत कहिये उसमें 'असंभावना' अर्थात्-संशय, और खेद । अर्थात्-दुःख रूपी भेद की बाधक और अभेद की साधक जो युक्तियाँ हैं; उनसे 'प्रमेय-गत' असंभावना को दूर करे । यदि, ऐसा कहें कि-प्रमेयगत असंभावना क्या है ? तो सुन-यह जो वेदान्त-शास्त्र के वचन जीव-ब्रह्म के 'भेद' को, अथवा 'अभेद' को कथन करते हैं ? इसका नाम 'प्रमेयगत असंभावना'

है। इसकी निवृत्ति के वास्ते भेद के बाधक, और अभेद के साधक युक्तिपूर्वक महावाक्यों के अर्थ का बारंबार चिन्तवन करना चाहिये, इसी को मनन कहते हैं।

अपने चित्त में इस प्रकार विचार करे कि-'वास्तव में द्वैत है नहीं, क्योंकि-यदि परमार्थ से द्वैत हो तो उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये, कहते हैं कि-परमार्थ से एक चेतन सत्‌रूप, त्रिकालावाध है। जो वस्तु परमार्थ से सत् हो उसकी तीन काल में निवृत्ति होती नहीं है, और द्वैत की तो अद्वैत ज्ञान से निवृत्ति हो जाती है। इससे 'द्वैत माया-मात्र है,' सो 'माया' और उसका 'कार्य-प्रपंच' मिथ्या होने से मुझ चैतन्य में द्वैत कर सकता नहीं। जैसे-वास्तविक रज्जु में सर्प है ही नहीं; तो फिर वह किसको काटेगा ? तैसे ही-वास्तविक माया का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है, इसी से माया को अचिंत्य शक्ति कहा है; जो युक्ति के आगे ठहर नहीं सकती।

वह युक्ति यह है कि-(१) यदि माया को 'सत्य' कहें; तो भी ठीक नहीं, क्योंकि-सत्य वस्तु का नाश नहीं होता है, और माया का ज्ञान से नाश हो जाता है, इससे माया सत्य नहीं कही जाती। और (२) जो माया को 'असत्य' कहें; तो भी बात नहीं बनती; क्योंकि-माया और माया के कार्य की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों काल में प्रतीत होती है, इसलिये असत्य भी नहीं कही जाती है।

(३) 'सत्य-असत्य' दोनों को मिला के कहें; तो भी ठीक नहीं, क्योंकि-जब सत्य असत्य ही संभव नहीं तो मिलाने की बात कहाँ ? इससे किसी रीति से भी माया का स्वरूप नहीं बनता । और यदि ऐसा कहें कि-(४) माया चेतन से 'भिन्न' है; तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि-चेतन से माया भिन्न है; तो जिस देश में माया है, उस देश में चेतन का अभाव होगा, और चेतन को तो वेद ने सर्वव्यापी कहा है, इससे वेद विरोध होगा, अतः-भिन्न कहना भी नहीं बनता है । यदि ऐसा कहें कि-(५) माया चेतन से 'अभिन्न' है; सो भी नहीं बने, क्योंकि चेतन स्वरूप में स्थिति होने को ही मोक्ष कहते हैं । जब नाना प्रकार के साधनों से चेतन स्वरूप में स्थिति होगी; तो मोक्ष दशा में जीव के साथ माया फिर चिपट जावेगी जिससे सब निष्फल होवेंगे ।

अतः-माया को अभिन्न कहना भी नहीं बनता है । और फिर (६) 'भिन्न अभिन्न' मिलाके कहें; सो भी नहीं बनेगा । यदि (७) माया को 'सावयव' कहें; तो भी नहीं बने । क्योंकि-माया सावयव हो; तो माया को प्रतीति होनी चाहिये । परन्तु वह नेत्र से किसी को प्रतीत होती नहीं है । और (८) जो माया को 'निरवयव' कहें; तो उससे जगत् की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए । क्योंकि-निरवयव पदार्थ से किसी की भी उत्पत्ति देखने में आती नहीं

है। मृत्तिका आदिक सावयव पदार्थों से घट आदि की उत्पत्ति देखने में आती है, निरवयव से किसी की उत्पत्ति नहीं होती है, इससे 'माया को उपादान कारण' कहा है। परन्तु-निरवयव उपादान नहीं होता है, इससे माया को निरवयव कहना भी बनता नहीं। और (९) 'सावयव-निरवयव' मिला के कहें; सो भी नहीं बनेगा, क्योंकि-सावयव निरवयव तो उसका स्वरूप बना ही नहीं, तो मिला के कैसे बनेगा ? किन्तु-किसी भी रीति से माया का स्वरूप सिद्ध नहीं होता है, इससे मिथ्या-माया से द्वैत नहीं होता है, जैसे-मिथ्या सर्प से रज्जु बिषवाली नहीं होती है। तैसे ही-मिथ्या माया से चेतन आत्मा में द्वैत नहीं होता है। माया उसे कहते हैं कि-"है तो नहीं, और है, ऐसी भासे"।

जैसे-'बाजीगर की बाजी' तैसे ही ब्रह्म आत्मा का वास्तव से भेद नहीं है; और भेद की नाईं प्रतीति होती है, इसी को माया कहते हैं। और जो ऊपर नौ युक्तियाँ कही हैं; उनसे माया का स्वरूप नहीं बनता है; तो आत्मा से ब्रह्म जुदा कैसे होगा ? और जो आत्मा से ब्रह्म को जुदा कहो; तो आत्मा से जो भिन्न है सो सब अनात्मा ही कहा जाता है, इससे ब्रह्म भी आत्मा से जुदा होगा ? तो यह भी अनात्मा ही होगा।

'ब्रह्म' को 'अनात्मा' किसी वेद शास्त्र ने अंगीकार किया नहीं है, इसी से जाना जाता है कि-आत्मा से ब्रह्म जुदा नहीं है। और

जो आत्मा को ब्रह्म से जुदा कहें; सो भी बने नहीं; क्योंकि-जिस देश में आत्मा है उसी देश में ब्रह्म नहीं होगा, और ब्रह्म को तो वेद ने 'सर्वव्यापी' कहा है, अतः वेद से विरोध होगा। यह किसी भी आस्तिक जन को अंगीकार नहीं हो सकता, इससे आत्मा भी ब्रह्म से जुदा नहीं है ।

ब्रह्म और आत्मा दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, जैसे 'वृक्ष' और 'तरु' दोनों पर्याय हैं। जैसे-एक ही आकाश के उपाधि भेद से चार नाम कहे हैं, तैसे ही उपाधि के भेद से चेतन के अनेक नाम कहे जाते हैं। जैसे घट उपाधि से घटाकाश कहते हैं और जल उपाधि से जलाकाश कहते हैं, बद्दल की उपाधित से मेघाकाश कहते हैं, और सर्व पदार्थों के अन्तर बाहर होने से महाकाश कहा जाता है। परन्तु-आकाश में कोई टुकड़े नहीं हुवे हैं; वह तो एक ही है ।

तैसे ही-कूट कहिये 'मिथ्या बुद्धि' के 'चिदाभास' उनमें जो निर्विकार चेतन है, वही कूटस्थ कहा जाता है। और बुद्धि तथा अज्ञान में चेतन के आभास को जीव कहते हैं। शुद्ध-सतो-गुण वाली माया में चेतन के आभास को ईश्वर कहा है, और सर्व पदार्थों के अन्तर और बाहर जो व्याप रहा है, उसको ब्रह्म कहते हैं। इस रीति से नामो का ही भेद है, वस्तु का भेद नहीं है।

अर्थात्-ब्रह्म से आत्मा जुदा नहीं है, आत्मा और ब्रह्म दोनों एक ही चेतन के नाम हैं, और ब्रह्म आत्मा का जो भेद जानते हैं, उनके लिये वेदों में 'भय' का कथन किया है, भेद दृष्टि वाले को पशु भी कहा है। इससे भी जाना जाता है कि-वेद भगवान का भी अभेद में ही तात्पर्य है।

जब इस प्रकार से युक्तिपूर्वक महावाक्यों के अर्थ का चिंतन करेगा, तब ब्रह्म आत्मा का अभेद निश्चय होकर एक परिपूर्ण आत्मा ही भासेगा, और जो-अनात्म पदार्थों का भेद भासता है; सो भी युक्ति से विचार करने पर नहीं भासेगा। सो युक्ति यह है कि-जितना पृथ्वी का कार्य घट, पट, वृक्ष, पहाड़ आदि है; सो सभी पृथ्वी रूप ही हैं। तैसे ही-पृथ्वी जल का कार्य होने से जल रूप ही है। इसी प्रकार-जल, अग्नि का कार्य होने से अग्नि रूप ही है। ऐसे ही अग्नि, वायु का कार्य होने से वायु रूप ही है। वायु, आकाश का कार्य होने से आकाश रूप ही है, और माया-विशिष्ट ईश्वर से आकाश की उत्पत्ति कही है; सो उसका कार्य होने से माया-विशिष्ट रूप ही है। उसमें जो माया भाग है; सो तो पूर्व कही रीति से मिथ्या है, और चेतन-भाग 'ब्रह्म-आत्मा' रूप एक ही है।

इस रीति से भी द्वैत नहीं है, क्योंकि-किसी भी तरफ को चलो आकाश तो एक ही है, तैसे ही विधि-मुख करके देखो, तो आत्मा

से ही सर्व का विधान करना पड़ेगा और जो निषेध-मुख करके देखो; तो आत्मा में ही सब का निषेध कहना होगा। किसी भी रीति से द्वैत नहीं बनता है। तेरी कल्पना में ही द्वैत है; सो कल्पना-मात्र ही है, जो तुझ अधिष्ठान से जुदी नहीं है, 'कल्पित-वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती है'।

ऐसी युक्तियों का बारम्बार विचार करने का नाम मनन है। इस प्रकार मनन करने से सार का ग्रहण होता है, यही उसमें रत्नपना है। और श्रवण ही उसका कारण है। क्योंकि-श्रवण बिना मनन नहीं होता है। और साधारण असाधारण, भेद से दो प्रकार का उसका स्वरूप है। प्रमेयगत असंभावना की निवृत्ति उसका फल है। महावाक्यों का अर्थ दृढ़ निश्चय नहीं हो, तब तक चिंतन करना चाहिये, और जब दृढ़ निश्चय हो जावे; तब नहीं करना-यही उसकी अवधि है।

॥ इति श्री मनन रत्नं समाप्तम् ॥

॥ अथ निदिध्यासन रत्न ॥

॥ दोहा ॥

निदिध्यासन ताको कहे, जीभ हिले नहिं होठ ।
विरती के प्रवाह में, होय नहीं कोइ खोट ॥
वृत्ति सजाती यों उठे, अन्तः करण मझार ।
जैसे पुम्बे से छुटे, टूटत नाहीं तार ॥

अर्थ यह है कि-पूर्व जो महावाक्यों के अनुसार जीव ब्रह्म के एकत्व का विवेचन किया; सो युक्ति पूर्वक चिंतन करने से जब दृढ़ हो गया है, तो फिर उसमें बाह्य इन्द्रियों के व्यापार की, और होठ हिलाने की कुछ जरूरत नहीं; अन्तर ही में अंतःकरण से वृत्तियों के प्रवाह को चलावे, और खोट कहिये-विजातीय अनात्माकार वृत्ति नहीं होने दे । अर्थात्-अन्तःकरण में 'सजाती' कहिये-ब्रह्माकार वृत्तियों का अखंड प्रवाह ऐसा चले कि-जैसे रूई के तूल को खैंचने से तार बंध जाता है और टूटता नहीं, इसी प्रकार वृत्ति का प्रवाह होने को निदिध्यासन कहते हैं ।

निदिध्यासन रूपी वृक्ष दृढ़ होने पर तत्काल ही फल देता है, जैसे वृक्ष के बोने में कुछ तेरी नहीं लगती है, किन्तु-प्रथम जमीन की सफ़ाई करने में ही देरी होती है । बीज तो जल्दी बोया जाता है, और फिर जल सिंचन, रखवाली से आदि लेकर जो हिफ़ाज़त

करनी होती है, उसमें देरी लगती है। परन्तु-हिफ़ाज़त करने से वह वृक्ष दृढ़ता को प्राप्त होकर फल जल्दी देता है। तैसे ही 'निदिध्यासन' रूपी जो वृक्ष है; उसे उपदेशरूपी बीज के बोने में कुछ देरी नहीं लगती है, परन्तु-जमीन रूपी अन्तःकरण के मल, विक्षेप की सफाई करने में देरी लगती है। उपदेश अर्थात्-श्रवण तो हर एक जगह हो जाता है, परन्तु-बीजरूप जो श्रवण होता है; उसकी मननरूप हिफ़ाज़त में देरी लगती है। क्योंकि-अनेक प्रकार की युक्ति से चिन्तनरूपी हिफ़ाज़त करनी पड़ती है; जिससे उस श्रवणरूपी बीज से मननरूपी पौधा कुछ काल पाकर दृढ़ होता है।

परन्तु-दृढ़ होने के बाद वह ''निदिध्यासनरूपी वृक्ष'' के रूप में होकर ''ज्ञानरूपी फल'' को जल्दी ही उत्पन्न कर देता है। ऐसे ज्ञानरूपी-फल के खाने से; 'अज्ञानरूपी-क्षुधा' दूर होकर दुःख की सदा के लिये निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी कारण जिज्ञासु पुरुषों को निदिध्यासन रूप वृक्ष की पुष्टि करना चाहिये, क्योंकि-यह महान् फल देता है। जैसे-किसी रत्न से महा द्रव्य की प्राप्ति होती है; परन्तु-उसके नाश होने के अनेक भय रहते हैं। परन्तु-उक्त ज्ञान रूपी धन का तो कोई भी नाश नहीं कर सकता है। 'चोर न चोरे, राज न डंडे, न कोई लूट सके'। गुप्त-ज्ञान रूपी महान् धन की ऐसी महिमा अनाड़ी लोग नहीं जान सकते हैं; इसी से निदिध्यासन को रत्न कहा है। मनन ही इसका कारण है, और जो ब्रह्म में अंतःकरण

की वृत्तियों को तैलधारावत् प्रवाह है; सो ही निदिध्यासन का स्वरूप है। विपरीत भावना की निवृत्ति इसका फल है। यदि-कोई ऐसा पूछे कि-''विपरीत भावना किसको कहते हैं ?' तो सुन—

जैसे स्वर्गादिक अनित्य है; तिनको नित्य जानना, और स्त्री, पुत्र, अशोच्य हैं; तिनको शोच्य जानना। इसी प्रकार कृषि, वाणिज्य, मदिरा-पान, आदि दुःख रूप हैं; तिनको सुख-रूप जानना, और शरीर आदि अनात्म हैं; तिनको आत्मरूप समझना ये चार प्रकार के कार्य अविद्या के कारण जैसे उलटे समझे जाते हैं, वैसे ही-अविद्या से यहाँ दृष्टान्त में शुद्ध सच्चिदानन्द, जन्म-मरण', तथा पुण्य-पाप, सुख-दुख से रहित, एक, परिपूर्ण ब्रह्म-स्वरूप ऐसा जो आत्मा है उसको असत्, जड़, दुख का भोगने वाला मानता है, इसी को विपरीत भावना कहते हैं, जिसकी निवृत्ति निदिध्यासन से ही होती है। क्योंकि-बारम्बार 'ब्रह्माकार वृत्ति' के होने से 'जीव-भाव' दूर होकर 'ब्रह्म-भावना' होने से अपने को 'ब्रह्म-रूप' ही करके जान सकता है, इससे जीव भाव दूर होता है। इस प्रकार विपरीत भावना की निवृत्ति निदिध्यासन का फल है। जब एक 'जीव-ब्रह्म' की एकता का दृढ़ निश्चय नहीं हो; तब तक निदिध्यासन करे, और जब दृढ़ निश्चय हो जावे, तब वृत्ति को परि-संख्या नहीं करे, यही इसकी अवधि है।

॥ इति श्री निदिध्यासन रत्न समाप्तम् ॥

ॐ

(१२)

अथ ज्ञान रत्न

॥ कवित्त ॥

वेदरूप उदधि में ज्ञान रत्न सुधा सम, करके यतन ताको मथि के निकालिये । गुरुदेव विष्णु है युक्ति की नेति करि, वार वार को अभ्यास ही मथन करि पालिये ॥ जीव देव अधिकारी निरवल होय रहा, प्याय ज्ञान सुधा असुर अहंकार गालिये । कीनी है जुगत भयो विष्णु समो गुप्त सुधा, सुरों को पिलाय कर असुरों को जालिये ॥१॥

अर्थ यह है कि-एक काल में देवता दैत्यों से निर्बल हो गये, तब हार मानकर के विष्णु भगवान् के पास आके कहने लगे कि-"हे भगवन् ! हम देवता तो निर्बल हो गये हैं, आप कृपा कर के कोई ऐसी युक्ति कीजिये कि-हमारे को बल की प्राप्ति हो"। तब विष्णु भगवान्, देवताओं और दैत्यों को इकट्ठे कर कहने लगे कि-"चलो सुमद्र को मंथन कर अमृत निकाल के तुम्हारे को पिलावें"। अब इस सम्बन्ध में बहुत विवेचन करने से कुछ प्रयोजन नहीं है, जो कोई बात दृष्टान्त अनुकूल है-सो आगे लिखी जावेगी ।

यहाँ दृष्टान्त में विष्णु भगवान् की नाईं गुरू है, और समुद्र की नाईं वेद है; जिस में-अमृत के समान 'ज्ञान रूपी रत्न' है। इसकी प्राप्ति के लिये सत्संग से लेकर निदिध्यासन पर्यंत जो साधन कहे हैं सोई 'यत्न' हैं। इन यत्नों से ज्ञान रूपी रत्न निकालना चाहिये। गुरुओं से जो नाना प्रकार की युक्तियों द्वारा बोध सम्पादन किया है, उनकी 'रस्सी' बनाके, उससे बारम्बार 'अभ्यास रूपी मंथन' करें। ऐसे अभ्यास को पालना, अर्थात्-पुष्ट करना चाहिये। और यह जीव ही देवताओं की नाईं है; जो निर्बल कहिये, अपने व्यापक ब्रह्मभाव को भूल के अनेक प्रकार के जीवत्व धर्मों को निश्चय करके तुच्छता को प्राप्त हो रहा है, यही इसमें निर्बलता है। इस पर तेरे को एक

"बाघ, बकरी,-न्याय"

सुनाते हैं; सो यह है कि-किसी एक बाघिन ने बाघ जाया था, उसी काल में किसी कारणवश वह बाघिन तो भग गई, और उसका बच्चा वहीं पड़ा रह गया। तब किसी ग्वालिये ने उसे उठाकर अपनी बकरियों में मिला लिया। वह शेर का बच्चा, बकरियों का दूध पीकर उनके संग में घास खाया करता था। वह अपने को वोकड़ा समझने लगा और काल पाय के बड़ा हो गया। तब किसी दिन उन बकरियों को देख के किसी वन का एक शेर चला आया और उनको पकड़ने के बास्ते चला। ये

बकरियाँ भय की मारी भगने लगीं, और उनके साथ वह शेर भी भगा ।

तब वन के शेर ने कहा-''अरे मूर्ख ! तू कैसा शेर है ? बकरियों के संग में भगा फिरता है !'' । तब वह बोला कि-''मैं शेर कैसे हूं ? मैं तो वोकड़ा हूं'' । यह सुनकर वह वन का शेर कहने लगा- ''अरे मूर्ख ! तू कुछ विचार के देख, जैसे शेर हम हैं, तैसाही शेर तू भी है, इन बकरियों में काहे को फिरता है ? तू देख तो सही, -जैसा हमारा स्वरूप है, तैसा ही तेरा स्वरूप है'' । तब उन बकरियों में रहने वाले शेर ने उस वन के शेर की तरफ देखा; और फिर अपने शरीर की तरफ देखा तो जैसा रंग रूप उसका था; तैसाही अपने को भी देखा । तब उसको कुछ संस्कार फुर आये, और उस वन के शेर को दहाड़ लगाई और जिन कर्मों के संयोग से शेर का शरीर रचा था, वे भी फुर आये। तब तो वह कूदने लगा और अपने को शेर रूप जानने लगा और उन बकरियों को मार मार के खाने लगा ।

इस सम्बन्ध में दृष्टांत यह है कि—यह 'चेतन' आत्मा ही 'शेर' है, जिसे 'मन रूप ग्वालिये' ने शरीर तथा इन्द्रियाँ रूपी बकरियों के साथ मिला दिया है । यह चेतन आत्मा शरीर व इंद्रियों में मिलकर उनके जो धर्म हैं; उन्हें वृथा ही अंगीकार करने लगा । अर्थात-''स्थूलोहं, कृशोहं, वधिरोहम्'' ऐसा अहंकार करके अपने को शरीर मानने लगा और इस प्रकार शरीर व इंद्रियादि

के धर्मों को अपने जानने लगा। तब नाना प्रकार के जीवत्व-धर्मों का अपने में आरोपण करके नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त हुवा। फिर किसी पुण्य कर्म के प्रभाव से वन के शेर के नाईं जो-विचारवान् महात्मा पुरुष हैं; उनसे मिलाप होने पर, जब वे वन के शेर की नाईं उसे समझाते हैं कि-

'अरे ! तू तो शुद्ध, सच्चिदानन्द, ब्रह्म-स्वरूप है; फिर अपने में शरीर इंद्रियादि के धर्मों को क्यों आरोपण करता है ? तूतो उत्पत्ति-नाश रहित, परिपूर्ण, सर्वधर्म से रहित, ब्रह्म-स्वरूप है''। जैसे वन के शेर ने दहाड़ लगाई थी; तैसे ही महात्मा पुरुष 'अहं ब्रह्मास्मि'' ऐसी दहाड़ सुनाते हैं; तब बकरियों के शेर की नाईं जो जिज्ञासु है; उसको पूर्व अनेक बार वेदान्तशास्त्र का श्रवण होने से, उसके संस्कार अन्तःकरण में सूक्ष्मरूप से स्थित होने के कारण, गुरुजनों के मुखारविन्द से वचन सुनते ही उनके बल में 'मैं ब्रह्म रूप हूँ'' ऐसी स्मृति आ जाती है, और वह अपने को ब्रह्मरूप जानता है। इस प्रकार बकरीपना जो 'ज़ीव-भाव' है; सो छूट जाता है। यही निर्बलता इस देवतारूपी जीव में हो रही है।

जैसे-विष्णु भगवान् ने समुद्र से 'अमृत-रत्न' को निकाल के देवताओं को पिलाया; तब वे बल को प्राप्त होकर असुरों को मार सके। तैसेही-यहाँ विष्णुरूप 'गुरु' ने समुद्ररूपी 'वेद' से सुधा की नाईं जो 'ज्ञान-रत्न' है, उसको नाना प्रकार की 'युक्ति-

रूपी रस्सी' से मंथन करके 'अधिकारी' पुरुषों को पिलाया है। तब उन्होंने 'ब्रह्म-भाव' रूपी बल को प्राप्त करके परिच्छिन्न 'अहंकार' रूपी असुरों को मारा है। और जैसे विष्णु ने देवता और असुरों का आपस में विवाद हुआ, तब युक्ति से मोहनीरूप धारण किया, तब उस रूप को देख के असुर मोहित हो गये। उस समय देवताओं को सुधा और असुरों को सुरा पिला के उनका विवाद मिटा दिया। तैसेही-देवरूपी 'जीव' और अनात्म 'अहंकार' रूपी असुरों का जो आपस में विवाद है; उसको मेटने के लिये विष्णुरूपी 'गुरु' अनेक प्रकार की गुप्त, प्रगट 'युक्ति' करके परिछिन्न अहंकार रूपी असुर को ज्ञानरूपी 'अग्नि' प्रज्वलित करके जला देते हैं-यह कवित्त का अर्थ है। अब ज्ञान का कुछ कथन किया जावेगा।

''सो ज्ञान क्या है'' ? ऐसा कोई पूछे तो सुन-''जिससे पदार्थ की ज्ञात होवे, उसको ज्ञान कहते हैं''। पदार्थों की ज्ञात तीन प्रकार से होती है। कहीं तो 'अनुमान' से ज्ञात होती है, जैसे-'पर्वतो वन्हिवान्'' कहीं-'स्मृति' रूप करके ज्ञात होती है; जैसे-'वह महात्मा,'' और कहीं 'इदम्' रूप करके ज्ञात होती है, जैसे-''यह महात्मा'' इसी प्रकार ज्ञान भी तीन प्रकार के होते हैं।

अब ज्ञानों को दिखाते हैं-जहां पर्वत आदि में वन्हि आदि का ज्ञान है; सो 'परोक्ष-ज्ञान' होता है। परोक्ष-ज्ञान के और भी बहुत भेद हैं; सो न्याय के ग्रन्थों में लिखे हैं। परन्तु-यह

अनुमान 'ज्ञान हेतु-अंश'' में तो 'प्रत्यक्ष' ही होता है और 'साध्यअंश' में 'अनुमिति' रूप होता है। सो भी प्रत्यक्षता को लेकर ही जो वन्हि आदि का परोक्ष ज्ञान है; उसका कारण होता है।

और जो पूर्व देखे महात्मा आदि की ज्ञात कराता है; उसको 'स्मृतिज्ञान' कहते हैं। इसके भी बहुत भेद हैं। कोई 'स्मृति' यथार्थ-ज्ञानजन्य-संस्कारों से होती है; सो 'यथार्थ स्मृति' कही जाती है, और भ्रमज्ञान-जन्य-संस्कारों से जो स्मृति होती है वह 'अयथार्थ-स्मृति' कही जाती है। इनके भी आगे दो दो भेद हैं। कोई बात संक्षेप में लिखी हो; परन्तु-पूर्वदृष्ट पदार्थ के ज्ञान-जन्य-संस्कार विद्यमान होने, और सादृश्य-वस्तु का दर्शन आदि होने से यह 'स्मृतिज्ञान' अपने विषय का ज्ञान कराता है। परन्तु-यह भी पूर्व दृष्टत्व प्रत्यक्षता को लेकर ही ''तत्'' अंश स्मृति करवाता है, सो तत्अंश में तो 'स्मृतिरूप' है और पूर्व दृष्टत्वअंश में 'प्रत्यक्ष-रूप' है, इससे वह भी प्रत्यक्षरूप होने से प्रत्यक्ष की सहायता को लेकर अपने विषय की सिद्धि करता है।

जो ''इदम्'' पदार्थ की ज्ञात करानेवाला ज्ञान है; सो 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहा जाता है। जैसे-'यह महात्मा है' सो छे प्रकार का होता है। कहीं तो श्रोत्र-इंद्रिय से प्रत्यक्ष होता है; सो 'शाब्दिकज्ञान' कहाता है, और कहीं चक्षु-इंद्रिय करके होता है; सो ''चाक्षुषज्ञान'' कहा जाता है, और कहीं घ्राण इंद्रिय से होता

है, सो ''घ्राणजज्ञान''कहा जाता है, और जहाँ त्वचा से ज्ञान होता है, सो ''त्वाच्यज्ञान'' कहा जाता है, और रसना से होता है, सो ''रसनाज्ञान'' कहाता है, और जो मन से होता है; सो ''मानसज्ञान'' कहा जाता है।

जैसे-सुख, दुख का जो ज्ञान है, सो मानस प्रत्यक्ष कहाता है। और शब्द का ज्ञान श्रोज्ञ से प्रत्यक्ष होता है; तैसे ही रूप का ज्ञान चक्षु से प्रत्यक्ष होता है; और गंध का ज्ञान नासिका से प्रत्यक्ष होता है; और ठंडे गर्म का ज्ञान त्वचा से प्रत्यक्ष होता है, तैसे ही रस का ज्ञान रसना से प्रत्यक्ष होता है। इस रीति से प्रत्यक्ष-ज्ञान षट् प्रकार का होता है। परन्तु-यह प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का होता है, एक तो 'प्रमा' और दूसरा 'अप्रमा' कहाता है। जैसे-रज्जु में अन्धकार आदिक दोष करके सर्प आदि का जो ज्ञान है; सो 'भ्रमज्ञान' कहा जाता है, और रज्जू का जो रज्जु रूप से ज्ञान है; सो 'प्रमा-ज्ञान' होता है, इसी को 'यथार्थ-ज्ञान' भी कहते हैं।

यह तो ज्ञान का साधारण लक्षण है। और जो केवल एक आत्मा का ही ज्ञान है; सो वह ज्ञान का असाधारण लक्षण है। जैसे-नेत्र से एक रूप का ही ज्ञान होता है; सो उसका साधारण लक्षण है, और यदि ऐसा पूछे कि-'आत्मा का ज्ञान कौन प्रमाण से प्रत्यक्ष होता है ?' तो सुन-यह कहना ऐसा है; जैसे कोई कहे कि-''सूर्य का प्रकाश किस लौकिक पदार्थ से होता है'' ? इस

वचन को सुन के दूसरा पुरुष कहता है, 'अरे मूर्ख ! जितने लौकिक पदार्थ हैं; सो तो सारे ही सूर्य के प्रकाश से प्रकाशवान होते हैं, सूर्य को कौन प्रकाश कर सकता है''? तैसे ही जितने ''प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय'' ''ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय'' ''द्दष्टा, दर्शन, द्दश्य'' कर्ता, क्रिया, कर्म ये सब त्रिपुटी हैं; जो ज्ञान-स्वरूप आत्मा के प्रकाश को पाकर ज्ञानवाली होती हैं, आत्मा का ज्ञान इनसे नहीं होता है। क्योंकि-ये तो सभी अनात्म और जड़ हैं।

इस प्रकार के पदार्थ से किसी का प्रकाश होता नहीं, परन्तु-जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहा दूसरे पदार्थों को प्रकाश कर सकता है, और जला भी देता है, परन्तु उस अग्नि के प्रकाश करने में और जलाने में उस लोहे की सामर्थ्य नहीं होती है। तैसे ही यह जो प्रमाता, प्रमाण आदि त्रिपुटी हैं, सो आत्मा के तादात्मसम्बन्ध से ज्ञानवाली होती हैं; तब इनसे किसी पदार्थ का ज्ञान होता है, परन्तु-आत्मा का ज्ञान उनसे कैसे होवे? आत्मा तो स्वयं प्रकाश है, और सर्व त्रिपुटी को प्रकाश करता है। इस प्रकार का चेतन आत्मा तू ही ''व्यापक ब्रह्म स्वरूप है'' ऐसा तू ही है, इसी बात को तू अपना निश्चय कर जब ऐसा तुझे द्दढ़ निश्चय होगा, तब उसी को तू द्दढ़ अपरोक्ष ज्ञान जानना।

यह ज्ञान श्रोत्र सम्बन्धी 'वाक्य' से होता है, परन्तु-वाक्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो 'महावाक्य' और दूसरे 'अवान्तर'

वाक्य होते हैं। जो वाक्य 'अस्ति' रूप से बोध करे उससे परोक्ष ज्ञान होता है, जैसे 'दशमोऽस्ति'' इस वाक्य से दशम का 'परोक्ष ज्ञान' ही होता है। और जहां वाक्य ऐसा बोध करे कि- ''दशवां तू है'' वहां वाक्य से 'अपरोक्ष ज्ञान' होता है। ऐसा ''अपरोक्ष ज्ञान'' ''तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि, प्रज्ञानमानंदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म,'' आदि महावाक्यों से होता है। 'मैं ब्रह्म रूप हूँ' ऐसा ज्ञान श्रोत्र सम्बन्धी महावाक्य से ही होता है, और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आनंदोवै ब्रह्म' ऐसे जो अवांतर वाक्य हैं; उनसे ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान ही होता है, सो मुक्ति का हेतु नहीं होता है।

दूसरा जो महावाक्य का उपदेश गुरुमुख से श्रवण किया है; और 'तत्त्वम्' पद के शोधन पूर्वक अर्थात्-माया अविद्या को त्याग के, शुद्ध चेतन मात्र को सर्व-भेदों से रहित अपना ही स्वरूप करके जानने को ही; ''अभेद निश्चय (ज्ञान)'' कहते हैं, और यही मुक्ति का देनेवाला है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के ज्ञानों का कथन करने में आता है, परन्तु-वे कोई भी मुक्ति के देनेवाले नहीं हैं।

नैयायिक आदि अज्ञानाऽभाव को भी ज्ञान कहते हैं; सो अत्यन्तविरुद्ध है, क्योंकि-ज्ञान के बिना अज्ञान का अभाव किसी रीति से बनता नहीं। अर्थात्-किसी कारण से ही कार्य का अभाव होता, जैसे-घट अभाव रूप कार्यः प्रतियोग के नाश रूप कारण के बिना, अथवा-प्रतियोगी के उठा ले जाने के कारण बिना,

अभाव किसी रीति से नहीं बनता है। और जो ऐसा कहे कि-अज्ञान से ही अज्ञान का अभाव होता है; सो भी बात नहीं है, क्योंकि-आत्माश्रय आदि दोषों की प्राप्ति होगी। इससे जाना जाता है कि-अज्ञान का अभाव एक ज्ञान से ही होता है। जैसे-अन्धकार का नाश और किसी से नहीं होता है; एक प्रकाश से ही होता है। तैसे ही-अज्ञान का नाश भी और किसी से नहीं होता है; एक ज्ञान से ही नाश होता है।

इन रीति से 'अज्ञान रूप' कार्य के नाश करने में एक ज्ञान ही कारण है, परन्तु यह ज्ञान भी अज्ञान के नाश करने में तभी समर्थ होता है; जब कोई 'प्रतिबन्धक' नहीं हो। प्रतिबन्धक के होने से ज्ञान अज्ञान का नाश नहीं कर सकता है; जैसे-राहू के रथ की छाया पड़ने से चन्द्रमा प्रकाश नहीं करता है और जो ऐसा कहे कि-'प्रतिबन्ध' किसको कहते हैं ? तो सुनः-श्रवण से पूर्व काल में जो किसी पदार्थ में चित्त की दृढ़ आशक्ति हो; उसी का श्रवण काल में बारम्बार चिंतन होता है, उसको 'भूत-प्रतिबन्ध' कहते हैं।

और 'भावी' यह है कि-जैसे 'प्रारब्ध कर्म'। यह भी अनेक प्रकार का विलक्षण होता है, जैसे-किसी एक ही कर्म को दस शरीरों का आरम्भ करना है; तो पहले शरीर में ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का श्रवण होने से भी ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि आगे नौ जन्म बाक़ी पड़े हैं; सो ही ज्ञान के प्रतिबन्ध हैं। जैसे-

सनकादिकों ने वामदेव आदि अधिकारी प्रजा को ज्ञान का उपदेश किया, परन्तु-प्रतिबन्ध के होने से वामदेव को अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ, क्योंकि-एक जन्म उसका बाक़ी और रहा था। ऐसे जन्म रूपी प्रतिबन्ध के अभाव होने से माता के गर्भ में ही, पूर्व के श्रवण से ज्ञान हो गया-यह वार्ता शास्त्रों में प्रसिद्ध है। तैसे ही भरत के तीन जन्म बाकी रहे थे, जब उनकी निवृत्ति हुई तब उसको ज्ञान हुआ,-इसको आगामी प्रतिबन्ध कहते हैं।

तीसरा जो वर्तमान प्रतिबन्ध है; सो चार प्रकार का होता है। एक तो-'विषयों में आशक्ति'' दूसरा-''बुद्धि की मन्दता'' तीसरा-पूर्वकाल में जो भेद वादियों के वचनों का श्रवण किया है, उनके संस्कारों से अनेक प्रकार की वेद विरुद्ध भेद की तर्कना जिनको 'कुतर्क'' कहते हैं, और चौथा ''दुराग्रह''-विपर्यय है। इस जीव के अनेक जन्मों में जीवत्व धर्मों का दृढ़ निश्चय होने से श्रवण काल में जीव भावना बनी रहती है, और ब्रह्म भावना नहीं होती (इसको दुराग्रह जानना) जब तक यह विपर्यय होता है; तब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता है, इसी से इसको प्रतिबन्ध कहते हैं।

'भूत-प्रतिबन्ध' की और 'वर्तमान-प्रतिबन्ध' की तो उपाय करने से निवृत्त हो जाती है, परन्तु-तीसरा जो 'भावी-प्रतिबन्ध'

है, उसकी निवृत्ति विलक्षण कर्म के भोगने से ही होती है, इससे उसमें पुरुषार्थ नहीं चलता है, परन्तु-प्रथम दोनों की तो पुरुषार्थ करने से निवृत्ति हो जाती है । इसलिये जिज्ञासु पुरुषों को उनकी निवृत्ति अवश्य करना चाहिये, क्योंकि-ज्ञान के प्रतिबन्ध से रहित होते ही मोक्षरूपी फल की प्राप्ति होती है ।

''वासना'' भी ज्ञान की प्रतिबन्धक होती है, और सो वासना दो प्रकार की होती है, एक तो ''शुद्ध वासना'' होती है; जोकि-जिज्ञासु को होती है; यह जन्मों का नाश करनेवाली है, और दूसरी ''मलिन-वासना'' होती है सो तीन प्रकार की होती है । एक तो लोक में पूजे जाने की जो इच्छा है उसे 'लोक-वासना' कहते हैं । दूसरी 'देह-वासना' है, वह अनेक प्रकार की होती है, ''मेरी देह बहुत अच्छी है, मेरी जाति सबसे उत्कृष्ट है, मेरा अङ्ग गोरा है, सर्व शरीरों में मेरा शरीर अच्छा है''-आदि इस प्रकार की सभी वासना मलिन कही जाती हैं, और जन्मों के देनेवाली होती हैं । तथा तीसरी 'शास्त्र-वासना' होती है, सो भी कोई तो 'पाठ-वासना' होती है; कोई 'अर्थ-वासना' आदि इस प्रकार 'शास्त्र-वासना' के भी बहुत भेद हैं, परन्तु-ये सभी मलिन वासनाएँ हैं, और जन्मों के देनेवाली हैं । इसलिये यह वासना भी ज्ञान का प्रतिबन्ध होने के कारण त्याग करने के योग्य हैं ।

छठा प्रतिबन्ध-'अभिनिवेश' है, उसी को सांख्य-मत में 'महत्तत्त्व' कहते हैं, और वेदान्त वाले उसे 'हृदय ग्रन्थी' और 'सूक्ष्म अहङ्कार' भी कहते हैं। पूर्व के सूक्ष्म संस्कारों का दृढ़ अध्यास होने से जो-'अनात्म स्थूल, सूक्ष्म संघात' है; उसे आत्मारूप करके जानने और श्रवण काल में भी यही भावना बनी रहने से इसको प्रतिबन्ध कहा है।

उक्त प्रकार की भावनाओं का त्याग करना चाहिये, क्योंकि-विरोधी की निवृत्ति हुए बिना कार्य की सिद्धि होती नहीं है। इसीलिये विरोधी की निवृत्ति की आवश्यकता है। इस रीति से प्रतिबन्ध से रहित जो यथार्थ ज्ञान है; वह मोक्षरूपी फल की प्राप्ति कराता है। जो पुरुष चारों साधन सम्पन्न हो और जिसकी बुद्धि सर्व प्रतिबन्धों से रहित हो केवल उसको महावाक्य के अर्थ का श्रवण होते ही ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार ब्रह्म आत्मा के एकत्व का दृढ़ निश्चय हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञानवान् पुरुषों के लक्षण शास्त्रों में नीचे लिखे अनुसार कहे हैंः—

श्लोक —

अक्रोध-वैराग्य-जितेन्द्रियत्त्वं क्षमा-दया-सर्वजनप्रिय त्वम् ॥ निर्लोभ-दाता-भय-शोकहीनं ज्ञानं प्रलब्ध्वा दश लक्षणान ॥१॥ निर्हंठो निर्विवादश्च निःशङ्कश्च निरंकुशः ॥ तृप्तश्च कृतकृत्यश्च ज्ञानिनःषट्सुलक्षणम् ॥

क—अर्थ यह है कि (१) क्रोध रहित होना (२) वैराग्यवान् होना (३) जितेंद्रिय अर्थात् खोटे विषयों से मन तथा इन्द्रियों को रोकनेवाला होना (४) क्षमावान् होना (५) दयावान् होना (६) प्राणीमात्र पर विशेष प्रकार का प्रेम करने वाला होना (७) निर्लोभी होना (८) दाता अर्थात्-ब्रह्मज्ञान का देनेवाला होना (९) भयहीन, अर्थात् जन्म-मरण के भय जिसके चले गये हैं, और (१०) सांसारिक पदार्थों के वियोग में जिसे शोक नहीं है,- ये दश लक्षण उसी में होते हैं; जिसको ज्ञान की प्राप्ति हुई है।

ख—ज्ञानी पुरुषों के षट् लक्षण और भी होते हैं,- (१) निर्हठ, अर्थात्-किसी प्रकार का किसी से हठ नहीं करते हैं, (२) निर्विवाद, अर्थात्-विवाद भी किसी से नहीं करते हैं (३) निःशङ्क अर्थात्-आत्म वस्तु में कोई भी शङ्का उनको नहीं है, और (४) किसी वेद शास्त्र की आज्ञारूपी अंकुश उनके शिर पर नहीं होता है, इसी से वे निरंकुश हैं (५) आत्मा में ही तृप्त रहते हैं, और (६) कृतकृत्य हैं। (इसी पर भगवान् ने कहा हैः—

श्लोक—यस्यात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।

विज्ञानवान् किसी पदार्थ से तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है और लौकिक तथा बैदिक सर्व कार्यों से रहित होता है) ये षट् लक्षण और उक्त दस ऐसे सोलह लक्षण ज्ञानवानों के कहे हैं।
इनके अतिरिक्त और भी 'अमानित्व' आदिक बहुत लक्षण हैं।

तात्पर्य यह है कि-जितने लक्षण जिज्ञासु में होते हैं, वे प्रयत्न साध्य होते हैं, और ज्ञानवान् में वे स्वाभाविक ही होते हैं।

इस बात को सुन के शिष्य कहता है-"हे भगवन्! यह जो आपने ज्ञान का कथन किया है, तिसमें ज्ञान का कारण कौन है? और उसका स्वरूप तथा फल क्या है ? और उसकी अवधि किस प्रकार है ? सो ये सब आप कृपा करके बताइये।"

गुरु कहते हैं-'हे शिष्य ! अब तू ज्ञान के कारण आदि का श्रवण कर, प्रथम तो 'विवेक' आदि चार ज्ञान के कारण हैं, परन्तु-ये चारों कारण श्रवण में प्रवृत्ति द्वारा हैं, क्योंकि-बहिर्मुख का तो श्रवण में अधिकार ही नहीं होता है, और श्रवणादिक जो तीन हैं, सो भी 'असंभावना' और 'विपरीत' भावना की निवृत्ति द्वारा ज्ञान के कारण हैं। और साक्षात् कारण तो श्रोत्र सम्बन्धी 'महावाक्य' ही होते हैं। वे ही ज्ञान के मुख्य कारण हैं। सत्य मिथ्या का विचार करके जीव ब्रह्म की 'एकता' का जो निश्चय किया है, वही 'ज्ञान का स्वरूप' है, और-सर्व प्रकार के कर्मों से रहित होके 'ब्रह्माकार-वृत्ति' को धारण करके 'विचरना' ही ज्ञान का 'फल' है। जैसा अज्ञान काल में शरीर में अहंकार था कि-मैं शरीर हूँ, वैसा ही अहंकार ज्ञान होने पर शुद्ध आत्मा में होता है, इसी को ज्ञान की 'अवधि' कहते हैं। इस रीति से ज्ञान रत्न का कथन किया।

॥ इति श्री ज्ञान रत्न समाप्तम् ॥

ॐ

॥ अर्थ जीवन-मुक्त रत्न ॥

सवैया छन्द

जीवन मुक्त भये जग में, जिन आतम पूरण ब्रह्म निहारच्या । पिंडरु प्राण के संयोगहु ते, भेद अरु भ्रांति का मूल उखारच्या ॥ प्रारब्ध संयोग से देह वहै नित, संचित और आगामी को जारच्या ॥ शुष्क तृणवत् भरमत है तन, इष्ट अनिष्ट अद्दष्ट अधारच्या ।

अर्थ यह है कि-जगत् में जीवन मुक्त वही है, जिसने आत्मा को "परिपूर्ण-ब्रह्म" रूप करके जाना है । पिंड प्राण के संयोग होने से पंच प्रकार की जो भ्रांति है, सो दिखाते हैंः-भेद-भ्रांति, कर्ता भोक्तापने की भ्रांति, संग की-भ्रांति, विकार-भ्रांति, और ब्रह्म से भिन्न जगत् के सत्यपने की भ्रांति, इन पंच प्रकार की भ्रांति की निवृत्ति जिन पंच दृष्टांतों से की जाती है, वे दृष्टांत यह हैंः—

बिंब प्रतिबिंब के दृष्टांत से भेद भ्रांति की निवृत्ति होती है, स्फटिक में लाल वस्त्र के लाल रंग की प्रतीति के दृष्टांत से कर्ता, भोक्तापने की भ्रांति की निवृत्ति होती है, घटाकाश के दृष्टांत से संग-भ्रांति की निवृत्ति होती है, रज्जु में कल्पित सर्प के दृष्टांत से विकार-भ्रांति की निवृत्ति होती है और कनक में कुंडल के दृष्टांत

से ब्रह्म से भिन्न जगत के सत्यपने की भ्रांति की निवृत्ति होती है। इस प्रकार की भ्रांति से जो नाना प्रकार का भेद भासता है उस भेद का और भ्रांति का मूल, कहिये जो-'अज्ञान' उखार्‌या, अर्थात्-ज्ञान रूपी असङ्ग शस्त्र से जिसने काट दिया है, और जिसका प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार होता है, और जिसने संचित और आगामी को ''ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितम्बुधाः'' उस ज्ञान रूपी अग्नि से जला दिया है और सूखे तृण की नाईं प्रारब्ध के बल से जिसका शरीर संसार में फिरता है। इष्ट कहिये अनुकूल और अनिष्ट कहिये प्रतिकूल अदृष्ट ऐसे दोनों के बल से वह विचरता है, इस प्रकार अहंकारता के भाव से रहित 'जीवन-मुक्त' पुरुषों का व्यवहार होता है।

ये सारा व्यवहार ऐसा है कि-जैसी भाँडों की संध्या होती है, और जैसे कुम्हार दंडा लगा के चक्र को फिरा देता है, तैसे ही प्रारब्ध रूपी डंडे से शरीर रूपी चक्कर फिरता है, जितना वेग चक्कर में पड़ता है, उतने समय तक फिरता है और वेग घटने से ठहर जाता है। तैसे ही प्रारब्ध रूपी वेग के घटने से शरीर रूपी चक्कर शांत हो जाता है।

परन्तु-सर्व ज्ञानवान् जीवन-मुक्तों का व्यवहार एकसा नहीं होता है, क्योंकि-प्रारब्ध कर्म सब के विलक्षण होते हैं। प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार भी विलक्षण होता है। किसी का प्रारब्ध

कर्म 'राज-पालन' का ही होता है, जैसे-जनक राजा का। किसी का प्रारब्ध 'भिक्षावृत्ति' का हेतु होता है, जैसे-दत्त, जड़ भरतादिक। किसी का प्रारब्ध कर्म ज्ञान से उत्तर काल में 'निवृत्ति' का हेतु होता है, जैसे—याज्ञवल्क्य आदि का। किसी का कर्म ऐसा भी होता है; कि ज्ञान से उत्तरकाल में 'अधिक भोगों में प्रवृत्ति' का हेतु हो, जैसे-सिखरध्वज का। इस प्रकार जीवनमुक्त महात्माओं का कहीं तो प्रवृत्ति का व्यवहार और कहीं निवृत्ति का व्यवहार देखने और सुनने में आता है।

परन्तु-प्रारब्ध के विलक्षण होने से व्यवहार भी विलक्षण ही होता है। परमार्थ में तो सभी का एक ही निशाना है, सो निशाना क्या है ? ''मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ'' ऐसा जो जानने का है, सो एकही बात है। इसमें किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है, और जितना व्यवहार भेद प्रतीत होता है, सो सभी 'प्रारब्ध-कर्म' से भासता है। सो प्रारब्ध भी ऐसा है, जैसे-शुक्ति में रजत कल्पित होता है, तैसे-'मैं ब्रह्म-आत्मा सर्व का अधिष्ठान होने से, मेरे में कर्त्ता, क्रिया, कर्म सब कल्पितरूप हैं''।

फिर कोई तो लिंग सन्यास धारण करके विचरते हैं, कोई तीर्थ में ही प्रारब्ध के आधीन विचरते हैं, कोई विधि कर्म को ही करते हैं, और कोई विधि को नहीं भी करते। परन्तु-जैसे आकाश धूवें में लिंपायमान नहीं होता है; तैसे ही जीवन्मुक्त किसी भी कर्म

से लिंपायमान नहीं होते हैं, क्योंकि-वे निस्पृही हैं। जिनको मुक्ति की भी इच्छा नहीं होती है, उनके समान और कोई मनुष्य, देवता तथा वर्णआश्रम वाला नहीं होता है; इसी से उनको 'अति-आश्रमी' और 'अति-ब्राह्मण' भी कहते हैं। ऐसे जीवन मुक्त विद्वान् किसी पुण्य पाप कर्म से लिंपायमान नहीं होते हैं, चाहे वे किसी विधि कर्म को करें चाहे न करें।

यह सुन शिष्य शंका करता है-''हे भगवन्! जिन संध्या गायत्री आदि कर्मों को पाप निवृत्ति के वास्ते वेद ने कथन किया है; उन कर्मों को ''जीवन-मुक्त'' नहीं करेगा-तो उसको भी पाप होगा ?'' इस पर से गुरु कहते हैं:—

'हे शिष्य! वेद ने पाप निवृत्ति के वास्ते संध्या गायत्री कर्म का जो कथन किया है, सो सब दिन तथा सब पुरुषों के वास्ते करने को नहीं कहा है। किन्तु-किसी काल में उनके करने का निषेध भी किया है, जैसे-सूतक पातक में उनका निषेध भी किया है। ऐसे ही ज्ञानवान् के लिए भी सर्व कर्मों का निषेध ही कथन किया है, क्योंकि-उनके घर में सूतक और पातक दोनों होते हैं।

कुण्डलिया

ममता माई मरि गई, पुत्र उपजा बोध ।। सूतक पातक दो हुये, घर में रही न सोध ।। घर में रही

न सोध कैसे अव करिये सन्धया ।। शास्त्र वाजत कर्म करे सोई जानो अन्धा ।। गुप्त माहि किंरिया लखे सो नर मूरख जान ।। सन्धया गायत्री बिना सदा एक निरवान ।। १ ।।

जिसके घर में एक सूतक के होते सन्ध्या गायत्री का निषेध कहा है; फिर जिसके यहाँ 'सूतक, पातक' दोनों इकट्ठे हों; उसको क्या करना चाहिये ? वह तो निषेध रूप ही है, क्योंकि-जीवन मुक्त ज्ञानवान् पुरुष विधि के भी किंकर नहीं होते हैं। वे तो विधि और निषेध दोनों के शिर पर पैर धर के वर्तते हैं। केवल प्रारब्ध के ही आधीन उनका व्यवहार होता है। उनकी क्रिया का नियम नहीं होता है, इसी से उनको जीवनमुक्त कहते हैं। शिष्य शंका करता है—

''हे भगवन् ! यह जो जीवनमुक्त के सम्बन्ध में आपने कहा है-सो तो जब सिद्ध हो; तो ऐसा होता है, परन्तु-पहिले 'जीवत्वबन्ध'' क्या है ? सो आप कृपा करके बताइये'' ।

गुरु कहते हैं—''हे शिष्य ! तीन शरीर और पंच कोषों में जो कर्त्ता भोक्तापने का परिछिन्न अहंकार'' हो रहा है; यही ''जीवत्वबन्ध'' है। जैसे चोर आदि के वास्ते कारागृह बन्धन होता है और उनके हाथों में हथकड़ी, पैरों में बेड़ी, गले में तौंक-जंजीर, और हाथ रस्सी से बाँधकर; उसे कारागृह में रोक

देते हैं, और पहरेदार सिपाही उसकी रखवाली करते हैं, यदि वह कभी बाहर निकलना चाहे; तो उसके शिर में डंडा मारते हैं। तैसे ही-अज्ञानी पुरुषों के लज्जारूपी तौंक गले में पड़ा है, और ममतारूपी बेड़ी पैरों में पड़ी है, और पदार्थों में जो प्रीति है, सो ही रस्सी है, इससे हाथ बाँध के रखे हैं, और अज्ञान रूपी कारागृह में बांधकर रखा है, और मोह रूपी सिपाही पहरेदार रहता है, यदि-वह कभी अज्ञान रूपी कारागृह से निकलना चाहे; तो मोड़ रूपी सिपाही 'अहं,मम' रूप डंडे मारता है; तब वह बंध में पड़ा रोता है, और नाना प्रकार के जन्म-मरण' रूपी दुखों को भोगता है। यही इस जीव को ''जीवत्वबन्ध'' है। और यह अपने आपही बंधा है किसी दूसरे ने नहीं बांधा है, जैसे-मर्कट मुट्ठी बांध के छोड़ता नहीं है, और जैसे कोई पुरुष किसी स्थंम को बाथ भर ले और समझे कि-'मुझे वृक्ष ने पकड़ा है' वास्तव में उस पुरुष ने ही वृक्ष को पकड़ा है और वह उसको छोड़ दे; तो छूट जाता है।

दोहा—

तुझे नहिं पकड्या जगत् ने, तैनेहि पकड्या आनि।
ज्यों नलिनी का सूवटा, धोखे पकड्या जानि॥

इसी तरह तीन शरीर और पंच कोषों में इस जीवात्मा ने ही अहंकार किया है, यही उसका 'जीवत्व-बंध' है। जब यह

उस परिजिन्न मलिन अहंकार को छोड़ देता है; तब यह बंध से छूट जाता है। यही उसका 'जीवन-मोक्ष' है। स्थूल शरीर के और प्राण के संयोग रहते "बंध भ्रान्ति की निवृत्ति" और "ब्रह्माकार वृति की स्थिति" को ही जीवन्मोक्ष कहते हैं"। जीवन्मुक्ति को सुन के प्रसन्नचित्त होकर शिष्य पूछता है-"हे भगवन्! यह जो आपने जीवन्मुक्त का कथन किया है-सो उसका कारण कौन है? और उसका स्वरूप तथा फल क्या है? और उसकी अवधि किस प्रकार है? सो आप कृपा करके बताइये"।

गुरु कहते हैं- "हे शिष्य! पूर्व जो जीव ब्रह्म का एकत्व रूपी दृढ़ निश्चय को अपरोक्ष-ज्ञान कहा था, सो दृढ़ अपरोक्ष-ज्ञान ही जीवन-मुक्ति का कारण है, और पूर्व कहा है कि-शरीर के होते बंध भ्रान्ति को निवृत्ति और ब्रह्माकार-वृत्ति की स्थिति ही जीवन्मुक्ति का स्वरूप है। जीवन्मुक्ति के पांच प्रयोजन कहे हैं, सो ये हैं, 'ज्ञान-रक्षा' विष्णु, वादाऽभाव, तथात-प, दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रगटता। ये जो पांच प्रयोजन कहे हैं, सो ही जीवन्मुक्ति का फल है, और विदेह मुक्ति पर्यंत उसकी अवधि है। वेद रूपी समुद्र से अनेक साधन रूपी यत्न करके विद्वान् पुरुषों ने जीवन्मुक्ति रूपी रत्न निकाला है यही उसमें लक्ष्मी के समान रत्न पना है। जीवन्मुक्त पुरुषों के लक्षण इस प्रकार होते हैं।

श्रुतिः—(दत्तोपनिषद्)

"नदंडोः नशिखानयज्ञोपवीतं, नाच्छादनंचरतिपरमहंसः"

श्लोकः-कंथाकौपीनवासास्तु दण्डधृग् ध्यानतत्परः ॥
एकाकी रमते नित्यं, तंदेवा ब्राह्मणं विदुः ॥१॥
निराशिषमनारभं, निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
क्षीणश्च क्षीणकर्माणं, तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२॥
न जाति कारणं तात ! गुणाः कल्याणकारणम् ।
स्थित वृत्तिश्चाण्डालोऽपि, तंदेवा ब्राह्मणं विदुः ॥३॥

॥ इति श्री जीवन-मुक्त रत्न समाप्तम् ॥

।। अथ विदेह-मुक्त रत्न ।।

कवित्त-विदेह मोक्ष के मंझार पड़ा झगड़ा अपार, कहें बात जो हजार कहो कौन से की मानिये ।। कोई तो कहत यह ईश्वर से अभेद होय, कोई तो कहत शुद्ध ब्रह्मह्र से जानिये ।। और कोई कहे किसी लोक माही मोक्ष होत, कोई तो कहत तासे उलटाहू आनिये ।। भेद औ अभेद नाहीं, विधि औ निषेध नाहीं, आन जान खेद नाहीं, गुप्तरूप जानि के भर्म सब भानिये ।।१।।

अर्थ यह है कि-यह जो विदेह मोक्ष है इसमें अनेक प्रकार का शास्त्रकारों का कथन है; इसमें किसकी बात मानें, और किसकी नहीं मानें ? क्योंकि-''कोई तो विदेह मोक्ष में 'ईश्वर से अभेद' कहते हैं; और कोई 'शुद्ध-ब्रह्म से अभेद' कहते हैं, कोई 'किसी लोक में जाने को' मोक्ष कहते हैं, कोई 'पुनरावृत्ति' नहीं मानते हैं और कोई 'पुनरावृत्ति' मानते हैं । इसी प्रकार कोई 'कर्म से मोक्ष' मानते हैं, और कोई 'शिला में ही मोक्ष' मानते हैं । इस तरह कई लोग अपनी अपनी कल्पना के अनुसार अनेक बातें करते हैं ।''

हम भी अपनी कल्पना के अनुसार कहते हैं कि-''बन्ध और मोक्ष' दोनों ही 'कल्पना' मात्र होने से वास्तव में 'कल्पित' हैं और ये सब 'भ्रमरूप' हैं। सर्व का अधिष्ठान गुप्त आत्मा है। उसमें भेद-अभेद, विधि-निषेध, आना, जाना, पुण्य-पाप, सुख-दुख, आदि जो अविद्या का जाल प्रतीत होता है; सो सभी ''भ्रमरूप'' है। परन्तु-जैसे रज्जु के अज्ञान से सर्पादिक भ्रम भासते हैं, और रज्जु के अपरोक्ष ज्ञान से सभी भ्रम शांत हो जाते हैं, तैसे ही-गुप्त आत्मा के अज्ञान से आना-जाना, बन्ध-मोक्ष, आदि जो कुछ प्रतीत होता है; सो सभी आत्मा के 'यथार्थ-ज्ञान से निवृत्त हो जाता है। फिर कहीं जाने की इच्छा नहीं होती है, जैसे-घट के फूटने से घटाकाश कहीं भी नहीं जाता है, क्योंकि-आकाश नहीं हो; तब तो जाना-आना संभव हो सकता है, परन्तु-आकाश तो सर्वत्र परिपूर्ण है, फिर जाता कहां ?''

शिष्य शंका करता-''हे भगवन्! घट के फूटने से घटाकाश का मठाकाश में अभेद होता है, आप कैसे कहते हो कि-घटाकाश कहीं नहीं जाता है ?'' इसी प्रकार 'शरीररूपी जो घट है' उसके नाश होने से 'घटाकाशरूपी जो जीवात्मा' का 'मठाकाशरूपी ईश्वर' से अथवा-'महाकाशरूपी शुद्ध-ब्रह्म' से अभेद कैसे नहीं होता है? मेरे विचार तो जरूर ''जीवात्मा का अभेद'' मानना चाहिये।'' इस शंका के उत्तर में-

गुरु कहते हैं-''हे शिष्य ! ईश्वर से जीव का अभेद मानें; सो नहीं बनता है । क्योंकि-जैसे एक ही बिंब का एक प्रतिबिंब तो दर्पण में होता है; और दूसरा जल में होता है; तब एक उपाधि के निवृत्त होने से दूसरी उपाधि के प्रतिबिंब से एकता कहें; सो नहीं होगी । और जो बिंब से अभेद कहे', तो वह भी नहीं बनेगा। क्योंकि-प्रथम जिसका भेद होवे; उसी का अभेद होता है, और जिसका उपाधि से भेद प्रतीत हो; उसका भेद नहीं होता है-वह उसका स्वरूप ही है । इसलिये बिंब से भी अभेद कहना नहीं बनता है । तैसे ही बिंब जो शुद्ध-चेतन और प्रतिबिंब 'जीव' व 'ईश्वर' जल दर्पण की नाईं है ।

ईश्वर में माया और जीव में अविद्या-रूपी उपाधि है । एक अविद्या-उपाधि के निवृत्त होने से माया-उपाधि वाला जो ईश्वर-प्रतिबिंब है; उसके साथ जीव-प्रतिबिंब की 'एकता' कहना नहीं बनता है, और बिंबरूप जो शुद्ध-चेतन है; उसमें अभेद कहना तभी बनेगा; जब उसमें भेद हो ? अतः-उससे किसी वस्तु का भेद कहना बनता नहीं, क्योंकि-''चेतन में वास्तव में तो कुछ है ही नहीं, और है सो कल्पित है ।'' ऐसा कहें-तो उससे कुछ भेद सिद्ध होता नहीं है । क्योंकि-जैसे कल्पित रजत से शुक्ति में भेद होता नहीं है, तैसे-ही मुझ शुद्ध आत्मा में माया, अविद्या, उपाधि, जिसमें प्रतिबिंब, ईश्वर, तथा-जीव और उनके सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, आदि जो धर्म हैं; सो सब मेरे में कल्पित होने से भेद

और अभेद कहना नहीं बनता है। इसलिये सर्व, द्वैत कल्पना से रहित एक मैं ही परिपूर्ण हूँ।

श्लोकः—

किं करोमि क्व गच्छामि, किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
आत्मना पूरितं सर्वं, महाकल्पाम्बुना यथा ॥१॥

जब इस प्रकार जान के शरीर का बोध होगा; तब पुनरावृत्ति से रहित हो सकेगा। इसी को विदेह मोक्ष कहते हैं। शिष्य कहता है,—"हे भगवान्! यह जो आपने विदेह मोक्ष कहा; इसमें-उत्तम-देश, उत्तरायण-काल और किसी सिद्ध-आसन आदिक की अपेक्षा तो होगी ?" ऐसी शंका के होने पर—

गुरु कहते हैं—"हे शिष्य! जैसा पूर्व में जीवन्मुक्त पुरुष का जो वर्णन किया है उसके देह पात होने में किसी उत्तमदेश का, उत्तरायण-काल का, और आसन-विशेष का किसी वेद, शास्त्र ने विधान नहीं किया है। क्योंकि-ज्ञान से उत्तर काल में जीवन-मुक्ति अवस्था में किसी वेद-शास्त्र की विधि उस पर नहीं है; तो देह के अन्त होने पर विधि का होना कैसे सम्भव होगा ? ऐसे-विद्वान् पुरुष का जीते समय तथा मरते समय जो व्यवहार होता है; सो साराही प्रारब्ध के आधीन होता है, और कोई विधि उस पर नहीं होती है, इससे किसी भी ध्यानादि की उसको जरूरत नहीं है।

श्लोकः—

तीर्थे स्वपचगेहे वा, नष्टस्मृतिरपि त्यजन् ।
ज्ञानस्य समकाले हि, विमुक्तःकेवलं यतिः ।।

इसी से जीवन्मुक्त पुरुष को विदेहमोक्ष के वास्ते कोई भी विधि आदिक की अपेक्षा नहीं है ।

चाहे तीर्थ में, चाहे स्वपच के गृह में पिंड प्राण का वियोग होवे, चाहे व्याधि से हाहाकार करते हुवे, चाहे सावधान होकर ब्रह्म चिंतन करते हुए, किसी भी प्रकार से तिसके शरीर का पात हो; उसने तो जिस काल में गुरू द्वारा महावाक्यों का उपदेश श्रवण किया; उसी काल से वह सर्व शोकों से रहित है, और उसी काल से मुक्त है । फिर उसको कौन विधि की ज़रूरत है ? इस प्रकार के जो ज्ञानवान् निरंकुश हैं; उनको किसी वेद-विधि की शंका नहीं होती है, क्योंकि-वे वेद के दास नहीं होते हैं, और किसी वर्ण-आश्रम का भी अभिमान उनको नहीं रहता है ।

श्रुतिः—

वर्णाश्रमाऽभिमानेन श्रुति-दासो भवेन्नरः ।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुतिमूर्धनि ।।१।।

अर्थ यह है कि-जो वर्णाश्रम का अभिमानी होता है; सो ही वेद का किंकर होता है, और जो जीवन्मुक्त विद्वान् है; सो किसी वर्णाश्रम का अभिमानी नहीं होता है, इसी से उस पर

वेद का भी डंडा नहीं है, इसलिये वह सब वेद शास्त्र को उत्क्रमण करके वर्तता है। यही कारण है कि-उसके विदेह मोक्ष में कोई भी विधि नहीं है; क्योंकि-मुक्त तो ज्ञान काल से ही है, परन्तु-शरीर का बोध होने से 'विदेह-मोक्ष' कहा जाता है।

और यह जो साधन साध्य रूप जितना कथन किया है; सो सारा तेरी उक्त शंका की निवृत्ति के वास्ते है, क्योंकि-पूर्व ग्रन्थ के आरम्भ में तेरे को सुख-प्राप्ति की वांछा हुई थी, सो आत्मा को सुख-रूप न जानने के कारण हुई थी। वह 'सुख-रूप तू ही है, तेरे से भिन्न और कोई दूसरा है ही नहीं, और तू ही सुख-स्वरूप है'' इसी के ज्ञात कराने के लिये सत्संग से लेकर विदेह-मोक्ष पर्यंत जो कुछ कथन किया है; सो सब तेरी ही दृष्टि को लेकर कहा गया है, हमारी दृष्टि में तो ऐसा है—

श्लोकः—

नचोत्पत्तिर्नो निरोधो न च बंधोऽस्ति साधके ॥
न मुमुक्षुर्न मुक्तश्च इत्येषा परमार्थता ॥१॥

अर्थ यह है कि-''हे शिष्य ! कोई उत्पन्न हीन नहीं हुवा, तो नाश किसका होवे ? और प्रथम कोई बन्ध ही नहीं, तो उस के वास्ते साधन कैसे होवे ? और कोई मुमुक्षु ही नहीं; तो मुक्त कहां से होवे ? ये तो परमार्थ से है ही नहीं'' हम तो ऐसा ही जानते हैं। तू भी ऐसा ही जान। ''सुख की प्राप्ति की और प्राप्त की

प्राप्ति की इच्छा मतकर, तू सदा चेतन-आत्मा सुखरूप प्राप्त ही है'' । इस बात को सुन के शिष्य कहता है—

''हे भगवन् ! मैं चेतन आत्मा सुखरूप और नित्य-प्राप्त ही हूँ, इसकी प्राप्ति सम्बन्धी मेरी शंका निवृत्त हो गई है । अब मेरे को कुछ भी शंका नहीं है; परन्तु-यह जो आपने विदेह-मोक्ष कहा इसका कारण कौन ? और इसका स्वरूप तथा फल क्या है ? और इसकी अवधि क्या है ? सो बताइये ।''

गुरु कहते हैं-''हे शिष्य ! सत्संग से लेकर ज्ञान पर्यंत जो साधन-साध्य पदार्थ कहे हैं; सो परम्परा से तो सभी कारण हैं; परन्तु-साक्षात् कारण 'जीवन्मुक्ति' ही है, और 'पुनरावृत्ति' से रहित होना; इसका स्वरूप है । और 'अपने स्वरूप का ज्ञान होना' और उसी की तरफ वृत्तियों का प्रवाह चलना; यही इसका फल है । नदियां जैसे-समुद्र में जाके समाप्त होती हैं; तैसे ही-''ब्रह्म-आत्मारूप समुद्र में ब्रह्माकार वृत्तियों की समाप्ती ही इसकी अवधि है ।

॥ इति श्री विदेह-मुक्त रत्न समाप्तम् ॥

॥ इति श्री चौदह रत्न सम्पूर्ण ॥
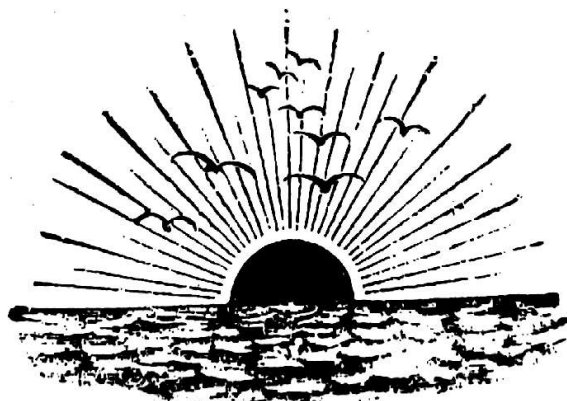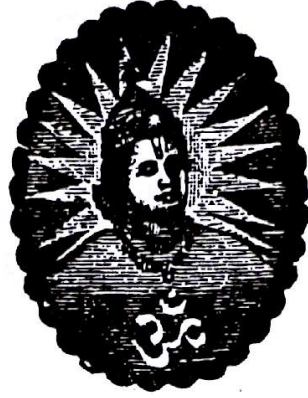
ॐ यद्ब्रह्मेति विनिश्चितं मुनिवरैः स्वर्ज्योतिषां कारणम्
सत्यं ज्ञानमनंतमेवममृतं यत्सर्वविद्याफलम् ॥
साकारं सवितुर्महस्त्वमसि तत्तत्वावबोधप्रदम्
नित्यानंदविभुं चराचरपतिं वन्दामहे श्रेयसे ॥ १ ॥

गुप्तात्मविद्यामृतपूर्णसागरम्
गुप्तात्मदुर्गाण्यसपत्नकारिणम्
गुप्तं धनं यस्य तपांसि केवलम्
गुप्तं गुरुं नित्यप्रभुं सदा भजे ॥ २ ॥

हेतवे सर्वधर्माणाम् संसारार्णवसेतवे
शंभवे सर्वलोकानाम् केशवाय नमोनमः ॥ ३ ॥

मनोराज्यं जितं येन पार्थेणेव धनुर्भृता
जयनारायणं नित्यं नरेनारायणं नुमः ॥ ४ ॥

ॐ

❁ श्रीगणेशाय नमः ❁

अथ गुप्त-ज्ञान गुटका प्रारम्भः

अथ मङ्गलाचरणं लिख्यते

ग्रन्थ की आदि में मंगलाचरण लिखते हैं, सो मंगलाचरण तीन प्रकार का होता है, एक वस्तु निर्देश रूप, दूसरा नमस्कार रूप, तीसरा आशीर्वाद रूप मंगलाचरण होता है। ग्रन्थ की आदि में मंगलाचरण चाहिये, क्योंकि-पूर्व वृद्ध जो आचार्य हुये हैं, उनकी रीति से—

(१)

❁ वस्तु-निर्देश-रूप मंगल ❁

दोहा—

निर्गुण सगुण परमात्मा, वस्तु ताहि पिछान ।
भिन्न भिन्न कीर्तनको, निर्देश हि लेजांन ।।

❁ नमस्कार-रूप मंगल ❁

चौपाई—

असुरन को जो करे संहारा । तिनको नमस्कार है म्हारा ।।
लक्ष्मी पारवती पति होई । भजतन को सन्तत भजे सोई ।।

❁ आशीर्वाद-रूप मंगल ❁

सोरठा—

शिष्य वांछित स्वयँ बांछि, करत प्रार्थना जो नर ।
यासे दूर व्है भ्रांति, आशीर्वाद ताको कहत ।।

(२)

❁ मूल चक्र सवैया छन्द ❁

मूल चक्र माहिं गणेश विराजत। स्वाद चक्र माहिं कियो अजवासा।
नाभि कमल में विश्नु विश्वम्भर। हृदय कमल महँ महादेव निवासा।।
कंठ कमल में वसे देवी नित । त्रिकुटी कमल महँ सूर्य उजासा ।
सहस्त्रकमलदल आप विराजत । जाके प्रकाश सभी परकासा ।।
मम गुप्त स्वरूप से न्यारो नहीं कछु। काको नमाऊँ कहो अबमाथा।

(३)

❁ लावनी दोहों वाली अज्ञनाशक ❁

लावनी सुन बारहमासी। कटे सब जन्म मरन फाँसी।। टेक—
चैत में चिंता यह कीजे । कि यह तन घड़ी घड़ी छीजे ।।
कीजिये इसमें कछू विचार । कौन वस्तु है सार असार ।।

दोहा—

सत्य वस्तु है आतमा, मिथ्या जगत् असार ।
नित्या-नित्य विवेक यह, लीजे बात विचार ।।

फिरै क्या मथुरा अरु काशी ।। १ ।। टेक—
वैसाख यह वक्त तुझे पाया । सभी झूँठी जानो काया ।।
यहाँ कोई रहने नहीं पाया । काल ने सब कोई खाया ।।

दोहा—

भोग लोक परलोक के, तिनका त्यागो राग ।
तिनकी रहे न कामना, कहत ताहि वैराग ।।

जगत से रहना ऊदासी ॥ २ ॥

जेठ में यतन यही करना । मिटै सब जनम और मरना ॥
बिषयते मन इन्द्रिय परिहरना । लीजिये सन्तन का शरना ॥

दोहा—

श्रद्धा करि गुरु वेद में, मनको कर समाधान ।
कर्म अकर्म के साधन त्यागो, सहो मान अपमान ।।

तितिक्षा तोसों परकासी ॥ ३ ॥

षाढ में सत संगत करना । वहां तुझे पावे सब भरमा ।।
तुझे वहां होवे जिज्ञासा । मोक्ष की लगे फेरि आशा ।।

दोहा—

परमानंद की प्राप्ति, सब अनर्थ का नास ।
यह इच्छा मन में रहे, कहें मुमुक्षुता तास ।।

तिसी से पावे अविनासी ॥ ४ ॥

सावन में शरनागत होना । पैर सतगुरु के धो पीना ।।
साफ होवे तेरा सीना । रंग फिर रैनी का दीना ।।

दोहा—

तत्त्वमसि के अर्थ का, करैं तोहिं परकास ।
संशय शोक नसैं सवतेरे, होय अविद्यानास ।।

होय अमरा पुर का बासी ॥ ५ ॥

भादों में भरम तभी नाशै । प्रेम भक्ती गुरु परकाशै ॥
ईश्वर से अधिक जान सेवो । सुफल मानुषतन कर लेवो ॥

दोहा—

ब्रह्म बेत्ता बक्ता श्रुति, गुरुका लक्षण जान ।
इच्छा जाने मोक्ष की, सोई शिष्य पहिचान ॥

बुद्धि जब शिष्य की परकासी ॥ ६ ॥

क्वार में करना यही उपाय । तत्त्वमसि सरवन में मनलाय ॥
जुगति से करो मनन अभ्यास । काल पाकर होवे निदिध्यास ॥

दोहा—

निदिध्यासन के अन्त में, ऐसा होवे भान ।
ब्रह्म आत्मा एक है, लखि यही ब्रह्मका ज्ञान ॥

हानि होवे जिससे चौरासी ॥ ७ ॥

कातिक में कर्म सभी नासा । ज्ञान जब उर में परकासा ॥
आपना आप रूप भासा । उसी का देखूं तमासा ॥

दोहा—

वार पार हमरा नहीं, नहिं देश कालते अंत ।
मैं ही अखंडित एक हूँ, सब वस्तु का तंत ॥

मैं ही हूँ चेतन अविनासी ॥ ८ ॥

अगहन में ज्ञान अग्नि जागी । लोक सब दाजन को लागी ॥
फूँकि दिये शिव ब्रह्मा विष्णू । फूँकि दिये राम और कृष्णू ॥

दोहा—

जलत जलत ऐसी बढ़ी, जिसका वार न पार ।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँकि दिया संसार ॥

बिना ईंधन नहिं परकासी ॥ ९ ॥

पूष में पूरण आये आप । जहां कोई नहीं पुन्य नहिं पाप ॥
जपें अब कहा कौन का जाप । छूट्या सब जन्म मरण संताप ॥

दोहा—

ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय कछु, ध्याता ध्यान न ध्येय ।
मम निज शुद्ध सरूप में, उपादेय नाह हेय ॥

करूं अब किसकी तल्लासी ॥ १० ॥

माह में मिटी मिलन की भूख । जहां कोइ नहिं आशिक माशूक ॥
इश्क़ फिर कैसे वहाँ होवे । काहे को वृथा काल खोवे ॥

दोहा—

तुझ चेतन शुद्ध सरूप में, नहिं आशिक माशूक ।
लक्ष रूप में मार निशाना, कहा वृथा विलोवे थूक ॥

करावे क्यों जग में हाँसी ॥ ११ ॥

बसंत ऋतु फागुन में आवे । खेल सब प्रारब्ध रचवावे ॥
अतर गुलाल ज्ञान रोरी । खेलते भर भर के झोरी ॥

दोहा—

होली अविद्या फूँकि के, हो गये गुप्तानंद ।
समझेंगे कोइ सुधर विवेकी, क्या समझे मति मंद ॥

जगत् की उठी धूलि खासी ॥ १२ ॥

पट के पर नौका जव लाया । षाढ़ जब अधिक मास आया ॥
कलेवर जिसमें बदलाया । लावनी तेरह मास गाया ॥

दोहा—

अधिक मासका अर्थ सुन, नर तन अधिक पिछान ।
कलेवर बदल्या यहि जानो, आप रूप का ज्ञान ॥

जहाँ नहिं दास और दासी ॥ १३ ॥

—०—

४ लावनी

पिये जो गुप्त ज्ञान गुटका । दूरि होवे सब ही खटका ॥टेक॥
किया है इसका जिसने पान । नरों में उसही को नर जान ॥
और तो सब ही जानो नार । गार्गी ने सभा में कही पुकार ॥

दोहा—

बृहदारण्य के बीच में, लिखा यही संवाद ।
वचकंनी के वचन सुन, पंडितों किया विवाद ॥

बोध बिनु खाय मरे भटका ॥ १ ॥ टेक ॥

कोई तो रखते हैं उपवास । कोई तो करते कर्म उपास ॥
किसी ने जाय किया वनवास । कोई तो जग में फिरे उदास ॥

दोहा—

कोई चौरासी धूनी तपैं, करें जंतर मंतर खेल ।
चाम जलावें आग में, उर मलैं न ज्ञान का तेल ॥

भरम कैसे छूटे शठ का ॥ २ ॥

किसी के गल में पड़ा सन्यास । कोई तो बने ईश का दास ॥
कोई तो सन का बनाते जोट । किसी ने कीना घोटम् घोट ॥

दोहा—

कोई पढ़ै व्याकरण काव्य कोष को, करें वेदके पाठ ।
पंडित ह्व करि भव में विचरें, खूब लगाया ठाठ ॥

समझ किन बातन में अटक्या ॥ ३ ॥

करे निर् बन्धों का सत् संग । तभी कुछ चढ़े ज्ञान का रंग ॥
तभी जीते माया का जंग । भर्म की उतर जाय सब भंग ॥

दोहा—

गुप्त गलीचे बैठकर, कीजै यही विचार ॥
ब्रह्मरूप है आत्मा, सब झूंठा जग व्योहार ॥

खेल सब बाजीगर नटका ॥ ४ ॥

—०—

५ लावनी

सोई नर जानो ब्रह्मचारी । जिसने वश कीनी सब नारी ॥टेक॥
प्रथम गुरुकुल में किया बास । फेर किया विद्या का अभ्यास ॥
जिसने सब तजी जगत की आस । नहीं कछु रखते अपने पास ॥

दोहा—

आठ भांति मैथुन कहा, ताका कीना त्याग ।
कंचन कांच एक करि जाने, नहीं किसी में राग ॥

करी आतम पद की त्यारी ॥ १ ॥ टेक ॥

विवेक वैराग्य हुये सम्पन्न । विषय ते रोकि लियो है मन ॥
प्रगटे जिनके पूरण पुन्य । जगत में वही पुरुष है धन्य ॥

दोहा—

ऐसी धारना धारिके, इच्छा उपजी येह ।
'कोहं' को संसार है, को देही को देह ॥

बात जिन ऐसी विचारी ॥ १ ॥

फेर लिया सतगुरु का शरना । विधी से परशन को करना ॥
मिटे सब जन्म और मरना । दूर होवे सब ही भरमा ॥

दोहा—

गुरु ऐसी कृपा करो, मिटैं भेद का पाप ।
भेद भर्म छूटे बिना, मिटै नहीं संताप ॥

अविद्या छूटि जाय सारी ॥ ३ ॥

जो नहीं करते हैं यह काम । सोई झूठे ब्रह्मचारी जान ॥
बढ़ाये केश और डाढ़ी । भस्म बड़ी लाबत हैं गाढ़ी ॥

दोहा—

करना था सो ना किया, दोउ कुल लादी लाज ।
झूंठे स्वांग बनावता, सरै न एकहु काज ॥

गई मूरख की मतिमारी ॥ ४ ॥

६ लावनी

खूब शिर कीना घोटम् घोट । मुडा लई मूछ और डाढी ॥टेक॥

कोई गेरू का लगाते रंग। कोई रहते नंग निछंग ॥
गले में रुद्राक्ष माला। भरम का टूटा नहिं जाला ॥

दोहा—

कोइ विद्या का अध्ययन कर, खूब सुनावे बात।
त्याग वैराग्य कहैं औरन को, आप पसारैं हात ॥

लगी है तृष्णा अति गाढ़ी ॥ १ ॥ टेक

बांचते शास्त्र और पुराण। बेद के देते हैं पर मान ॥
लोभ ने ऐसी मति मारी। फिरे ज्यों नारी व्यभिचारी ॥

दोहा—

काम क्रोध मद लोभ की, जब लग घट में खान।
क्या पंडित क्या मूरखा, दोनों एक समान ॥

डाकिनी आशा नहीं काढी ॥ १ ॥

खूब किया तन का चंगा साज। बने हैं पंडित जी महाराज ॥
और दस मूरख लेलिये संग। लगाते कपड़े में बड़ा रंग ॥

दोहा—

लोगन से यों कहत हैं, हम सन्यासी लोग।
हमको कुछ इच्छा नहीं, सब तजदीये धरके भोग ॥

रहे गंगा सागर खाड़ी ॥ ३ ॥

ऐसे हम देख्ये सन्यासी। पड़ी गल आशा की फांसी ॥
लख्या नहिं चेतन अविनाशी। कहें हम बसते हैं काशी ॥

दोहा—

काया काशी ना लखी, शिर पर धर्या सन्यास ।
पंच कोष वपु तीन को, कीना नाहीं साफ ।।

मजहब की फाँसी नहीं काढ़ी ॥ ४ ॥

—०—

७ लावनी

मजहब का पड़ा गले में फंद । आपको समझत नाहीं अंध ॥टेक॥
वरण जाती का करके त्याग । फेर आश्रम में करते राग ॥
लगी है घरसे दूनी आग । भटकते डोलत जैसे काग ॥

दोहा—

विषय मांस की लालसा, तजि दिया आतमरूप ।
औरन को उपदेश सुनावें, आप पड़ा भव कूप ।।

लख्या नहिं पूरण परमानन्द ॥ १ ॥ टेक

करै जो आश्रम का अभिमान । वही नर पशू वेद के जान ॥
औरन से चाहत हैं बड़ा मान । मान मद पी मति हो गई हान ॥

दोहा—

बुद्धी कर अन्धा हुया, पड़ा मान मोतियाविंद ।
दशहु दिशा को पड़ा अन्धेरा, छिप गया आतमचंद ।।

फेर कैसे होवे आनन्द ॥ २ ॥

आपको मानत है करता । वही नर जनमें अरु मरता ॥
गर्भ की अग्नि में जरता । खानि चौरासी में फिरता ॥

दोहा—

कर्ता क्रिया कर्म का, छूटा नहिं हंकार ।
चाम धर्म अपने कर माने, सोई नर जानो चमार ॥

सोई तुम जानो मति का मन्द ॥ ३ ॥

तजो करता मति का हंकार । तेरा है रूप जो अपरंपार ॥
गुप्त की समझ देख टुकयार । छोड़ सब भेष पंथ आजार ॥

दोहा—

तुहिं आतम चेतन शुद्ध है, नहीं कम का लेश ।
कर्ता क्रिया कर्म छोड़ि के, देखो अपना देश ॥

तुही है आनन्दन का कंद ॥ ४ ॥

—०—

८ लावनी

इस काया नगर मंझार । बसे यक राजनपति राजा ॥ टेक ॥
राजा है जिसका अपरंपार । नहीं कुछ हद बेहद शुमार ॥
सदा वह बना रहे यक तार । तिसे कोई नहिं कर सक्ता छार ॥

दोहा—

सदा अखंडित एक रस, जामे लाभ न हान ।
सोतो अपना आप है, यों हम लियो पिछान ॥

सुधर जावे सबही काजा ॥ १ ॥

और झूठे जानोराजा । काल का सबही है खाजा ॥
तिसे कभी काल नहीं खाता । कहीं सो आवे नहीं जाता ॥

दोहा—

आपै राजा आपै परजा, आप करै सब काज ।
आपही बन्यो दीवान मुसद्दी, आपही रहा विराज ।।

जिने यह साज सभी साजा ॥ २ ॥

जहाँ कोई माल न खजाना । वहां पर नहिं दफ़्तर खाना ॥
जहां पर नहीं कोई हिलकार । नहीं कोइ चौकी पहरेदार ॥

दोहा—

ऐसा निरभय राज है, जहां कोई नहीं ठग चोर ।
निराकार है सभी विभूती, चले न किसी का जोर ।।

जहां पर भरम सभी भाजा ॥ ३ ॥

मिला हमैं बिन परजा का राज । जहां कोई बिगड़े नाहीं काज ॥
सभी है अमरापुर का साज । जहां कोई नहीं काज नहिं लाज ॥

दोहा—

गुप्त राज को जो करे, सो भूपन को भूप ।
तासु समाना और नहिं दूजा, किसकी दीजे ऊप ।।

देख तिसको सबही लाजा ॥ ४ ॥

—०—

९ लावनी

खेल बाजीगर के सारे । देख कर मत भूलो प्यारे ॥ टेक ॥
रची बाजीगर ने बाजी । कि रचना बहुत घनी साजी ॥
कोई तो जूनी कोई ताजी । कोई तो पंडित कोइ काजी ॥

दोहा—

रचिकर जब देखन लगा, मिला तिसी के संग ।
निराकार को भूलकर, देखन लागा अंग ।।

देखता पंचभूत सारे ।। १ ।।

निद्रा में भासत है स्वपना । कोई तो पर का कोई अपना ।।
देखता है सबही रचना । सभी वह निद्रा का सपना ।।

दोहा—

जाग्रत माहीं देखता, नाना जगत अपार ।
जैसे तार छुट्या पुंवेते, सब पुंवे का विस्तार ।।

आप से कछू नहीं न्यारे ।। २ ।।

भई जब आप रूप की भूल । देखता है सूक्षम अरु स्थूल ।।
कल्पना कारण की होवे । अवस्था सुषोपति जोवे ।।

दोहा—

ऐसा मन ये बाजीगर है, करकै देख विचार ।
मनन भाव जब छूटे याका, तब होंवे निस्तार ।।

काम अरु क्रोध सभी हारे ।। ३ ।।

जहा टुक करके देख विचार । झूठा है मन का सभी आकार ।।
आपना गुप्त रूप है सार । जासु में कबहुँ न होय विकार ।।

दोहा—

शुद्ध स्वरूप प्रकाश में, ना कोई चित्तस्पंद ।
जो मानत है शुद्ध रूप में, ते नर मूरख अंध ।।

फिरत जग में मारे मारे ।। ४ ।।

—o—

१० लावनी

निरख्या जब आप आपना नूर। करना सब हमसे हो गया दूर ।।टेक।।
कहो अब क्या कीजै प्यारे। खुले सब बंध मोक्ष तारे ।।
जपूं अब कहो कौन का जाप। मैं ही हूँ पूरण आपै आप ।।

दोहा—

देशकाल अरू वस्तु में, व्यापरह्यो भरपूर ।
सभी जगत् के अंतर वाहर, नहि नेरे नहिं दूर ।।
सभी यह मेरा नूर जहूर ।। १ ।।

कैसे अब कीजै कर्म उपास। मेल नहिं ना काहू के दास ।।
किया हम भेद मरम का नाश। कर्म की टूट गई सब फाँस ।।

दोहा—

भरम माहिं भरमत फिरा, बना देव का दास ।
ज्ञान प्रकाश भया घट अन्दर, हुई अविद्या नास ।।
देव कछु हमते नाहीं दूर ।। २ ।।

छुट्या वर्ण-आश्रम का अभिमान। किया हम वेद नीर का पान ।।
छुटे सब मान और अपमान। छुटी सब लोक वेद की कान ।।

दोहा—

करता क्रिया कर्म का, छूटि गया हंकार ।
ज्ञान अग्नि परघट भई, कर्म भये जरि छार ।।
रहा यक मैं ही मैं भरपूर ।। ३ ।।

जो नर मानत है करना। उन्हीं को जन्म और मरना ।।
गुप्त तो कहिये निष्कर्मा। जिस्में नहीं जन्म और मरना ।।

दोहा—

तुझ चेतन शुद्ध स्वरूप में, नहीं क्रिया की गंध।
जो माने कूटस्थ रूप में, सो पामर मतिमंद ॥

—०—

११ लावनी

बताऊं कहा ज्ञान का रूप। जहां पर नहिं छाया नहिं धूप ॥टेक॥
जहां पर नाहीं सूक्ष्म स्थूल। नहीं कोइ पंचकोश का मूल।
जहां कोइ नहीं मूल नहिं तूल। नहीं कोइ शाखा फल और फूल ॥

दोहा—

जहां चंद्र सूर्य तारा नहीं, नहिं पंचभूत का लेश।
जहां नहीं तन मात्रा, नहीं काल नहिं देश ॥
कहो फिर किसकी दीजे ऊप ॥ १ ॥

जहां नहिं स्वर्ग नर्क कोई। जहां नहिं देव दनुज दोई ॥
जहां पर पुरुष नहीं लोई। जहाँ कछु पाई नहिं खोई ॥

दोहा—

ज्ञान ध्यान जहँ कोइ नहीं, नहीं मोक्ष नहिं बंध।
वेद पुराण शासतर नाहीं, नहिं गायत्री छंद ॥
वहां कोई पड़ता नहिं भव कूप ॥ २ ॥

जहाँ नहिं जीव ईश माया। नहीं कोइ धर्म कर्म पाया ॥
जहां नहिं सादी अनादी। नहीं कोई वाद और वादी ॥

दोहा—

नहीं वर्ण नहीं आश्रम, ना कोई जात न पाँत ।
ना कोई न्यारा रहे, ना कोइ रहता साथ ॥

हमें सब देखा फटकि कर सूप ॥ ३ ॥

कहै कोई घी का कहा सवाद । मूढ़ नर विरथा करै विवाद ॥
जासु में नहीं अंत नहीं आदि । नहीं कोई साधन सिद्ध समादि ॥

दोहा—

कोई जीव ब्रह्म की एकता को, निश्चय कहते ज्ञान ।
द्वैत अद्वैत जहां पर नाहीं, कहे सो मूरख जान ॥

जहाँ कोई नाहीं ऊप अनूप ॥ ४ ॥

—o—

१२ लावनी

आत्मा व्यापक ब्रह्म सरूप । जासु के नहीं रंग नहिं रूप ॥टेक॥
अवस्था तीनों से न्यारा । नहीं वह रक्त पीत कारा ॥
नहीं वह अग्नी ने जारा । पवन से सूखत ना प्यारा ॥

दोहा—

शसतर से कटता नहीं, जलसे भीगे नाहिं ।
जैसे घृत दूध में व्यापक, सभी ठौर के माहिं ॥

यही तुम तिसका जानो रूप ॥ १ ॥

नहीं कभी जन्मे नहिं मरता । नहीं कोई सुख दुख को धरता ॥
नहीं कछू भोगे नहिं करता । नहीं कहीं स्थिर नाहीं चरता ॥

दोहा—

हाथ पैर जिसके नहीं, ना कोई पिंड न प्रान।
ना वह पंडित मूरखा, ना कछु जान अजान ।।

नहिं कभी जिसमें प्यास न भूख ॥ २ ॥

नहिं कभी सोवे नहिं जागे । नहीं वह स्थिर नहीं भागे ।।
नहीं कछु ग्रहण करै त्यागे । नहिं कभी ध्यान माहिं लागे ।।

दोहा—

अस्तिभाति करि रमि रहा, सभी ठौर के माहिं ।
सभी कछु करता सा दीखे, कछु भी करता नाहिं ।।

जासु में रंक नाथ नहिं भूप ॥ ३ ॥

सदा है सत्, चेतन, आनन्द । जासु में कोई दुख नहिं द्वंद ॥
फेर भी समझत नाहीं अंध । बही है सब सिद्धन का सिद्ध ॥

दोहा—

हस्ती छिपै न घास में, करके देख बिचार ।
सो गुप्त आपना रूप है, सब करता ज्ञान व्योहार ।।

जासु में नहीं ऊक नहिं चूक ॥ ४ ॥

—०—

१३ लावनी

जरा टुक कर कर देखो गौर। तेरे से नहिं दूजा कोई और ॥टेक॥
जीव होय तू ही परकासा । तुही फिर ईश्वर हो भासा ॥
तुही है जगत् जाल माया । तुही है पिंड प्राण काया ॥

दोहा—

जीव विना नहिं आत्मा, जीव विना नहिं ब्रह्म ।
जीव विना शीवो नहीं, जीव विना सब भर्म ॥

करो टुक विचार बलका जोर ॥ १ ॥

जाग्रत में सब ही तेरा ख्याल । सुपने में देखो वोही हाल ॥
अवस्था सुषोप्ती आवे । जाग्रत् स्वपन नहीं पावे ॥

दोहा—

तुरिया में देखन लगा, सुषोप्ती भी नाहिं ।
सभी अनातम कल्पित जानो, अधिष्ठान के माहिं ॥

काहे को झूंठा मचाया शोर ॥ २ ॥

जभी तुरिये को छिटकावे । तभी तुरया तितको पावे ॥
वहां से उलटि नहीं आना । आप में आपहि मिलिजाना ॥

दोहा—

विश्व नहिं तेजस प्राज्ञ कछु, नहिं तुरिया तो माहिं ।
स्व स्वरूप निज ज्ञानघन, मैं तू विब्रत् है नाहिं ॥

वहां पर चलै न किसका जोर ॥ ३ ॥

भये स्थित आप रूप में आप । जहाँ पर लगे न किसकी छाप ॥
गुप्त में सदा रहो गरगाप । मिटा ध्रुव जनम मरन संताप ॥

दोहा—

इस दरजे को सो पावे, जिनके विमल बिवेक ।
तजके सब संसार को, यक लई गुरां की टेक ॥

निरख्या जब आप आपना जोर ॥ ४ ॥

—०—

१४ लावनी

हीरा तुझे खोदिया कचरे में । देखै क्या पोथी पतरे में ॥टेक॥
फिरे क्या मथुरा और काशी । करो इस तन की तलाशी ॥
जहाँ तुझे पावे अविनाशी । कटे सब काल कर्म फांसी ॥

दोहा—

वस्तु तो घर में धरी, वाहर ढुंढन जाय ।
कहो तोकों कैसे मिलै, दीजो बात बताय ॥

कहा है पानी पथरे में ॥ १ ॥

जभी सत्गुरु शरने आवे । वस्तु का तब व्योरा पावे ॥
वचन में कीजै परतीती । वस्तु के पाने की रीती ॥

दोहा—

श्रद्धा कर गुरु वेद में, तब पावे कुछ भेद ।
ज्ञान प्रकाश होय घट अंदर, दूर होय सब खेद ॥

भूले मत अपने चतुरे में ॥ २ ॥

जहां तू पावे समता भाव । दूर हो चित तेरे की दाह ॥
फेर तुझे मिलै न ऐसा दाँव । जहा टुक धर आगे को पांव ॥

दोहा—

समदर्शी हो विचरना, ना कहिं राग न दोष ।
भयो ज्ञान जब नशी अविद्या, जीवत पायो मोक्ष ॥

एक सम भूंडे सुथरे में ॥ ३ ॥

गुप्त सागर मारा गोता । जगत सब ही लगा थोथा ॥
धुरुव ने ऐसो कियो विचार । जगत का झूंठा सबी अचार ॥

दोहा—

ब्रह्म आत्मा एक लखि, कियो भेद को अंत ।
कृष्ण कन्हैया यों कहै, कोई जाने विरला संत ॥

बहै मत मन के नखरे में ॥ ४ ॥

—०—

१५ लावनी

चहै कोई राम कहो चहे श्याम । लखे निज रूप हो पूरण काम ॥टेक॥
रज्जू अधिष्ठान है एक । कल्पना होवे वामें अनेक ॥
सीपी में रूपे का भ्रम होय । रवि किरनों में नीर कहै कोय ॥

दोहा—

अधिष्ठान अज्ञानतें, भ्रम होवत वहु भांत ।
ज्ञान हुये निज वस्तु को, सब भ्रम होवत शांत ॥

सभी को एक आप विश्राम ॥ १ ॥

पुंवे से खींचत निकसत तार । तार सब पुंवे का विस्तार ॥
ब्रह्म में यों होवत संसार । बीज में कली फूल फल डार ॥

दोहा—

जग होवत अज्ञान कर, ज्ञान होत जग हान ।
जैसी इच्छा करै आप में, होवत सोई पिछान ॥

याही के कल्पित हैं सब नाम ॥ २ ॥

पूर्ण पद वशिष्ठादि गावें । वेद नित अभेद बतलावें ॥
संत भी योंही समझावे । द्वैत से जनम मरन पावे ॥

दोहा—

द्वैत मिटा अद्वैत हुया जब, सब जग ब्रह्म विलास ।
सत चित आनंद शुद्ध रूप में, नहीं जीव आभास ॥

याही विधि होवत है आराम ॥ ३ ॥

तन यह सुरदुर्लभ जानो । गुप्त गुरु इष्ट हृदय ठानो ॥
इष्ट बिन भृष्ट होय जगमाय । इष्टलखि श्रेष्ठ आप हो जाय ॥

दोहा—

जो इष्टी जिस रूप का, ध्यान धरे सिध होय ।
मूल ध्यान धर भूल निकालो, निर्भय होकर सोय ॥

घूमे नहिं पंचकोष का गाम ॥ ४ ॥

—o—

१६ लावनी

आपना इष्ट आपही जान । और सब झूठे इष्ट पिछान ॥टेक॥
तुही है सब इष्टन का इष्ट । भूल कर क्यों होता है भ्रष्ट ॥
तेरी तो ऐसी मति मारी । फिरे ज्यों नारी व्यभिचारी ॥

दोहा—

अपने पति को छोड़कर, करै और को संग ।
सो पामर जिततित डोलत है, हो गई है मति भंग ॥

भूलि गई अपने पति का ज्ञान ॥ १ ॥

जबी दूजे को समझा इष्ट । ज्ञान सब हो गया है नष्ट ॥
जबी तू हो बैठा है दास । इष्ट की पड़ी गले में फांस ॥

दोहा—

इष्ट आपनो आत्मा, जाको कोनी त्याग ।
झूठे इष्ट बनाय कर, सरै न एकहु काज ॥

उलट कर अन्तर लावो ध्यान ॥ २ ॥

छोड़ सब इष्टदेव की आस । करो निज अन्तर अपने वास ॥
झूंठ जानो बुद्धि चिदाभास । ज्ञान से होवे इनका नास ॥

दोहा—

आप रूप कूटस्थ का, नहीं ब्रह्म से भेद ।
भेद भार जबसे धरयो, तब से पायो खेद ॥

समझ ऐसा क्यों हुवा अजान ॥ ३ ॥

आपसे भिन्न जानते इष्ट । वही नर पाते हैं बहु कष्ट ॥
गुप्त गलियारे में आवे । इष्ट कहिं ढूंढा नहिं पावे ॥

दोहा—

अपना आप पिछानि के, तजो इष्ट की बात ।
बृक्ष बीज से न्यारा नहीं, मूल फूल फल पात ॥

धुरू को पाई सुखकी खान ॥ ४ ॥

—०—

१७ लावनी

यहां कोइ नहीं राम नहिं श्याम । सदा यक तूही पूरण काम ॥
आप ही रचता सब विस्तार । जिसका कछु नहीं बार नहिं पार ॥
रचि कर भूल गया है आप । तभी फिर तपता तीनों ताप ॥

दोहा—

देव बनाया ईश को, आप बना है दास ।
आपहि अपने गले में, घालि लई है फांस ॥

किया है तुझने ही सब काम ॥ १ ॥

तुझे यह कल्पि लई माया । फेर उसे तुझको भरमाया ॥
आपको मानन लगा शरीर । मिला ज्यों जल के माहीं क्षीर ॥

दोहा—

बहुत काल भरमत फिर्‍यो, अवतो समझ गंवार ।
औसर चूका जाय है, फिर पड़ेगी यम की मार ॥

तभू तू रोवेगा उस धाम ॥ २ ॥

अब तू समझ अपने को आप । छोड़ सब राम कृष्ण को जाप ॥
सदा यक तू ही आपहि आप । कहाँ से लाया भेद का पाप ॥

दोहा—

जन्म मरन तोमें नहीं, नहिं सुख दुख की गंध ।
जीवभाव को छोड़ि दे, तुहि पूरण परमानंद ॥

जहां पर नहीं ध्यान नहिं ज्ञान ॥ ३ ॥

जब तू पावे गुप्तानन्द । तबी होय तेरे को आनन्द ॥
वहाँ पर कोई नहीं दुख द्वन्द । जहां नहिं परकाशत है चंद ॥

दोहा—

वहां पर गोबर्धन बसै, लागी ब्रह्म समाधि ।
कहन सुनन में है नहीं, गति कछु अगम अगाध ॥

जहां पर सब सिध होते काम ॥ ४ ॥

—०—

१८ लावनी

रम्या सब जगह में राधेश्याम। श्याम बिन ना कोई खाली ठाम॥
हुई इच्छा कीना विस्तार। गुन तीनों में सब संसार॥
सभी का एक आप आधार। जैसे माला में सूत्र का तार॥

दोहा—

अस्ति, भाति, प्रिय देखलो, व्यापक नंद किशोर।
पंचभूत तीनों-गुणमाहीं, पूरण है सब ठौर॥

मिटा तृष्णा को जलावो काम॥ २॥

कोई बन परवत में जावे। कोई तन उलटा लटकावे॥
कोई काशी गंगा न्हावे। द्वारिका छाप ले हरषावे॥

दोहा—

चित चंचल इन्द्रिया मन रोके, वन में धारे ध्यान।
ध्यान मिटा चंचलता व्यापी, यह तो कच्चा ज्ञान॥

इससे सरे नहीं कछु काम॥ २॥

प्रथम निष्काम कर्म करना। पुनः चित ईश्वर में धरना॥
चतुष्टय साधन हो सम्पन्न। गुरू की लेवे जाय शरन॥

दोहा—

प्रेमभाव गुरु में करे, धारे भक्ति सुजान।
गुरु प्रसन्न उपदेश करे जब, छूटे तन अभिमान॥

सभी में सूझत आतमराम॥ ३॥

गुप्त गुरु कृपा मिला आराम। लखाया सब में सुन्दरश्याम॥
मिटा जगखेद हुवा खुशियाल। मूल से गई अविद्याजाल॥

दोहा—

गोवर्धन योंकहै कृष्णविन, और नहीं कर गौर ।।
सत चित्त आनन्द शुद्ध रूप में, चलै न किसका जोर ।।

धुरू में नहीं रूप नहिं नाम ।। ४ ।।

—०—

१९ लावनी

हम हैं उन सन्तन के दास। जिन्नें सब तजी जगत की आस ।।टेक।।
किया है विजन देश में वास । जगत से रहते सदा उदास ।।
काटिदइ सबी कर्म की फास । आपको जाना चिद् आकाश ।।

दोहा—

इस धारा पर विचरते, सदा रहे निरद्वंद ।
जानत हैं कोई जाननहारे, क्या जानेंगे अंध ।।

किसी को देते नहीं तरास ।। १ ।।

नहीं कुछ दंभ कपट माया । उलटि मन आतम में लाया ।।
जगत सब चेतन की छाया । कभी तिने व्यापै नहिं माया ।।

दोहा—

जग के माहीं यों रहे, ज्यों पद्म-पत्र जल बीच ।
न्हाये निरमल ज्ञान से, सब छुटी अविद्या कीच ।।

नहीं कुछ रखते अपने पास ।। २ ।।

जिन्हों के ज्ञान बनिज वेपार । और नहिं करते दूजी कार ।।
जगत में लिपते नहीं विकार । सभी झूटा जाना आकार ।।

दोहा—

चेतन निरमल शुद्ध में, ना कछु हुवा न होय ।
ऐसी जाकी दृष्टि है, साध कहावे सोय ॥

संत विचरत इन पंथन में । वात गाई सद् ग्रंथन में ॥
गुप्त जिन खोजि लिया जग में । फेरि नहिं आवत है भग में ॥

दोहा—

गोवर्धन सों कहते हैं, संतों लक्षण एह ।
ध्रूनिश्चय जिनका भया, तिनके देह न गेह ॥

भई है मूल अविद्या नास ॥ ४ ॥

—०—

२० लावनी (चाल दून)

सजि, चलो सुहागिन साज आज घर पी के ।
अजी एजी; पिया को बेगि बुलाई है ।
चलना पड़े ज़रूर सवारी सजि कर आई है ॥ टेक ॥
तेरे वारि खड़े लनिहार त्यार अब हो ले ।
अजी एजी; जरा अब अंखियाँ तो खोलो ॥
कर प्रीतम घर की सुर्त शब्द कुछ मुख सेती बोलो ।
अब धर प्रीतम का ध्यान मान मद तजि के ॥
अजी एजी; मोह ममता को सब त्यागो ।
गृह छोड़ि पिता का चलो चरण अब प्रीतम के लागो ॥

शेर—

भूली फिरै उस सजन को, कर अंदरूनी ख्याल को ॥
वह ज्ञानरूपी दे असी, काटे अविद्या जाल को ॥
शुभगुन के भूषण पहिरि के, छांडो सभी धन माल को ॥
तू उससे परदा मत रखे, वह जाने तेरे सब हाल को ॥

अब कर आगे का सूल मूल गहि राखो ।
अजी एजी पिहर में उमर गमाई है ॥
अब तजो कुटिल परिवार भार को पटको ।
अजी एजी; छोड़ कर ममता माई को ॥
परिछिन्न पिता हंकार विषय तज पांचों भाई को ।
तृष्णा चिन्ता अरु चाह सहेली त्यागो ॥
अजी एसी कुसंगति सब अशनाई को ।
राग द्वेष अरु हर्ष तजो सब मान बड़ाई को ॥

शेर—

जल शील का अशनान करके, तिलक तन का कीजिये ।
भक्ति प्रेमा माल गल में, साज यह सज लीजिये ॥
करनी के कपड़े पहिर के, निष्कामता रंग दीजिये ।
सोलह करो शृङ्गार अब, जिसे देखि पीतम रीझिये ॥

पीतम को प्यारी लगी फेर डर किसका ।
अजी एजी; सभी के मन को भाई है ॥ २ ॥
यह पाया अटल सुहाग भाग पिछले से,

अजी एजी; सोहागिन सुख भर सोई है ।
जो होता होय सो होय वृत्ति जिन अंतर मोई है ॥
अन्तरमुख सुख को अनुभव करके जान्या,
अजी एजी; भेद जिन तोड़ दिया जड़दा ।
जब खुलि गये ज्ञान कपाट भरम का फाटि गया पड़दा ॥

शेर—

पंच कोष त्रय देह का, पड़दा पड़ा अज्ञान ते ।
शमशेर सतगुरु को दई, काट्या निजातम ज्ञान ते ॥
तोड़ि बंधन विचरती, कुछ काम नहिं धन धाम ते ।
अदृष्ट ते व्योहार होय, नाता नहीं कछु चाम ते ॥

यों होय एकमएक मौज में रहती,
अजी एजी; जीवनमुक्ति को पाई है ॥ ३ ॥
हुई विरती ब्रम्हाकार यार से मिलि के आयी है ।
अजी एजी उसीने भेद जनाया है,
पड़ा गर्म लोहे पर लव जल मांहि समाया है ॥
दिये सिंधू बिंदू त्यागि भेद सब जल का ॥
अजी एजी; उपाधि सब ही दूरी डारी ॥
हुई शुद्ध सच्चिदानन्द आज यह पीतम की प्यारी ॥

शेर—

सिंगार सोलह साजि के, पाया पति के रूप को ।
तजि कर पिता के धाम को, तिर गई भव के कूप को ॥

गुप्त सैन पिछानि सजनी, पावे रूप अनूप को ।
समझे चतुर परबीन कोई, समझावे को वेवकूफ़ को ॥

जिन किया आपना काज लाज सब तज के,
अजी एजी, चतुर की यह चतुराई है ॥ ४ ॥ चलना पड़े ज़रूर

दोहा—

त्रय काले दो ऊजरे, पतले पंच प्रकार ।
सूभर चार कठोर दो, ये सोलह सिंगार ॥

(इन षट्दस शृंगारों को जिज्ञासु में घटाते हैं)

दोहा—

आवरण दोष काले त्रय, ऊजले दो कर्म उपास ।
पंच पातले कामादिक कर, मन में होय हुलास ॥
पुष्ट किये हैं जासु ने, विवेकादिक जे चार ।
सत्शास्त्र सत्संग दो काठे, ये अधिकारी के शृङ्गार ॥

—०—

२१ लावनी (चाल दून)

मत पड़े भरम के कूप रूप लख अपना,
अजी एजी; मनुष तन तुझको पाया है ।
कर देखो तत्त विचार कौन तुह कहां से आया है ॥टेक॥
यह तन धन सच्चा जानि खेल में लागा,
अजी एजी; विसरि गया अपनी सुधि सारी ।
खानपान में लग्या विषयों की बढ़ि गई बीमारी ॥

इस चमकचाम को देखि फिरत है फूल्या,
अजी एजी; कुफर के पलड़े में झूल्या ॥
बकने लग्या तुफान, जमा सब अपनी को भूल्या ॥

शेर—

माया के मद को पीके, फिरता अविद्या रात में ।
चशम अन्तर के मिचे, फंस गया जातजमात में ॥
जैसे करिणी देखि के, हस्ती पड्या है खात में ।
अंकुश खाता शीश में, बंधि के विषों की बात में ॥

यों मोह जाल में फंसा जीव मरता है, अजी एजी, कष्ट कष्टांतर पाया है ॥ १ ॥ यह विषय भोग सब बिजली का चमकारा । अजी एजी पसारा बिगड़ि जाय छिन में ॥ मुक्ती हित युक्ती करो। बात मन की रह जाय मन में ॥ औसर के चूके होय फेर पछताना, अजी एजी काज अब करलीजे अपना, छोड़ो सब परमाद जगत यह रैनि माहिं सपना ॥

शेर—

अब छोड़ो वाद विवाद को, याद कर निज रूप को ।
आकार दृष्टी छांड़ि के, समझो न रूप अरूप को ॥
जो परकाशता है सर्व को, सो सर्व में भरपूर है ।
यह रमज समझो आरिफों की, वोहि तेरा निज नूर है ॥

जिसको कहते हैं वेद अर्थ को लेके, अजी एजी; सो अपना आप बताया है ॥ २ ॥ कर वेद गुरु से प्रीति रीति को पावे ॥

अजी एजी; ईश की ऐसी है नीती ॥ चहे लाखों करो उपाव और विधि पावे नहिं रीती ॥ अब सुनिये करिके ख्याल हाल कहुँ सगरा ॥ अजी एजी; चतुष्टय साधन को करना ॥ सब त्यागो करम उपास फेरं ले सतगुरु की शरणा ॥

शेर—

विधी से गुरु देव को, भक्ति से परसन करे ।
जाता आता कौन है, जन्मता अरु को मरे ॥
विधी और निषेध दोनों, कर्म को कहु को करे ।
फल तास के पुन्य पाप का, कौन सुख दुख को धरे ॥

सतगुरु से परसन करे विधि से जाके, अजी एजी; सब संदेह सुनाया है ॥ ३ ॥ जब सुनि के शिष्य की बात हाथ को ठाया ॥ अजी एजी कह्या सो हमको सब जान्या ॥ मन बुद्धी कर समाधान लगा के सुन दोनों काना ॥ तुझ में नहीं आवन जान जन्म और मरना ॥ अजी एजी; विधि निषेध नहीं झगड़ा ॥ पुन्य पाप के सुख दुख फल का तुझमें नहिं रगड़ा ॥

शेर—

ये धर्म सूक्ष्म स्थूल के, बुद्धि सहित आभास में ।
तू तो है सबका साक्षी, रहता है इनके पास में ॥
चैतन्य ज्ञानस्वरूप है, हस्ती छिपे नहिं घास में ।
तुझ में क्रिया कर्म ऐसा, जिमि नीलता आकाश में ॥

सुन गुप्त गुरू से ज्ञान खुलै भ्रम ताला । अजी एजी; भरम का मूल उठाया है ॥ मतपड़े ॥

२२ लावनी (चाल दून)

अब लखि निश्चल की रीति प्रीति सों प्यारे। अजी एजी; जगत और नहीं दूजा ॥ हुये ज्ञानरूप औतार भरम का फोडि दिया कूजा ॥ टेक ॥ सागर का कर दिया सेतु जगत् के माहीं। अजी एजी; जीव चढि चढि उतरें पारा ॥ दिन में सौ सौ बार तिनों को नमस्कार म्हारा। आचारज जगमें हुये और बहुतेरे ॥ अजी एजी; सभी के सिर पै मौर साजा। तजि विद्या का हंकार लिखी जिन भाषा नहिं लाजा ॥

शेर—

शेर के कछु भय नहीं, निरभय हो के गाजता।
सुनि के तिसकी गाज को, स्याल मूरख भागता ॥
सुनि के प्राकृत शब्द को, संस्कृती है लाजता।
बिरथा खपाया मगज को, यह ढोल चौड़े बाजता ॥

जिन भाषा किये निबंध बंध कर ढीले। अजी एजी वेद वेदांग सभी सूझा ॥ १ ॥ बिन सूत रचा है जाल ख्याल कर देखो। अजी एजी; नाम जिसका रखि दिया भाषा। बिन देखी बिन सुनी सुना के रचि दिया तम्मासा ॥ विद्या का रखते घमंड बड़े अभिमानी। अजी एजी; बोलते हैं संस्कृत बानी ॥ निश्चल का सुनि के कथन पीवना भूलि जाय पानी।

शेर—

शक्ति के परसंग में, मत भेद से दिखलाय के ।
सब के शिर में धूलि डाली, वेद मत ठहराय के ॥
नाना मतों के भेद जो, झगड़ा सभी समझाय के ।
सिद्धांत जो अद्वैत है, तिसको कहा है गाय के ॥

करि यतन वेद से रतन निकाले जिसने । अजी एजी; वेद वादी सुनि के धूजा ॥ २ ॥ हुये सूत्रकार अरु भाष्यकार औतारा अजी एजी; सर्वथा हुवा न परकासा ॥ विरती का दिनकर रच्या किया है अंधकार नाशा । सब पोल बजाकर ढोल निकाली जिसने ॥ अजी एजी मतांतर बात जनाई है । किया विषय-वाद का बाध चतुर की यह चतुराई है ॥

शेर—

विद्या पढ़ी तो क्या हुआ, करता है वाद विवाद जो ।
बंधि गये मजहब के पक्ष में, दयानन्द से साधु जो ॥
अर्थ का अनरथ किया, तजि ईश की मर्याद को ।
लोप करके ज्ञान का, इसमें क्या पाया स्वादु को ॥

किया कर्म कांड को धरि धूर्तता करके । अजी एजी; छुटादई ईश्वर की पूजा ॥ ३ ॥ जिसे अपनी अपनी ठौर कांड सब राखे । अजी एजी; विदुत की यह विदुताई है ॥ निश्चल का कथन है अचल अचल को दिया दिखाई है । नहिं लक्ष माहिं कोई पक्ष दक्ष यह कहते । अजी एजी; पक्ष में डूब्या संसारा ॥ वे किसकी करते पक्ष वेद वेदांग भये पारा ।

धन्य है उस पुरुष को, साज जिसको यह सज्या ।
उसी ने संसार में, विद्या का पाया है मजा ॥
निष्काम होके विचरने राजी रहे उसकी रजा ।
तीनों भुवन के बीच में, ऊंची गड़ी तिनकी धजा ॥

निज गुप्त रूप में लड़े भूप कोई अड़के ।
अजी एजी शूरमा रण मांहीं जूझा ॥ अब लखि० ॥ ४ ॥

—०—

२३ लावनी (चाल दून)

अब करो कुम्भ अशनान घाट तिरबेनी; अजी एजी; काल अब तुझको पाया है, मत फंसे भरम के जाल सबी यह झूंठी माया है ॥ टेक ॥ तर तीव्र धार वैराग यही तिरबेनी । अजी एजी आतमा तीरथ में न्हावो ॥ कर विषय देश का त्याग किनारे तिरबेनी आवो । निज आतम तत्त्व का ज्ञान अक्षय वट परसो ॥ अजी एजी; सरस्वती सार वेद टोहो । मलिन वासना मैल सभी अब मलि मलि के धोवो ॥

शेर—

अंतःकरण के कपड़े को, साफ करके धोइये ।
साबुन कर्मनिष्काम भक्ती, दोनु वोकर सोहिये ॥
लक्षण कहे हैं शास्त्र में, ऐसे गुरु को जोइये ।
मूल अविद्या मैल को, गुरु-चरण संगम खोइये ॥

जब तिरबेनी का न्हान सफल होता है। अजी एजी भर्म को धोय बहाया है ॥ १ ॥ भमरा आत्मा चेतन पूरण सब में। अजी एजी रती अब तिस माहीं कीजे ॥ द्वाज द्वैत कर दूरि अर्थ आश्रम का सुनि लीजे। आशा तृष्णा करि त्याग आसरम पावे ॥ अजी एजी यात्रा जब होवे पूरी। फिर रहा चौरासी लाख कर्म की पड़ी कंठ धूरी ॥

शेर—

यह पर्व अब तिसको मिल्या, पाया है अपने आपको।
आत्म तीरथ शांत में, खोया है तीनों ताप को ॥
मेला मिलौनी हो गई, फिर जपैं किसके जाप को।
दरशन हुआ दीदार का, खोया है पुन्यरु पाप को ॥

सोई तिरबेनी के तटपर बैठे डटके। अजी एजी मजा कुछ तिसको पाया है ॥ २ ॥ दारागंज दारा त्याग इलाही पावे। अजी एजी इलेह आवाद किया जिसने ॥ झूंनी में झलक रहा आप भेह की गंध नहीं जिसमें। सतसंगति नौका बैठि उतर भवधारा ॥ अजी एजी नहीं है जिसमें वार पारा। व्यापक एक अखंड सभी शामिल सब से न्यारा ॥

शेर—

इस विधि से तीरथ किया, तिनयोग यज्ञ सबही किया।
स्वयं पित्र को उद्धार के, सब दान अवनी का किया ॥
संसार में उस पुरुष का, सफल है दिया लिया।
रूप अपना नीर गंगा, छानि के जिसने पिया ॥

कोइ समझे सूरमा रमज हमारा देशी। अजी एजी माया का जाल उड़ाया है ॥ ३ ॥ माया के जाल में फंसे मूढ अज्ञानी। अजी एजी धर्म अपने से भागे हैं। पकड़ी लोभ की नाडि भाड झोंकन को लागे हैं। तजि दिया ज्ञान अध्ययन लोभ के फँद में॥ अजी एजी कर्म अपने को त्यागा है। व्यभिचारिन ज्यों फिरे चाट विषयों की लाग्या है ॥

शेर—

घर छोडिके क्यों नीक से, काहे को मुखकारा किया।
भूले शब्द सन्यास को, कलदार में मन को दिया ॥
बिरथा है संसार में ऐसे, सन्यासी का जिया।
कौडी फिरत है मांगता, खाता है उलटा किया ॥

नहीं गुप्त सैन को समझें मूढ अनारी। अजी एजी अखज खाजे को खाया है ॥ ४ ॥

—o—

२४ अथ लावनी (चाल दून)

अब हुया कुंभ का अन्त सन्त यह कहते। अजी अजी सोमवती समता को धारो ॥ मावस ममता को त्याग राग अरु द्वेष सभी मारो ॥ टेक ॥ स्याही संशय को काढि मूल से प्यारे। अजी एजी ज्ञान की धारा में न्हावो ॥ निष्काम निशान हिलाय धाय गुरु संगम पर आवो ॥ सतगुरु से करो मिलाय सुफल होय मेला। अजी एजी कर्म की कालिख को धोवो ॥ करि के ऐसे अशनान फेर निरभय होके सोवो ॥

शेर—

ऐसा किया अशनान जिसको, ज्ञान गोता लाय के ।
सो निरभय होके सोवता, विरती थकी है जाय के ॥
पाया अमोलक वस्तु को, वह क्यों मरे फिर धायके ।
अंतर की अग्नी बुझि गई, निज रूप अपना पायके ॥

हर हाल हंसी हर हाल खुशी में रहते । अजी एजी मूल संसृती को जारो ॥ १ ॥ सब झूंठा यह परपंच रंच नहिं सच्चा ॥ अजी एजी फेर क्या मजब गीत गावे ॥ शास्त्र वेद पुराण सभी यह कहि के समझावे ॥ नहिं समुझे मूढ़ गंवार वेद का आशा । अजी एजी चाल वही भेड़ों की चलते ॥ फँसि गये मजहब के जाल अविद्या अग्नी में जलते ॥

शेर—

मरुस्थल को देखि के, मिरघा फिरत है धावता ।
भटकि के मरजात है, नहिं उसकी प्यास बुझावता ॥
तैसे ही यह जीव मूरख, विषय सुख को चाहता ।
तिन हेतु धन के काज जग में, नाना स्वांग बनावता ॥

सब कहते संत पुकार विषय दुख रूपा । अजी एजी तजो अब अपने को तारो ॥ २ ॥ जो किया तुझे संन्यास आश करे किसकी । अजी एजी काम क्या क्षेतर से तुझको ॥ यही बड़ा अफसोस बात सुनि सुनि होता मुझको ॥ कोई बने वैरागी ख़ाकी खाक रमावे ॥ अजी एजी अर्थ बे तिसका भूले हैं । समुझावे को तिसे लोभ के झूले झूले हैं ॥

शेर—

कहे वेद पुकारि के, रागी सो वैरागी नहीं ।
सोही वैरागी है सही, तिरलोकी से राजी नहीं ।।
कहते वैरागी आपको, सब बात है तिनकी वही ।
माल मन्दिर में भरे, पूड़ियों की चढ़ि रही है तई ।।

जिसे वेद कहे वैराग खबर नहिं उसकी, अजी एजी रात दिन बकैं म्हारो म्हारो ।। ३ ।। तजि कर अपनी मर्याद स्वाद क्या आया। अजी एजी लोभ की अजर फाँस भारी । क्या गृही क्या सन्यासी लोभ को खा लिये ब्रह्मचारी ।। जब छोड़ि दिया घर वार ख्वार क्यों होता । अजी एजी मागि कर टुकड़े को खावे । अपनी इच्छा अनुसार चहे जागे चहे सो जावे ।।

शेर—

ये हीं मता है संत का, नित जपे अपने आप को ।
स्वतंतर होके विचरता, तजिकर परतंतर पापको ।।
गुरुद्वार में क्या काम है, घर छोड़ दीना बापको ।
गुप्त अपना आप है फिर, जपे किसके जापको ।।

पंथों में संत नहिं पडें पडें सोई बहते, अजी एजी ज्ञान के अंजन को सारो ।। ४ ।।

—०—

२५ लावनी (चाल दून)

शेर—

हाल दौरे का लिखें, सुन लीजिए चित लाय के ।
जो आया देखन सुनन में, सबही कहते गाय के ॥
ये जीव दौरा करत है, जगत जंगल आय के ।
भूल्या हुकुम सरकार का, रहा रैयत में उलझाय के ॥

हाकिम पति हाकिम जीव करै जग दौरा । अजी एजी; बैठि के माया असवारी ॥ जब करके देखी जांच तभी गलती निकली सारी ॥ टेक ॥ गलती गिरदावर जान पर्दा पटवारी । अजी एजी; सभी यह वेद जाल वस्ता । सतसंगति सड़क ज्ञान यही सीधा रख्या रस्ता ॥ सब हाल यही एक हवलदार तुम जानो ॥ अजी एजी; कायदा कर्मकांड भास्या, नानापन नंबरदार हुकुम भुगतन लाग्या सारा ॥

शेर—

वैर वलाई चले, तड़वि तामस धाय के ।
न्याव नाईं मन मन कर, हाकिम पे पहुंचे जाय के ॥
चित्त चौकीदार से, हाकिम कहै समुझाय के ।
प्रारब्ध जागीर खावो, सरकारी काम बनाय के ॥

रैयत रजोगुण बुलवाय कहा समझाय के ॥ अजी एजी; बकाया दीजै सरकारी ॥ १ ॥ ये मान अमीन बुलाय हुकुम दिया

तिसको ॥ अजी एजी; माप जल्दी कीजे प्यारे ॥ जो पड़ जायगी चूक फिरो जग जंगल में मारे ॥ सुनके हाकिम का हुकुम चला फुरती से ॥ अजी एजी; माप का साज लिया सारा । झगड़े की झंडी गाड़ शिस्त जिने बांधी यकतारा ॥

शेर—

वेद के कानून मूजिब, काम तिसको सब किया ।
कर्म फल को त्यागि के, मुक्ति रिशवत से हुया ॥
करके सफाई काम की, सब ही तिसे दिखला दिया ।
सुन लीजिये सरकार अब, यह काम हम जिस विधि किया ॥

सब ऊंच नीच लइ माप रही नहिं विस्वा । अजी एजी; नहीं छोड़ी हलकी भारी ॥ २ ॥ हम गेरी यतन जरीब ज्ञान का गट्ठा ॥ अजी एजी; काया भूमी की माप गिरी । जब निकली पंच हि कोष खेत तीनों में दखल करी ॥ जिंस चौरासी लाख खेत तीनों में ॥ अजी एजी; चार हिस्से कीनी सारी, इक्किस इक्किस लाख चढ़ी कागज के मंझारी ॥

शेर—

सत रूप जो सरदारपुर, तिस्से यह दौरा चल्या ।
भवानपुरतांडा पड्या, बाग में डेरा ढल्या ॥
पाप पांडवगुफा देखी, आसपुर में जा रल्या ।
भय बढ़े भीलवाड़ में, फेर कांगली लू में जल्या ॥

फिर देख्या लोभ लंगूर डाक वडि मारे । अजी एजी; करी जब मुर्द घाट त्यारी ॥ ३ ॥ जहाँ नाम नरबदा न्हाय मैल सव धोया ॥ अजी एजी; हवा हुरमत की खूब उड़ी । तिसते आगे चाल सवारी वाकानेर बड़ी ॥ यह वंका मारग जान पहुँचता कोई ॥ अजी एजी; मान की मनवर में आये । कामादिक रस्ता बिकट काट अमझेरे को पाये ।

शेर—

आभनाय अमझेरे में, थी अंबिका देवी रहे ।
जो समझे याके अर्थ को, पाप जन्मों के दहे ॥
सत रूप जो सरदार पुर है, उस्में उलटा आ रहे ।
फिर दौरे का झगड़ा चुक्या, निज धाम अपना पा रहे ॥

इस गुप्त दौरे का सार यार कोई समझे, अजी एजी, पार सब होवे नर-नारी ॥ टेक ॥

दोहा—

मुस्ताजिर माया में फंसे, बह गये वहवटदार ।
छुटि गये माया जाल से, सोइ उतरे परले पार ॥
लेवे सार सुगंध को, तज दुरगंध असार ।
पावे अपने रूप को सब, छूटे भरम विकार ॥

—०—

२६ लावनी (रंगत ख़याल)

काया मन्दिर माहिं पियारे, आतम ज्योतिर्लिंग रहे ।
मनीराम है तिसका पुजारी, तरह तरह के भोग धरे ॥टेक॥

गौण पुजारी और आठ हैं, अपने अपने काज चले ।
शब्द, अरु स्पर्श रूप, रस, गंध को लेके हाजिर खले ॥
नौ तो पूजा करें ज्ञान से, मन बुद्धि चित हंकार मिले ॥
दस पुजारी हैं कर्म कांड के, करते अपने कर्म भले ।
सब मिलि पूजा करें हैं देव की, जन्म २ के पाप दहे ॥ १ ॥

धूप दीप हैं साधन सारे, अरु जितने पतरा पोथी ॥
निज आतम वितिरेक जो किरिया, और सभी जावें थोथी ॥
सत चित आनन्द तीन पुष्प धरि, निश्चय में बुद्धी सोती ।
मन वाणी को गम्य नहीं जहं, मंद होय सबही जोती ॥
आप स्वयं परकाश विराजे, नेति नेति कर बेद कहै ॥ २ ॥

जोती सरूप है आप तुही फिर, किस ज्योती की आस करे ।
अन्तर बाहर तीन काल में, सबही का परकाश करे ॥
बुद्धी अरु अज्ञान में आके, तुही रूप आभास धरे ॥
''अहं-ब्रह्म'' यह विरती करके, तुही आवरण नाश करे ।
सब तेरी चमक की दमक पड़ी है पवनरु पानी सभी वहे ॥ ३ ॥

गुप्तरु परघट आप बिराजे, तेरे तो मरयाद नहीं ॥
सादि अनादि शब्द कहे दो, तेरे तो कोई आदि नहीं' ।

वेद शास्त्र में नाना झगड़े, तुझ में तो कोई वाद नहीं ॥
माया अविद्या जीव ईश में, तुझमें कोई उपाधि नहीं ।
काल का भय नहिं जरा भी तुझमें, काहे को विरथा दुःख सहे ॥ ४॥

—०—

२७ लावनी. रंगत ख्याल (प्रश्न रूप)

ख़बर नहीं है अपने घर की, औरों के घर की बात करे ।
कौन पुरुष इस काया नगर में रातदिना परकाश करै ॥टेक॥
चन्द्र सूर्य तारागण अग्नी, विद्युत वायक सब भासे ।
जाग्रत स्वपन सुसोपति तुरिया, चार अवस्था परकासे ॥
तुरियातीत अरु अंधकार को, या काया में कौन लहे ।
लिया दिया अरु खाया पीया, पहिली वातां कौन कहे ॥

शेर—

सब हाल का होय ख्याल जिस्में, कौन कुव्वत पायके ।
कहने मेरे पर गौर का, मन आपने को लायके ॥
अंतर में करो विचार, क्यों मरे बाहर धाय के ।
जाता आता कौन है, सबही कहो समझाय के ॥

तन शहर का खोज करो याँ को जग्मै अरु कौन मरे ॥ १ ॥
ईश्वर जीव कहत है किस को, भेद का कारण दिखलावो ।
क्या स्वरूप औरु देश काल है, वस्तु तिनकी बतलावो ॥

गुण शक्ति अरु वाचा कौन है, क्या करते अरु क्या खाते।
कौन देश तिनके विचरन को जहाँ पे ये आते जाते॥

शेर—

चेतन नित्त समान है फिर धर्म उलटे क्यों कहे।
एक तो सर्वज्ञ है, अल्पज्ञ दूजा क्यों चहे॥
एक तो करता नहीं, अरु एक कर्ता क्यों रहे।
एक तो आनन्दमय है, एक दुख को क्यों सहे॥

जब वह भजन करे ईश्वर का, फिर कैसे उसे आजाद करे॥
तत्तत्वं पद का वाच्य कहा है, कौन लक्ष कहलावे है॥
महावाक्य में वृत्ति कौनसी, जो तिनका भेद मिटावे है॥
अहं ब्रह्म यह ज्ञान कहावे, सो यह होता है किसको।
या तन में रहे कौन अज्ञानी, हमने बतलावो उसको॥

शेर—

प्रक्रिया सबही कहो, वेदान्त के सिद्धांत की।
जिसे जोनि के ज्ञानी पुरुष, बात करते ज्ञान की।
जिस करके करते ध्यान को, वह कौन वार्ता ध्यान की।
समाधी के विघन साधन, बात कह अष्टांग की।

कै प्रकार की है वह समाधी, जिसकर योगी योग करे॥ ३॥
काल का भय किसको रहता है, कौन वंधु अरु क्या मुक्ती।
मुक्ति होयअरु बन्ध से छूटे, सभी कहो तिनकी युक्ती॥

ज्ञान के साधन कौन पियारे, किसको कहते हैं भक्ती ।
कै प्रकार की कैसे करते, बतलावो करके शक्ती ॥

शेर—

पंच कोश अतीत आतम, कौन कारण से रहे ।
सबके शामिल मिल रहा, कैसे अकारता हो रहे ॥
गुप्त परघट एक है, क्यों अपनी लज्जत खो रहे ।
फंसि के अविद्या जाल में, इस जगत में क्यों मोरहे ॥
व्यापक ब्रह्म स्वरूप कहत हैं, कैसे डूबे कैसे तरे ॥ ४ ॥

(इति प्रश्नः)

—○—

२८ लावनी. चाल दून (पूर्व प्रश्नों के उत्तर)

कर घर अपने की खबर सबर से सोवे । अजी एजी; आतमा सब का परकासी ॥ सत् चित् आनन्द रूप स्वयं प्रकाश है अविनासी ॥ टेक ॥ जब स्वप्न अवस्था होय नहीं कोइ जोति ॥ अजी एजी; भासता जगत जाल सारा । सब जोति जीवाभास नहीं तुझ दृष्टा से न्यारा ॥ जो कहीं अवस्था चार जाग्रत आदि ॥ अजी एजी पंचमी तुरियातित जानो ॥ इन सब का व्यभिचार एक रस आतम पहिचानो ॥ जिसे अंधकार प्रकाश भासते दोनों ॥ अजी एजी; उसे आभास बताया है ॥ लेना देना जान भूल सब उसमें हि गाया है ॥

शेर—

चैतन्य जो कूटस्थ है, तिसकि शक्ती पाय के ।
आभास अन्तःकरण में, सब ख्याल बरतें आय के ॥
ख्याल की पहिली कली में, कहे परसन गाय के ।
पुरिअष्टिका में गमन होय, सुनलीजिए चित लायके ॥

जन्मे मरता स्थूल विकारी षट्का । अज़ी एजी; आतमा जावे नहीं आसी ॥ १ ॥ माया में पड़्या आभास ईश कहलावे । अजी एजी; अविद्या माहिं जीव कहिये, यहि कहते तिनका रूप भेद उपाधी से लहिये ॥ अब देश काल वस्तू का हाल कहूं सगला । अजी एजी; ईश के तीन देश भाखे ॥ सूत्रातम् वैराट, तीसरे अव्याकृतराखे ॥

शेर—

भूत भविष्यत् वर्तमान काल तिसके हैं सही ।
समष्टी, स्थूल, सूक्षम, कारन ये वस्तू कही ॥
आठ गुण हैं माया शक्ति, ऊँकार वाचा हुई ।
अब जीव के सुन लीजिये, टुक समझ के मेरी कही ॥

है नेत्र, हृदय, अरु कंठ, देश यह तीनों । अजी एजी; अवस्था तीन काल भासी ॥ २ ॥ इंद्रियाँ और स्थूल हैं तिसकी वस्तू । अजी एजी; चतु-र्दश गुण जिसमें रहते ॥ किरिया शक्ती जान वैखरी बानी को कहते; ॥ सो कर्ता पुन्यरुपाप दुःख सुख खाता । अजी

एजी; लोक लोकांतर को जावे ॥ दूजा रहे असंग; नहीं कछु करै नहीं खावे ॥

शेर—

चेतन नित्य समान है, धरम उलटे यों कहे ।
माया अविद्या भेद से, करता अकरता बनि रहे ॥
करता मती के भेद से, सुख अरु दुख को सहे ।
निष्काम होय ईश्वर को भजता, आजादता में हो रहे ॥

त्वं पद वाचक जीव ईश तत् पद का। अजी एजी; असी पद लक्षहै सुख रासी ॥३॥ होय चिदाभास को ज्ञान वही अज्ञानी ॥ अजी एजी सभी प्रक्रिया को जानो ॥ नहिं प्रक्रिया का अंत वात जिसकी करते ज्ञानी ॥ विधि, इच्छा, हठ, विस्वास, ध्यान उपयोगी ॥ अजी एजी; आदि में विघन चार रहते । साधन हैं तिसके आठ योगी जिसे निर्विकल्प कहते ॥

शेर—

अभ्यास की कर तारतम्यता, भेद तिसके बहुत हैं ।
भय रहता अंतःकरन में, अब बंध मुक्ति कहत हैं ॥
बंधन विषयों की वासना, त्याग को मुक्ती कहैं ।
तज राग को युक्ती यही, फिर मुक्त आपै हो रहैं ॥

ज्ञान के साधन अष्ट भक्ति बहि रंगा । अजी एजी; भक्ति वहि काटे सब फाँसी ॥ ४ ॥

शेर—

नौधा प्रेमा परा भक्ति, कहते यों त्रय भेद हैं ।
दृष्टा है पंचो कोष का, यों कोष तें न्यारा कहैं ॥ १ ॥
जैसे मिला आकाश सब में, गुन दोष नहिं धारन करे ॥
तैसे निजातम देह के, धर्मों से नहिं जन्मे मरे ॥ २ ॥
भरम के वश करमकर, भल्या है अपने रूप को ॥
निद्रा में कंगाल होइ, स्वपना जो आवे भूपको ॥ ३ ॥
आतम तो ब्रह्मस्वरूप है, पर की उपाधी को धरे ॥
इस हेतु से यह डूबता, तजकर उपाधी को तरे ॥ ४ ॥
गुप्त आत्मा में भरम करके, अंतर वो बाहर भासता ॥
एक रस रहता सदा, आपहि आप उजासता ॥ ५ ॥

—०—

२९ लावनी (चाल दून)

क्या सुनूँ कि देखूं तेरे ख्याल की लीला, महाराज ये मूरत किसने बनाई है। अजब तरह की सूरत सबी, यह कहाँ से आई है ॥टेक॥
कहीं शिव ब्रह्म विष्णु हो के चरण पुजावे, महराज कहीं सुर असुर लड़ाई है । बन के मोहनीसूरत सुधाहित करी ठगाई है ॥
कहीं वने देव कहीं पुरंदर राजा, महराज सभा गंधर्व सजाई है । करे अपसरा नृत्य ताल सुरसे कहीं गाई है ॥

शेर—

कहीं पद्मासन बांधे मुनिजन, ध्यान तेरा करि रहे ।
ब्रह्मानंद में होके मगन, कोइ मुक्त जीवन बन रहे ॥
तीर्थ यज्ञादिक करे कोई, दान में मन दे रहे ।
कोइ भोजन प्रेम से दे, कोई भिक्षा लेरहे ॥

कहिं पंडित बनके वेद पाठपढ़ते हैं । महाराज हरिजन हर गुन गाई है ॥ १ ॥ कहीं पै राजा रानी कहीं रइयत है, महराज चोर ठग पड़े दिखाई है । कहीं पाप कहीं पुन्य शत्रु कहीं करे भलाई है । यह खलकत तेरे ख्याल की चाल निराली, महाराज देखैं देखी नहीं जाई है । सभी शान हर आन एक नहिं मिले मिलाई है ।

शेर—

कहीं ऐसी शान है, कुरबान आलम हो रहे ।
हुस्न बिजली सी चमक में चित्त जिनके मोहरहे ॥
देख बद सूरत कहीं पै, मुंह में पल्ला ले रहे ॥
तारीफ निंदा शान की, अपनी जबां से कहि रहे ॥

मी० ॥ कहीं देख के सूरत खुदी ये मन चल जावे, महराज नहीं वो हटे हटाई है ॥ २ ॥ टेक ॥ ये चित्र रचे हैं एक से एक अनोखे । महराज ये माया से उपजाई है ॥ पलभर में हो नाश नहीं कछु परै दिखाई है ॥ तू कोतुक करके देखै खलक तमाशा । महराज चतुर भूले चतुराई है ॥ स्वसरूप को विसरि रूप में रहे लुभाई है ॥

शेर—

माया जो ऐसी आपकी, निकसै नहीं योगी यती ।
त्याग बंधन की क्रिया को, उसमें फिर करते रती ।।
त्याग संग्रह के विषय में, बेखबर जिनकी मती ।
नीर बिन संसार में, डूबे हैं अचरज सी गती ।।

मी० ।। इन खुले नयन से खलकत परै दिखाई । महराज नैन बिन सब मिटजाई है ।। ३ ।। टेक ।। ईश्वर माया जीव अविद्या दोनों, महाराज जहां लों श्रवण सुनाई है । इंद्रिय मन का विषय तत्वजन कहैं समुझाई है ।। नहिं अंदर बाहर नहिं दूर नहीं नेरे । महराज वेद नेति कहि गाई है, स्वयंसच्चिदानंद ब्रह्म निर्बंध सदाई है ।।

शेर—

शुद्ध है चेतन्य है वह, नित्य ब्रह्मानन्द है ।
निर्मल निजातम है सदा, ना कोई माया गंध है ।।
प्रकाश ना पहुँचे कोई जहां सर्व ज्योति मंद है ।
गुप्त है सो प्रगट दीखे, गुप्त गुप्तानन्द है ।।

मी० ।। ये विषय वासनामय दुखरूप सदाई । महराज ये महरम गुरु से पाई है ।। ध्रुव निश्चय होगया आप अपनेईं माहीं है ।। ४ ।। टेक ।।

—०—

३० लावनी (चाल दून)

तुहीं व्यापक ब्रह्म अखंड नहीं जहं लीला, महाराज अपने में आप भुलाया है। स्वपने का परपंच जागिकर कहूं न पाया है ॥ टेक ॥ सब तेरे ही फुरने का है विस्तारा, महराज नहीं कुछ तुझसे न्यारा है, कर देखो तत्व विचार सभी मिथ्या संसारा है ॥ कहिं नहिं आशिक माशूक सभी यह झूंठा, महाराज नहीं कोइ मरे न मारा है। सुन गीता का ज्ञान कृष्ण को यह निरधारा है ॥

शेर—

अब शेर यामें लिखत हैं, समझे सोई नर शेर है ।
समझे सो पावे आपको, बिना समझे फेर है ॥
सब फेन तरंग तुषार जल में, पडत घूमर घेर है ।
यक तोय से कछु भिन्न नाहीं, दृष्टि माहीं फेर है ॥

कर देखो दिल में ख्याल हुया नहिं होगा। महाराज नहीं कोई जाप जपाया है ॥ स्वपने का. ॥

जैसे सुवरण में भूषण बने अनेका। महाराज एक नहिं मिले मिलाया है ॥ कंठ, कुंडल, अरु नाथ, कंदोरा, खूब बनाया है ॥ जब देखे नाना रूप, भूलि गया सोना, महराज मोल तिसका करवाया है ॥ जब कांटे धरा सराफ तभी यक सुवरन पाया है ॥

शेर—

तैसे जगत है आत्मा में, कनक में भूषन यथा ।
नीर माही लहर जैसे, सीपी में रूपा तथा ॥

आकार दृष्टि छोड़ि के, टुक समझ ले उस यार को ।
यार है दिलदार दिल में, देखि अजब बहार को ॥

तू नहीं रक्त नहीं स्वेत न काला पीला । महाराज नहीं खोया नहिं आया है ॥ २ ॥ टेक ॥ जैसे नभ माहीं दीखत नीला काला । महराज जनों तंबू तनवाया है । धूलि धूम अरु मेघ गगन नहिं लिपे लिपाया है ॥ ऐसा है आतम अद्भुत रूप तुम्हारा । महराज लिपै नहिं देह विकारा है, जो देखन में आवे सभी यह झूंठ पसारा है ॥

शेर—

रहता सदा तुही एक रस, दूजे का तुझमें लेश ना ।
आरम्भ और परिणाम नाहीं, देश और परदेश ना ॥
सादी अनादि कोइ नहीं, सब कल्पना का अंत है ।
तूही सदा बिव्रत रूप है, कोई समझे विरला संत है ॥

कर्ता क्रिया और कर्म सभी है झूंठा । महाराज जनों स्वपने की माया है ॥ ३ ॥ टेक ॥ यों होय जगत का अंत, संत यह कहते । महाराज वेद ने ऐसे ही गाई है ॥ नेति नेति कहि शब्द तुझे यह सैन लखाई है ॥ ये चारचूं बैठेहार चल्या नहिं चारा ॥ महाराज सभी झूंठी चतुराई है । पढ़ि पढ़ि वेद पुराण करी जग माहिं ठगाई है ॥

शेर—

कोई गुप्त से परघट कहै, परघट जो गुप्तानन्द है ।
कोई ध्रुव से चलता कहै, सो चलता परमानन्द है ॥
वस्तु में कछु भेद नाहीं, कहन माहीं फेर ह ।
जैसे वन के पशू को, कोइ बाघ कहे कोई शेर है ॥
कोई कहै ब्रह्म कोई कहे उसी को माया ॥ महाराज भेद तिसमें नहिं भाया है ॥ ४ ॥

—०—

३१ ख्याल (रंगती दून)

मत पड़े भरम के जाल ख्याल सुन मेरा । महराज बात वेदों ने गाई है, तुही सच्चिदानन्द सभी तेरी रोशनाई है ॥ टेक ॥ जब हुवा भर्म तो लगा खेल के माहीं, महाराज सुधी अपनी विसराई है । तरह तरह के रंग राग में सुरति लगाई है ॥ उस सूरत में मूरत का ही प्रतिबिंबा ॥ महाराज वही आभास कहाई है । सोन करै करता बनिके माने मनमाहीं है ॥

शेर—

भर्म के वश कर्म करि, फिरता है माया ठाट में ।
वो अविद्या होके तेरे, मारे, सिर की टाट में ॥
तू खुशी करि मानता, लगता विषय की चाट में ।
अज़ब नमा चीज को, देखन लगा है हाट में ॥

मी. ॥ इन सबी चीज का बीज नजर नहिं आवे, महाराज विजय बिनु फिरे भुलाई है ॥ १ ॥ यक सुन्नभींत पर चित्र रंगे बहु भाई, महाराज बिना कर लिखा चितेरेने । धोये से ना मिटे मारता नाहीं तेरेने । यों भ्रम वश होकर फंसा सत्य माने है ॥ महाराज करे है कर्म जो उतनाई । छूटन को जी चाहे, मगर वाही में उलझाई ॥

शेर—

निरबंध में बंधन समझ, करता जो डोले कर्म को ।
धर्म धर्मी से जुदा सो, मानता है धर्म को ॥
देश कालातीत आतम, देखता क्या चर्म को ॥
पर को अपना जानता सब छोड़ि दीनी शर्म को ।

मी. ॥ यों शर्म छोड़ि के फिरता मारा मारा, महराज हुवा गफलत के माहीं है ॥ २ ॥ आघष्ठान के ज्ञान बिना जग भासे । महराज सर्प रज्जू में परकासे ॥ रज्जू ज्ञान से सर्प तभी वह वाही में नासे ॥ जा अज्ञानते उपजत है जो जामे, महाराज ज्ञान होता ही मिटिजाई ॥ ठूंठ ज्ञानते तस्कर का भय होवत है नाहीं ॥

शेर—

पाप पुन्यों से अलहिदा, कृष्ण गीता में कहा ।
अज्ञान वश हो जीव, ये खुद आप संकट सह रहा ॥
वाशिष्ठ मैं श्रीराम से परसंग ऐसा चल रहा ।
अज्ञान अपने आपके से, वृथा ही नर जल रहा ॥

मी. ॥ यह विश्व सभी फुरने का है विस्तारा। महाराज देख अनुभव के माहीं है ॥ ३ ॥ जो सत चित आनन्द व्यापक ब्रह्म कहावे। महाराज वेद नित अभेद कहि गाई ॥ नेति नेति कहि थाकी श्रुति नहिं उसकी थाह पाई ॥ फिर कौन अलहिदा शामिल किस को कहिये ॥ महाराज भेद की गंध नहीं राई ॥ ज्यों वंध्या का पुत्र किसी ने देखा है नाहीं ॥

शेर—

चेतन निरमल शुद्ध है, सो कभी छिपता नहीं ।
सर्व का परकाश है, वह सर्व में लिपता नहीं ॥
आनन्द गुप्तानन्द का, वह प्रकट में जाता नहीं ।
एक रस वह वस रहा, पकड़े से कहिं आता नहीं ।

मी. ॥ है स्वयं सच्चिदानंद नहीं कछु करता, महाराज समझ ध्रुव बात जनाई है ॥ ४ ॥

—०—

अथ वेद शास्त्र पुराणादिकों का सार (कवित्त पच्च सी)

३२ कवित्त

ईश इच्छा अनुसार, पाया विष्णु को अधिकार। सोतो रचता संसार, नाना भांति कर पेखिये ॥ मही बाढ़त है भार, तब धारत औतार। धर्म की बांधत कार, पाप सब छेदिये ॥ कहीं शूकर कहीं कच्छ, कहीं लक्ष औ अलक्ष, कहीं पर घट ही लेखिये ॥

दुष्टन को मारिडारे, संतन के काज सारे कहीं गुप्तरूप धारे, यह अचरज देखिये ॥ १ ॥

दोहा—

नाना विधि लीला करै, जिस का वार न पार ।
हानी होवे धर्म की, तब विविध वेष औतार ॥

३३ कवित्त

जब राम रूप धाऱ्या, ब्रह्म ज्ञान को संभाऱ्या । गुरु वशिष्ठ पधाऱ्या, राज सभा में आयके ॥ विश्वामित्र तहां आये, जब राजा हरषाये । तहां राम को बुलाये, ब्रह्म ज्ञान को सुनाय के ॥ यज्ञ ऋषी के सुधारे, सिया स्वयंवर पधारे । जहां तौड़े धनुष भारे, मान भूपों के घटाय के ॥ हरी भक्तों की शरन, पूज्यो राव को परन । किया सिया को वरन, पहुँचे अवधहु में आय के ॥ २ ॥

दोहा—

राम रूप को धारि के, कीने अद्भुत काम ।
भक्तीवश ह्वै राउ की, धऱ्यो रामजी नाम ॥

३४ कवित्त

फेरि बन को पयाना, जहाँ सिया को चुराना । सुग्रीव को निवाना, दुष्ट बाली को पछाऱ्या है ॥ बन्दर शोध को पठाया, सेतू सागर पै बंधाया । चढ़ि लंकाहु को धाया, दशशीस को बिदाऱ्या है ॥ ऐसे किये सभीकाज, फेरि आय कियो राज ।

बाँधी धर्म की मर्याद, सब प्रजा को सुखाज्या है ॥ किये सब ही शुभ काम, फेरिगये निज धाम । जहाँ पाय के आराम, सब श्रम को निवाज्या है ॥ ३ ॥

दोहा—

भार उतारयो धरनि को, बाँधी धर्ममर्याद ।
परघट किया गुण कर्म को, जिसको गावैं साध ॥

३५ कवित्त

फेरि मथुरा में आये, वसुदेव घर जाये । पुत्र नन्द के कहाये, रहे गोकुल में धाय के ॥ बानी हुई जो अकाश, जाने कियो परकाश । ऊपज्यो त्रास, जब कंस मन आय के !! मता कंस ने उपाया, जब हुकुम सुनाया । सभी मंत्री बुलाय मारें वाल कोने जाय के ॥ प्रथम पूतना पधारी, सोतो खैंचि खैंचि मारी । दैत्य आये कपट धारी, सब राखे हैं संहार के ॥ ४ ॥

दोहा—

रामकृष्ण लीला करी, जाय बने गोपाल ।
कंस केशी चाणूर से, हने दुष्ट भूपाल ॥

३६ कवित्त

राम और गोपाल, लीला कीनी सब बाल । मारे धरा के भूपाल, और दुष्ट जो संहारे हैं ॥ किया जल बीच वास, पूरी भक्तन की आस । कुरुक्षेत्र प्रभास कौरव यादव सब मारे

हैं ॥ ताज्यो धरनी को भार, ऐसे कियो है संहार । फेरि जाय सोये नार, निज धाम में पधारे हैं । जब होती है अनीती तब होय यह रीती । ऐसी ईश्वर की नीती, याते सब कोई हारे हैं ॥ ५ ॥

दोहा—

अर्जुन उद्धव विदुर को, स्वयं बताया ज्ञान ।
काज किये मन भावते, प्रभु पहुंचे निज धाम ॥

—०—

३७ कवित्त

कारण जीवों के कल्याण, गुण कर्म भक्ति ज्ञान । जाने कियो है विख्यान, परगट करिके दिखायो है ॥ अष्टा दस जो पुरान, किये व्यास भगवान । महाभारत के माहिं, विस्तार ते बतायो है॥ वेदमें जो काँड तीन, लिये सब बीनि बीनि । भक्ति कर्म के अधीन, निज ज्ञान को सुनायो है ॥ वानी वैसरी अपार, जाको नहीं वार पार । लेवे बुधि मान सार, काज आपनो बनायो है ॥ ६ ॥

दोहा—

निगमागम इतिहास, औ अष्टादश पुरान ।
कहैं जो कर्म उपासना, इन सबको फल ज्ञान ॥

ज्ञान बिना मुक्ति नहीं, यह तू निश्चय जान ।
वाजै डंका वेद का, सबसे प्रबल प्रमान ।।

—०—

३८ कवित्त (निष्काम)

तिस ज्ञान के ही हित, कहे साधन अमित । सुनि लीजे कर के चित्त, कहें तिनको बखानि के ।। फल कामना का त्याग, कीजे विधी अनुराग । याते छुटै सब दाग रहै मलदोष हानि के।। उठे वासना अपार, अंतःकरण के मंझार । ताको भयो तिरस्कार, मल दोष गया निश्चय लीजिये जानि के ।। निष्काम को यह फल, जाते दूर होवे मल । मन होत है अचल वृत्ति ध्येया कार तानि के ।। ७ ।।

सोरठा—

वृत्ति ध्येयाकार, चलता मन तव स्थिर रहे ।
यही ध्यान परकार, ध्येयाकार मन जब गहे ।।

—०—

३९ कवित्त (निष्काम)

अब कहत उपासना को, दूरि करे वासना को मेटे भव-वासना को, नाता जग तोड़ती । मनवाह्य वृत्ति धावे, तिनें फेरि कर लावे । निज तत्व जय पावे, विषयों ते यही मोड़ती ।।

कहीं जाय के इकान्त, करे ध्येयहू को चिंत जब पावे कछु तंत, तब ध्यान हू में जोड़ता । जैसे नारि व्यभिचारी पर पुरष वृत्तिधारी, तैसे जानो अधिकारी, वृत्ती ध्येयहू को लोड़ता ॥ ८ ॥

दोहा—

बृत्ती अन्तःकरन में, होवे ध्येयाकार ।
नाशे मल विक्षेप सब, अब कहैं विवेक विचार ॥

—०—

४० कवित्त (विवेक)

सब साधन में सरदार, सब नरों का सिंगार विवेक औ विचार, याते सत्याऽसत्य पेखिये । आतम अविनाशी, सब जगत् विनाशी, सोतो सदा सुख राखी, सारा जग चल पेखिये ॥ यह जेष्ठ जब आवे, संग अनुजों को लावे अविवेकता को खावे, याको भूलि मति छेकिये । जब जाने नित्याऽनित्य, तब होवत है हित्त सुनि लीजे कर के चित्त, सोतो परम विशेषिये ॥ ९ ॥

दोहा—

लक्षण कहा विवेक का, सो तू निश्चय धार ।
बिगड़े काज अनादि के, पल में देत सुधार ॥

—०—

४१ कवित्त (वैराग्य)

दूजा भ्राता जब आवे, तब रोष को दिखावे। सब झूंठा ही बतावे, दृष्य जाल को दिखाय के॥ इच्छा त्यागने की होवे, लोक वासना को धोवे। गत हुये दिन रोवे, बृथा आयु को गवाय के॥ जाने जानते थे सच्चा, सो तो पायो अतिकच्चा, सब झूंठे नाच नच्या, वामें मज्यो धाय धाय के॥ यह जगत जाल तजूँ, निज रुपही को भजूँ। अवसाज यही सजूँ, गाऊँ राग निज पाय के॥ १०॥

दोहा—

यह सरूप वैराग का, जो कोइ लेवे जान।
फिरि याको धारन करै, तब करै वेगि कल्यान॥

—०—

४२ कवित्त (उपरती)

तीजो मैया है उपरती, सो तो करत है निबरती। धारि लेत षट्, देत विषयों ते हटाय के॥ मन इंद्रियहु को तोड़े, नाहीं विषयन में जोड़े। वेद गुरू श्रद्धा लोड़े, समाधान को ठहराय के॥ और साधन जो कर्म, सब जानि लेवे भर्म। जाने विषयों को मर्म, भाजे विषवत धाय के॥ निज परनारी, सब लागत है खारी। ऐसी धारना को धारी, द्वैत दिये हैं उड़ाय के॥ ११॥

दोहा—

तीजा साधन उपरती, सोहै षट् परकार ।
जब याकौ धारन करै, तब कुछ देख बहार ॥

—०—

४३ कवित्त (जिज्ञासा)

चतुर्थ जिज्ञासा है भाई, जाने इच्छा उपजाई करे जीव की सहाई, आशा सुखकी लगाय के ॥ जन्म मरन दुख जावे, ब्रह्मानन्द सुख पावे । जब शांती चित्त आवे तोहि कहत सुनाय के ॥ गुरु ज्ञानवान् पास, जावे करिके तलाश । तेरी पूरे सब आंश, कहे ज्ञान समझाय के ॥ अब कीजै यही काम, होय दिल में आराम । पावे सुखहु को धाम, रहे ब्रह्म में समाय के ॥१२॥

दोहा—

जिज्ञासा चौथो कह्यो, निश्चय कर मन माहिं ।
सुख की करता प्राप्ती, दुख को छोड़े नाहिं ॥

—०—

४४ कवित्त (श्रवण)

कछु वेद काह्वै भान, निज आतम से ध्यान । ऐसे गुरू देवे ज्ञान, निज ब्रह्म को बतावते । ऐसे लक्षण पहिचाने, सेवा तिसही की ठाने । जब दया दृष्टी आने, तब तत्व को सुनावते ॥ वाक्य वेदों मंझार मुख्य कहे हैं जो चार । करें तिन को उचार,

तत्व मसि गावते ॥ ताको सोधन बतावे, वाच्य अर्थ को छुटावे, वृत्ति लक्षणा ठहराबे, फेरि लक्ष को लखावते ॥ १३ ॥

दोहा—

तत्वमसि आदिक वाक्य जो, सुनना करके कान ।
इस स्थल के बीच में, ये ही सरवन जान ।

—o—

४५ कवित्त (मनन)

श्रवण किये हैं वचन, कीजे मन से मनन। ओष्ठ वाक्य को हलन, या में रंचहू न देखिये ॥ युक्ती भेद की है बाधक, और अभेद की स्वयं स्वरूप की साधक, वार वार ताको लेखिये ॥ प्रमाण औ प्रमेयगत, भावना असंसत । श्रवण मनन से होवे गत, यह निश्चय करि पेखिये ॥ तजे मूरखों का संग करे होय के असंग। लागे श्रवण को रंग, पावे पद जो अलेखिये ॥ १४ ॥

दोहा—

मनन इसी को कहत हैं, मन से करे विचार ॥
सीधे सत्य असत्य को, खैंचि गहे निजसार ।

—o—

४६ कवित्त (निदिध्यासन)

वृति धारा ज्यों बहावे, सब ब्रह्म में ठहरावे ये निदिध्यासन कहावे, खोवे विपरीत भावना ॥ वृत्ति उठत सजाती, दूर होवत

बिजाती यही करो दिन राती, मन फेरि फेरि लावना ॥ वृत्ति होवे ब्रह्माकार, उड़े वासना की छार । तब देखना बहार, जो महान् पद पावना ॥ वृत्ति होवे परिपक्क, तीर लक्ष में तक्य यामें कछु नाहीं शक्य, जो समाधी कहे गावना ॥ १५ ॥

दोहा—

निदिध्यासन श्रवण मनन, तीनो बसते आन ॥
तेहि पर अवश्य पधारते, भूपति निश्चय ज्ञान ।

—०—

४७ कवित्त (ज्ञान)

चढ़ी ज्ञान की सवारी, तेगा हाथ लियो भारी । 'अहं-ब्रह्म' किलकारी, करी, दल बिच आय के ॥ दूजो राव था अज्ञान, सो तो लड़त मैदान । छूटे ज्ञानहू के वान, योधा चाल्या है पलाय के ॥ अज्ञान दल मारे वाजे ज्ञान के नगारे । होने लागे जयजय कारे, निज अदल जमाय के ॥ पाया राज जो गुप्त हुये जीवत मुक्त । तीनों काल मेंना जगत्त, कहे एक ब्रह्म वेद नेति नेति गाय के ॥ १६ ॥

दोहा—

जीव नहीं तू ब्रह्म है, अविनाशी निरवान ।
बजे ढंढोरा वेद का, कहें इसी को ज्ञान ॥

—०—

४८ कवित्त (जीवन मुक्ति)

वेद कहे याको ज्ञान, सो तो प्रबल प्रमान। हुये पुरुष जो शंकर, आदि सब गायी है॥ याते होवत मुकत, यह पाय के वखत। मिथ्या भासे यह जगत, जाको सच्चा जानि धायो है॥ जीवनमुक्ती जो कहावे, भेद भ्रांती को उड़ावे। पुनरावृत्ती को मिटावे, एक ब्रह्म मन लायो है॥ छूटे धारना औ ध्यान, पाया पद जो महान्। सब ज्ञान औ अज्ञान, ब्रह्म-नीर-में बहायो है॥ १७॥

दोहा—

यह जीवन मुक्ति कही, दूजी कही विदेह।
स्थित ह्वै निज रूप में, छूटि जाय जब देह॥

—०—

४९ कवित्त (विदेह मुक्ति)

कही मुक्ती जो विदेह, सो तो झगड़ों का गेह। कीजे कौन से सनेह, नाना भांति कहि रोवते॥ कोई दोऊ को सुनावे, एक जीवत बतावे। कोई ईश्वर में मिलावे, कोई शुद्ध ब्रह्म पोवते॥ कोई कर्म से बतावे, कोई ध्यानहू ते गावे। कोई वासना मिटावे कोई शिला पत्थर जोवते॥ कोई लोकों में बतावे, कोई कहें लौटिआवें। नाना झगड़े मचावे, चीर पंक महिं धोवते॥ १८॥

दोहा—

कोई समसमुच्चयमानते, कोइकर्मसमुच्चयवाद ।
आगम निगम पुरान का, सार गहे कोइ साध ।।

—o—

५० कवित्त (जीवन मुक्तों का व्यवहार)

कहे जीवन मुक्त, तिनके लक्षण व्यक्ताव्यक्त । नहीं विषयों में आसक्त, सो तो साज नाना साजते ।। कभी कटी में लंगोटी लिये हाथ माहीं सोटी । कभी सोटी ना लंगोटी, नागे ही विराजते ।। कभी ध्यान को लगावे, निजरूप में समावे, कभी दृष्य मन लावे, कछु लाज नहीं लाजते ।। कभी तत्व को विचारें, कभी वाक्य उच्चारें, कभी मौन ही को धारें, कभी सिंह सम गाजते ।। १९ ।।

दोहा—

तिनके लक्षण को लखें, जिनको जान्या लक्ष ।
वाच्य अर्थ को त्यागि के, निर्भय विचरें दज्ञ ।।

—o—

५१ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

आश्रम वर्ण नाहीं, जाति कुल धर्म नाहीं । नेम को परन नाहीं, स्वतः ही चरत हैं ।। कोई कहे जीवन् मुक्त, कोई विषय में आसक्त । ठगि खायो सारा जगत, नाना वेष ही को धारते ।। कोई जाने तत्व, ज्ञानी, तासे बोले मीठी बानी । सुने सब की

कहानी, कछु मनन धरत हैं ॥ जान्या आपको असंग, चढ़ै काहू का न रंग । जाने जीत्यो अति जंग, सो तो मार्‍यो ना मरत है ॥ २० ॥

दोहा—

काल नगारे शीश पै, डंका ज्ञान लगाय ।
सब कल्पित निजरूप में, विचरत सहज सुभाय ॥

—०—

५२ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

कभी तीर्थों में जावे, कभी मरूभूमि आवे । कभी भोजन अतिखावे, कभी भूखों ही रहत है ॥ राखै काहुसे ना काम, रहे दिल में आराम, एक आतम में धाम, निजरूप में चरत है ॥ करने योग किया काज, तजी जगत् की लाज । मिथ्या जाने सब राज, स्वयं राज को करत है ॥ देह इन्द्रिय अरु मान, मन रहत है दीवान, बुद्धि नारी है महान, चित् चिंतन करत है ॥ २१ ॥

दोहा—

अहंकार सब काज को, देवे तुरत संभार ।
मन दीवान के हुकुम से, खड़ा रहे दरबार ॥

—०—

५३ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

जपै ईश को न जाप, मिटा भेद भरम पाप । स्वयंरूप चिदाकाश

कहीं जावना न आवना ॥ राखे काहू से न काम, मस्त रहे आठोयाम । रहे आतमा आराम, जो अदृष्ट भोग लावना ॥ कभी खाट औ विछोना, सम मिट्टी और सोना । मिलै चना औ चबेना, आनन्द गीत गावना ॥ माने काहू से न शंक, चहे राब होवे रंक । रहे सदा निशंक, हुई एक ब्रह्म भावना ॥ २२ ॥

दोहा—

काल कर्म फांसी कटी, विचरत है निर्द्वंद ।
तिन की गति कैसे लखे, जग-मानमोतियाबिंद ॥

—०—

५४ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

कोई कहे यह भ्रष्ट, कोई मानते हैं इष्ट । सदा मनमें संतुष्ट, ताको हर्ष नाहीं शोक है ॥ कहीं पूजते हजार, कहीं देते हैं धिक्कार कोई नाहीं मित्र यार, कछू रोष नाहीं तोष है ॥ कभी मांगते हैं भीख, कहीं देत शुभ सीख । कभी बोले ना अलीक, बिक्षेप शक्ति शेष है । परमार्थ दृष्टी माहिं, तूलामूला दोई नहिं, व्यवहार दृष्टी माहिं, मान्य तूला का ही लेख है ॥ २३ ॥

दोहा—

मूला तूला प्रारब्ध, स्वयं स्वरूप में नाहिं ।
अन्य दृष्टि करके कही, वेद शास्त्र के माहिं ॥

—०—

५५ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

तत्व ज्ञान मनोनाश, उड़ी वासना की वास। जब होत है हुलास, तिन तीनन को पाइ के ॥ याते होवे जीवन मुक्ति, छूटे सब ही आशक्ति। छावे दिल पै विरक्ति, वेद कहे नित गाय के ॥ समुझे वेद तत्व भेद, जाते दूर होवे खेद, आप जानत अछेद, सुनो मन बुद्धि लाय के ॥ जाको खोजने को जाये, सो तो कहीं नहीं पाये। अंतर वृत्ति क्यों नहिं लाये, बाह्य मरै धाय धाय के ॥ २४ ॥

दोहा—

जो समझे इस रमज को, मिथ्या बंधरु मोख।
वेद कहे नित टेरि के, मन अपने में जोख ॥

—o—

५६ कवित्त (समाप्ती)

पांच और बीस कहे; कवित्त पचीस। सम्वत् एक सौ उन्नीस, मुनी सिद्धि कहि गायो है ॥ कहा वेद तत्व सार, कोई समझेंगे यार। कहा जानत गंवार, जाने विषय मन लायो है ॥ यामें साधन औ ज्ञान कहे, जीवत विदेह भये। लक्षण तीहूँ के कहे, काज आपनो बनायो है ॥ ऐसा साज्या जिने साज, पायो चक्रवर्ती राज। रहें सुख सो विराज, निज रूप में समायो है ॥ २५ ॥

दोहा—

अष्टादस प्रस्थान जो, कहा सो निश्चय जान ।
साधन तो सब फूल हैं फल हैं सबके ज्ञान ।।
कवित्त पचीसी में कह्यो, सवको सूक्ष्म सार ।
या को पढ़ि धारन करे, लहे तत्व निरधार ।।

इति श्रीकवित्त पचीसी समाप्तम् ।। शुभमस्तु ।

—o—

५७ राग बंगला

बंगला खूब समान्या है, चतुर कारीगर करतारा ।। टेक ।। पांच रंग की ईंट लगी है, सात-धातु का गारा । बिन औजार साल सब फोड़े, नख शिख लाग्या प्यारा ।। १ ।। निज माया का काट रच्या है, नाना रंग अपारा घाट वाट चौगट्ठे गालियाँ, बिच में लगे बजारा ।। २ ।। इस बँगले में बाग लग्या है मन माली रखबारा, साढ़े तीन करोड़ वृक्ष हैं, खिल रही अजब बहारा ।। ३ ।। किरोड़ बहत्तर नदियां बहतीं छूटि रही जलधारा। अन्तःकरण अगाध सरोबर, वृत्ती छुटै फुहारा ।। ४ ।। इस बंगले में रास रच्या है, नाना राग उचारा । अनहद शब्द होत दिनराती सोहम् सोहम् सारा ।। ५ ।। इस बंगले में बाजे बाजै, उठ रही हैं झंकारा । ढोलक झांझ बजे हरिमुनिया, खिचरही स्वास सितारा ।। ६ ।। बाजे तीन बजाय रहे हैं स्वर अरु ताल निकारा । पांच पचीसों पातर नाचें देखत देखन हारा ।। ७ ।। तीन लोक बंगले

के अन्दर, नाना जगत अपारा ॥ गुप्त रूप से आप बिराजे, सबका जानन हारा ॥ ८ ॥

—०—

५८ बंगला

बंगला रच्या अविद्या जाल, किया है कारीगर कम्माल ॥ इस बंगले की तीन अवस्था, वृद्ध तरुण और बाल ॥ ताके माहिं बहुत मन लाया, कुछ नहिं रही संभाल ॥ १ ॥ जन्म हुये से जन्म्या माने, मरने से निज काल ॥ तिस्के तदाकार हुई वृत्ति, भूल्या अपना हाल ॥ २ ॥ मात पिता भ्राता सुत दारा, इनके लागि लिया नाल ॥ ग्राम धाम यह देश हमारा, और सब ही धन माल ॥ ३ ॥ भोगन काज अकाज करत है, रहा देह को पाल ॥ मैं मेरे में मगन हो रह्या, यम करसो बेहाल ॥ ४ ॥ तेल फुलेल लगावे तन में, धो धो बाहे वाल, यम के दूत आय के पकड़ें, चिमटो खींचें खाल ॥ ५ ॥ वृद्ध हुआ नहि गई दुर्बुद्धी, नाचत देदे ताल ॥ विषवत विषय फलन को खावै, चढ़ा मौत की डाल ॥६॥ टूटी जाड नाड लगी हालन, तौ भी करै न टाल ॥ भोगों निमित्त आसन करता है, पड़ा काल के गाल ॥७॥ गुप्त रूप को भूल्या मूरख, लगि के झूठे ख्याल ॥ जैसे भूप स्वप्न के माहीं फिरै कंगाल ॥८॥

—०—

५९ बंगला

भूलि गया बंगले से मिलि यार, क्यों नहिं करता तत्व विचार

।।टेक।। जब से बंगले में मन लाया तब से भया खुबार । आप रूप बंगले को जान्या, भौतिक भूत विकार ।।१।। बनता और बिगड़ता रहता, बंगला बारम्बार । बंगला साढ़े तीन हाथ का, तेरा रूप अपार ॥ २ ॥ बंगला तो जड़ पंचभूत का, दीख रहा साकार । तेरा रूप अरु रेख नहीं है, तुइ चेतन निराकार ॥ ३ ॥ बंगला तो परिछिन्न परिणामी, धारत षट् विकार । तुहतो सदा एक रस रहता, बंगले का आधार ॥ ४ ॥ तुह तो सत्य रूप अविनाशी, करके देख विचार । बंगला तो यह असत रूप है, पल पल में ह्वै छार ।।५।। तुह तो चेतन रूप विराजे, सब प्रकाश आधार । बंगला तो परघट जड़ दीखे, मूरख होत खुबार ॥ ६ ॥ तुहतो आनन्द रूप रहित है, नहिं हलका नहिं भार । राग दोष का धोंस अनातन, बंगला दुःख अगार ॥ ७ ॥ तुह तो रहता गुप्त रूप ते, बंगला दृश्य संभार । तुह बंगले का रहनेवारा; बंगले का सरदार ।।८।।

—०—

६० बंगला

बंगला करि चाले खाली, यामें करत बहुत कुचाली ।।टेक।। स्वेत केश यह नोटिस आया, हुकुम सुनाया वाली । दरपन में मुख देख पियारे, उड़ी जवानी काली ॥ १ ॥ हुआ पुराना बंगला तेरा, उड़ि गई है सब लाली । आसपास में लग्या बगीचा, छोड़ि चलेगा माली ॥ २ ॥ जब मालिक के आवें सिपाही, जलदा देत निकाली। एक घड़ी के लाख दीजिये, रिश्वत चले न चाली ।।३।।

कुटुम समेत निकाला जावे, कहा आज क्या काली। सबही दखल छूटि जाय तेरा, खुलि जाय कच्ची ताली ॥४॥ तुझको पकड़ करेंगे आगे मारें कलेजे भाली। हाहाकार पड़े जब कूबे, देवे काल को गाली ॥ ५ ॥ घड़ी पलक का लेखा लीजे पर घट होहिं कुचालीं। वालिस्टरी रिश्वत तहाँ तेरी एक सके नहिं चाली ॥ ६ ॥ जोर जुलुम तेरा क्या चलता, मारे रावण बाली। काल बली से कोइ नहिं बचता, हाली और मुवाली ॥ ७ ॥ गुप्त रूप को जान्या नाहीं, पड़ा अविद्यावाली। यह सब झूठा ख्याल रच्या है, तुह देखन वाला ख्याली ॥ ८ ॥

—०—

६१ बंगला

अब तुह तज बंगले का संग, करके सन्तों का सत्सङ्ग ॥टेक॥ तिरने को है सत् सङ्ग मारग, डूबन कोंहै कुसङ्ग। हरि की भक्ति साधकी संगति, लगे हरी को रंग ॥१॥ जिस बङ्गले को स्थिर जाने, होवे एक दिन भंग। विवेक वैराग के शस्तर बांधो, खूब मचावो जंग ॥२॥ अब तो संग विषयों का त्यागो, बहुत किया इने तंग। लोभ मोह के पड़ा पिटारे, जैसे मस्त भुजंग ॥ ३ ॥ विषय रूप अग्नी ने दाहा, तन मन सबही अङ्ग, आपही आप आय के गिरता, दीपक माहिं पतङ्ग ॥ ४ ॥ जैसे मीन मांस के लालच, फँसि जाय कुंडी संग। तैसे जीव विषयों में बंधता, पाय मूर्ख

पर-सङ्ग ॥५॥ नीच भृङ्गी मींच पावता, लेत कमल की गन्ध ॥ करी देख कर पड़ा खात में, मूरख मूढ़ मतंग ॥ ६ ॥ जैसे वधिक बैन बजाई, राग सुनाया चंग ॥ सरवन इंद्रिय के वश ह्वै के, मार्‌या जात कुरंग ॥ ७ ॥ तैसे ही यह जीव जलत है, विषय अग्नि के संग ॥ गुप्त ज्ञान का गोता लावो न्हावो आतम गंग ॥ ८ ॥

—o—

६२ बंगला

बंगले लाया विषयों का ठाट, यक दिन बैठि चलेगा काठ ॥टेक॥ चारों हाते लुटि जायं तेरे, भगि जाय चारो लाठ । प्राण पवन का पंखा लूटे, वन्द होय सब घाट ॥१॥ धूम धाम जब मचे शहर में, पुरी लूटी जाय आठ । चोकीदार दीवान मुसद्दी, भजि गये लेले वाट ॥२॥ तकिये तोशक और बिछौने, पड़े पलङ्ग और खाट । नंगे हाथों पकड़ि लिया है, कछू न बांधा गाँठ ॥ ३ ॥ यम के दूत पकड़ि ले चाले, जूत मारे टाँट । पीछे और कुबुद्धी आये, माल लिया सब बाँट ॥ ४ ॥ हरि की भक्ती क्यों नहीं करता, उतरे औघट घाट । राम नाम की छेनी बनाके यम की फाँसी काट ॥ ५ ॥ जिसको देखि भूलि रहा मूरख, यह सब झूंठा नाट । भक्ती बिना सुख तीनों काल नहिं, यम का दफ्तर जाफाट ॥ ६ ॥ अनन्य भाव से हरि को सुमिरो, छोड़ि विषयों की चाट । प्रारब्ध योग से करो गुज़ारो, कपटी मनको डाट ॥ ७ ॥ यही भक्ति और

कथा कीर्तन यहि गीता का पाठ। सर्व रूप परमेश्वर जानो सब कुछ विश्व विराट् ॥ ८ ॥

—०—

६३ बंगला

ज्ञान जब सतगुरु से पाया। सभी बंगले का भर्म उड़ाया ॥टेक॥ तीन काल नहिं हुये ब्रह्म में, द्वैत कहाँ से आया। जो हीखन जानन में आवे, सब चेतन की छाया ॥ १ ॥ नेति नेति कह वेद पुकारें, सतगुरु ने समझाया। व्यास वशिष्ट सनकादी शुकजी, दत्त भरत वामदेव गाया ॥ २ ॥ जो कुछ यह दीखन में आवें पिंडप्रान करु काया। गंधर्व नगर स्वप्न की सृष्टी, खोज कछू नहिं पाया ॥ ३ ॥ मिथ्या सर्प रज्जू में जैसे, काटि कोई नहिं खाया। तैसे जगत आतमा माहीं, कहाँ से चलिके आया ॥ ४ ॥ शुक्ती माहीं रूपा भासे, नाकहिं मोल विकाया। ठुंठ के माहीं चोर कहत है, कहो किसका माल चुराया ॥ ५ ॥ गगन माहिं जिमि नीला भासे किसने रंग चढ़ाया। आतम एक अद्वितीय पूरन, कैसे जगत कहाया ॥ ६ ॥ जीव ईश का भेद भासता, याही जानों माया। सोवत भरम जाल है झूंठा, काहे में मन लाया ॥ ७ ॥ गुप्त भेद सत् गुरु से पावना, कोई न जन्मी जाया। सदा असंग एक रस आतम, कभी न काल ने खाय ॥ ८ ॥

—०—

६४ बंगला

तजो अब बंगले का अभिमान। तू तो दो दिन का मेहमान ॥ टेक ॥ लख चौरासी बंगले देखे, बहुत हुया हैरान। जहाँ गया तहं भोगि विपत्ती, कहीं न पायो आराम ॥ १ ॥ हरि की भक्ति साधु की संगति करि लेना यह काम। गुरू वेद में श्रद्धा करिले, तिन का कहना मान ॥ २ ॥ पैरों से चलि तीरथ जाना, क्या संतन के धाम। नैनों से दरशन करि हरिका, हाथों से कर दान ॥ ३ ॥ बायक से हरिके गुन गाबो, बुद्धी से कर ध्यान। हरि भक्तन में मन को लावो, कथा सुनो कर कान ॥ ४ ॥ तन से पर स्वारथ को कीजे, धन सुपातर दान। जन्म गुरु की सेव बितोवो, जासों पावे ज्ञान ॥ ५ ॥ जब माया के छुटे फंदते, पावे यह निरबान। चार वेद षट् शास्त्र कहते, अष्टा दस पुरान ॥ ६ ॥ इस विधि से जो काम करत है, छोड़ मान अपमान। द्वैत भाव का दफ्तर फाटे, जब होवे कल्यान ॥ ७ ॥ गुप्त रमज को समझ पियारे, मत ना रहे अजान। काल बली के छुटे फंदते, पुनर्जन्म होय हान ॥ ८ ॥

—o—

६५ बंगला

कार्तिक कर करमन की हान, न्हाय के पूनम निरमल ज्ञान ॥ टेक ॥ जल के न्हाये न्हान नहीं है, अन्तर मैला जान। सुरा

पात्र को सौ वेर धोवे, शुद्ध हुया नहिं मान ॥ १ ॥ अन्तर की शुद्धी जब होवे, कर्म करे निष्काम ॥ व्रत एकादसि गंगा न्हावे, ईश्वर का जप नाम ॥ २ ॥ सब साधान में शुद्धी करता, है आतम अशनान ॥ जो कोई न्हावे, फेर न आवे सोवे चादर तान ॥ ३ ॥ कार्तिक न्हाया जभी सफल है, करै नित्य हरि ध्यान ॥ मनोकामना पूरन होवे, मिटै चोरासी खान ॥ ४ ॥ मन में धारी कामना, लागी गोपिका न्हान ॥ अन्तरयामी घट घट व्यापक, पूर्ण करे भगवान ॥ ५ ॥ तिन की भक्ती के वश ह्वैकर, किये नाच अरु गान ॥ मुरली मधुर बजाई वन में, मटकत दे दे तान ॥ ६ ॥ ऐसा न्हान न्हावना चहिये, रीझत है भगवान ॥ जप तप व्रत यज्ञ अरू पूजा, भक्ती के साधन जान ॥ ७ ॥ चारों साधन तिसतें होवे, चारों ही अगले पहिचान ॥ अन्तरंग यह आठो साधन, इन बिन होत न ज्ञान ॥ ८ ॥

—o—

६६ बंगला

बंगले पावे अविनाशी, अब तू कर के देख तलाशी ॥टेक॥ बैठि एकांत विचार करै, जोग से होय उदासी । तिस को दर्शन अवश्य देत है, कैलासन का वासी ॥ १ ॥ तीन देह कैलास के माहीं, है सब का परकाशी ॥ घट घट माहीं रटना रटि रहा, करै विलास विलासी ॥ २ ॥ एक बार हो दरशन वा का, कटे

अविद्या फांसी ॥ सुख के सागर महा उजागर खोजो काया कासी ॥ ३ ॥ आप रूप जब सब को जान्या मलिन अविद्या नाशी ॥ धर्मराय का दफ्तर फाट्या मिटि गई लख चौरासी ॥४॥ ईश्वर जीव भाव सब मिटि गये, हो गये ब्रह्म निवासी ॥ मन का कल्प्या कल्पित जानो, सभी दास अरू दासी ॥ ५ ॥ आपहि अलख निरंजन जोती मन वाणी नहिं जासी ॥ आपहि आप विराजि रहा है, व्यापक चिदाकाशी ॥ ६ ॥ गुरु वेदने भेद जलाया, अग्नी ज्ञान उजासी ॥ हुया प्रकाश अभास जो नास्या, पाया सब का साक्षी ॥ ७ ॥ आप हि गुप्त आपही परघट, आप हि सब रंग रासी ॥ आप हि लोकरु वेद रचत है, आप हि सब को खासी ॥ ८ ॥

इति श्री राग बंगला समाप्तम् ॥

—o—

६७ शब्द

लखि श्याम सुन्दर की लटक, झट लटप महि खाने लगे ॥ टेक ॥ सेन मन मोहन दई, वे ग्वाल सब आने लगे ॥ तारी मथनिया सीस से, दही लूटि ले जाने लगे ॥ १ ॥ खावे खिंलावे ढोरिंदे, यह लीला फैलाने लगे ॥ दधि खात हैं हरि प्रेम से, फिर मटुकी पटकाने लगे ॥ २ ॥ रिस भरी पकड़े गूजरी, वह हाथ नहिं आने लगे ॥ कहि कर के मीठी बात, तिन की तरफ मुसकाने

लगे ॥ ३ ॥ गुप्त लीला करत वन, मुरली बजाने को लगे ॥ सब गोप गोपि देखी लीला, मन में हरषाने लगे ॥ ४ ॥

—o—

६८ शब्द

यमुना के तीर श्याम की, मन मोहनी वंशीजी ॥ टेक ॥ ताल तेरह सात स्वर, भर गाज तिरलोकी गजी । छः राग तीसों रागिनी, साज को सबही सजी ॥ १ ॥ पत्थर पानी वहि चले, यमुना ने मरियादा तजी ॥ बिन बूंद बादल बीजली सब, नदी चढ़ि समुंदर भजी ॥ २ ॥ धूम माची ब्रज में, धुन सुनि के सब लज्जा तजी, घर काज तज, नहिं साज साजा, ज्यों कि ज्यों उठि के भजीं ॥ ३ ॥ गगन बाजी दुंदभी, गावत अप्सरा सब लजी ॥ गुप्त गोविंद की गती, किस रीति से जावे तजी ॥ ४ ॥

—o—

६९ शब्द

दिल की दिवाली बीच में, निज गोरधन पधरावना ॥टेक॥ शुभ विधी से पूजा करो, मन दृढ़ कर के भावना ॥ चित चरच चंदन, कर्म केसर, भावी का भोग लगावना ॥ पुण्य के पकवान करके देव पै ले जावना ॥ दया की ले दही गौरस गम का घृत चढ़ावना ॥ २ ॥ यह बक्त पूजा का मिला है, फेरि नहिं यहाँ आवना ॥ तजि कर अविद्या जालको, निज गोरधन को धावना ॥ ३ ॥ गिरकारण सूक्ष्म स्थूल है, तिन का ही बोझ उठावना । गुप्त आतम गोरधन है, तिसको पूजि रिझावना ॥ ४ ॥

—o—

७० शब्द

जियाजी अब कर संतन का संग । होयगीजभी अविद्या भंग ॥ टेक ॥ संत संग नारद ने किया, भक्ती पाई अभंग ॥ १ ॥ संतन का संग हुया भील को, बॅबइ चढ़ि गई अंग ॥ २ ॥ मरा कहत सोहुये मुनीश्वर, खूब मचाया जंग ॥ ३ ॥ जलनिधि ऊपर पहन तिरि गये, पाय रघुवर का संग ॥ ४ ॥ शिला अहिल्या पद परसत ही, उड़ि गई स्वर्ग पतंग ॥ ५ ॥ अजामील गज व्याधरु गनिका, निरभय गये असंग ॥ ६ ॥ यज्ञ योग जप तप नहिं कीना, लाग्या सत् संग रंग ॥ ७ ॥ गुप्त ज्ञान सत् गुरु से पावे, त्यागे सभी कुसंग ॥ ८ ॥

—o—

७१ शब्द

जियाजी जग सत संगति है सार, करना करके प्यार ॥टेक॥ जो तिरिगये तिरेंगे जेते, सब सत् संगति लार ॥ १ ॥ ऊंच नीच सत् संगति में आये, सब ही हो गये पार ॥ २ ॥ जिन का जाति वरन कुल नीचा, तिर गये स्वपच चमार ॥ ३ ॥ नाम देव कमाल कबीरा, सम्मन सेउ मंनियार ॥ ४ ॥ जाति वरण के जो अभि-मानी, ठूबि गये भब धार ॥ ५ ॥ हलका काष्ठ तिरे जल ऊपर, डूबत है पटभार ॥ ६ ॥ सत-संग-मारग अतुल पदारथ, करि न सकै कोई छार ॥ ७ ॥ गुप्त रूप इस ही से पावे, समझि देख अब यार ॥ ८ ॥

—o—

७२ शब्द

जियाजी तुम बैठो ब्रह्म की रेल ॥ तजि कर झूंठे खेल ॥टेक॥ भक्ति कर्म का तांगा करले, तन स्टेशन ठेल ॥ १ ॥ सत संगत से सार निकालो, मलो इतर तन तेल ॥ २ ॥ ज्ञान वैराग्य के पहिन कापड़े जरा न लागे मैल ॥ ३ ॥ टिकट बादू सतगुरु सहाय से, करिले क्यों ना मेल ॥ ४ ॥ अमरापुर का टिकट लीजिये, साधन दमड़े मेल ॥ ५ ॥ फर्स्ट क्लास फारिग हो जग से, आतम सुख को झेल ॥ ६ ॥ जीवन मुक्ती पोढ़ गलीचे, करते चालो खेल ॥ ७ ॥ गुप्त ज्ञान की बैठ स्पेशन, अमरापुर को पेल ॥ ८ ॥

—o—

७३ भजन

तुझको नहिं हानी लाभ है, कछु मरने और जीने में ॥टेक॥ पुरुष मिला प्रकृती धर्मा, मानन लाग्या अपने कर्मा। जानत नहीं वेद का मर्मा, यही तेरा अजाव है ॥ भूल्या है बैठि सीने में ॥ १ ॥ इंद्रिय धर्म आपने जाने, विषयों हेत बन उद्यम ठाने। रूप आपना कैसे जाने, मूरख बड़ा अभाग है, फँसि गया खाने पीने में ॥ २ ॥ प्रकृती का यह संघात है सूक्ष्म, और स्थूल गात है, तुह तो इनसे रहे अजात है, न कोई राग वैराग है, तुइ असंग रहे तीनों में ॥ ३ ॥ तू इन माहीं गुप्त रहत है, टेरि टेरि

के वेद कहत है, फिर क्यों भव-जल माहिं बहत है, तुझमें नहिं भाग विभाग है, क्यों लग्या भरम पीने में ।

—o—

७४ भजन

सुने अरू दीखे सो भ्रम जाल, तू देखन जाननहारा ॥टेक॥ जीव ईश को तू ही जाने, तुहि माया का रूप पिछाने । तू ही तीर लक्ष में ताने, तुह कालन को काल है । सब शामिल सबसे न्यारा ॥ १ ॥ तुह चेतन है सबका द्दष्टा, तीन अवस्था माहिं स्पष्टा, तुझको नाहीं है कुछ कष्टा, करिके देख संभाल यह सब प्रकाश तुम्हारा ॥ २ ॥ ब्रह्म रूप चेतन अविनाशी,कभी न पड़े काल की फांसी । काल काभी तुही प्रकाशी । सब कालन का काल । नहिं रक्त स्वेत अरु कारा ॥ ३ ॥ तू ही गुप्त तू ही परघट है । तू ही चेतन तू ही जड़ है, फूल पात अरु तू ही फल है तुही मूल तुहि डाल, कर देखो ज्ञान विचारा ॥ ४ ॥

—o—

७५ भजन

तन पाया लाल कंगाल को, विषय भाजी बद्दल खोवे ॥टेक॥ उसकी कीमत होत बजारा, इसका नहीं वार कछु पारा, समझत नाहीं मूढ़ गंवारा, नहिं जानत तिस के हाल को । फिर सिर धुनि धुनि के रोवे ॥ १ ॥ नींद अविद्या माहिं सोवता, बहुत दिनों से

आयु खोवता, अंतःकरन को नहिं धोबता। नहिं जाने सत् संग ताल को, पड़ा किरोड जन्म को सोवे ॥ २ ॥ सुर आशा करते हैं जिसकी, तुझको कीमत लखी न इसकी, बांधि गठरिया चाल्या विषकी, पकड़ लिया है कान को, जब सुत दारा को जोवे ॥३॥ बार बार यह देखि तमाशा, तो भी तजै न तिन की आशा, गुप्त रूप नहिं डारे पासा। नहिं काटे काल के जाल को, निज ब्रह्म रूप मन पोवे ॥ ४ ॥

—o—

७६ भजन (चौताला खड़ी चाल)

क्या फल होवे कहने से, जमा कुछ पावे रहने से ॥ टेक ॥ चौपाई ॥ संतों के लक्षण सब गाये। वेद शास्त्र कहि समझाये॥ अति कृपालू नहिं चित द्रोहा। लोभ न क्षोभ राग अरु मोहा ॥

वे सम दम साधन साध्य हुये निष्कामा। जिन पहिरा पर उपकार शील का जामा ॥ कोमल हैं जिनके चित्त वित्त नहीं चहते। वे आत्म चित्त के माहिं मगन नित रहते ॥ इच्छा नहिं जिनको कोई। जो होना हो सो होई ॥ सुचि रखते हैं वे दोई। कंचन के त्यागी सोई ॥ वही पुरुष हैं धीर बड़े गंभीर। गंगसम नीर बचे हैं जग में बहने से ॥ १ ॥ नहिं प्रमादअरु मत्सर जिनके। आतम मनन रहत है तिनके। यही तप विरती ब्रह्मा कारा। दुष्ट विषयों से बुद्धि निवारा ॥ षट्गुण के जेह कर्म धर्म से धरते। पंडित

अति महान मान से तिरते ॥ औरों को देते मान प्रीति सत करते। सब हुई अनीती हान दया को धरते ॥ स्तुती निंदा प्रभुताई । मित्र सुख दुख नीचाई ॥ ब्रह्मा औईष्टण समाई । नहिं गरल सुधा विषमाई ॥ सम लखते कंचन कांच है आई । साँच तपै नहिं आंच गर्भ की अग्नी दहने से ॥ २ ॥ सम दरशी शीतलता आई । गये उद्वेग उदारता छाई ॥ सूक्ष्म चित्त मित्र जगसारा । चेतन रूप जो है निराकारा ॥ सबसे है मित्र भाव कल्पना त्यागी । रहें त्यागी अति संतोष वही बड़ भागी ॥ पाया ऐश्वर्य विज्ञान बलन से जिनको । सब जानि बंधअरू मोक्ष उभयथा तिनको ॥ मन की गति सूक्षम होई । आनन्द रूप रहे सोई ॥ तिरगुण से रहे अतीता रहते निष्प्रेह अभीता ॥ लक्षण हैं अनन्त नहीं कुछ अंत । विचारे संत सारले तिनके लहने से ॥ ३ ॥ बिगत कलेश चरत निरद्वंदा। सूक्षम मती रहत स्वच्छंदा ॥ ये भूषण संतन के साजे । देखि असंत तिनो को लाजे ॥ कह लक्षण पर संवेद वेद ने गाके । नहि स्वसंवेद को कहे कोई समझा के ॥ तिनकी संगति परताप पाप सब खोवे । कोइ पर घट होवे पुन्य संग जब होवे ॥ जोनर करते सत संगा । ह्वै संसिरती भय भगा ॥ जब चढ़े ज्ञान का रंगा ॥ तुझे करिके छोरे नंगा ॥ लीजे तिनकी शरन, मिटे भय मरन ॥ चरण संतन के चहने से ॥ ४ ॥

—०—

७७ शब्द

तुह कौन कहां से आया है ॥ टेक ॥ आया जब कछु संगन लाया । देखा माल पराया अपनाया है ॥ १ ॥ धन धाम ग्राम सुत वाम हमारे । यों कहि दखल जमाया है ॥ २ ॥ खान पान घरके सुख माहीं । बहुत घना मन लाया है ॥ ३ ॥ गुप्त रूप को भूल्या मूरख । काल आनि शिर छाया है ॥ ४ ॥

—०—

७८ शब्द

दम दम पै दिवाली यह जाय रही ॥ टेक ॥ काया दिवाली में देव बसत हैं । तिनकी पूजा करले सही ॥ १ ॥ सब देवन का आतम राजा । तिसकी जोती जाग रही ॥ २ ॥ यह भवसागर दुष्कर धारा । तिसमें यह दुनिया जाती बही ॥ ३ ॥ गुप्त ज्ञान को पावत नाहीं । मानता ना गुरु वेद कही ॥ ४ ॥

॥ अथ जीव ईश्वर का झगड़ा लिख्यते ॥

—०—

७९ लावनी ख्याल

जीव ईश का झगड़ा कहूँ यक, इसको सुनना चितलाई । सूति लई शम शेर जिन्होंने लड़ने लगे दोनों भाई ॥ टेक ॥ ईश कहे सुन जीव अज्ञानी, काहे पर बड़ि बात कहै । मैं तो सदा

स्वतंततर रहता, तुहं हमरे आधीन रहै। नाना विधि के कर्म करत है, उनके फल की आश चहै। विषय भोग जबही करता है, मेरे से परकाश लहै ॥

शेर—

कर्म के आधीन होके जन्मता मरता फिरे।
फंसि के अविद्या जाल में, भय कूप माहीं तुह परै ॥
तेरी तो शक्ती कहा है, मो सो लड़ाई तुह करैं।
जब तू मेरी भक्ति करता जगत् जलधी सें तिरै ॥

मैं तो शुद्ध सरूप रहत हूँ, तेरे तेरे लगी कर्म की काई ॥ १ ॥ जीव कहे सुन ईश पियारे, तुह हमसे कैसे ऊँचा। माया के धर्मों को मानि के हमको बतलावे नीचा ॥ पर के धर्म आपने माने मूरखता तुझको छाई। मैं तो हूँ कूटस्थ साक्षी, मुझमें मैल नहीं राई ॥

शेर—

वास्तव में हम तुम में छोटा बड़ा कोई नहीं।
भर्म के वशि वकि रहा, माया तुझे खोई नहीं।
वेद जो है परघट कहता, तिसकी बात मानो सही ॥
माया अविद्या भेद तिनका वास्तव में दोई नहीं।

किस कारण से बड़ा कहत है, एक पिता एकहि माहीं ईश कहे सुन जीव विचारे, क्यों वृथा ही बकता है। हमसे बड़ा बना चाहता है कौन शक्ति को रखता है ॥ विधि निषेध कर्म को करता,

जिनके फलों को चखता है ॥ जो परकाश करूँ नहीं तेरा, तो कैसे भोग कर सकता है ॥

शेर—

सर्व शक्ति सर्वज्ञ विभू ईश स्वतंत्र परोक्ष है ।
माया मेरे आधीन रहती, मुझमें बंध न मोक्ष है ॥
तेरे हैं सब धर्म उलटे, खाता भक्ष्या भक्ष है ।
अल्पशक्ति अल्पज्ञ हो के, कैसे त्वंपद लक्ष है ॥

वाच्य लक्ष्य की खबर नहीं है, कैसे करे एकताई ॥ ३ ॥ जीव कहे सुन ईश पियारे, एक बात सुनले मेरी । जहां तक है माया का जाल यह, वहाँ तक धूमधाम तेरी ॥ यह हम भेद वेद से पाया, गुरु की सैन जवी हेरी । मेरी तेरी पोल भगी सब, जरा नहीं लागी देरी ॥

शेर—

वृत्ती लक्षण कर कहत है, महा वाक्य टेरिके ।
चेतन एक सरूप है तत् पद त्वंपद गेरि के ॥
असिपद एक सरूप है, देख्या है हेरि अरू फेरि के ।
शेर को जब शेर देखै, कहा भय हो शेर के ॥

छोट मोट का खोंट निकाल्या, जब से खबर हमें पाई ॥४॥ ईश कहे सुन जीव अनर्थी, क्यों बातें करता खोटी । काल अनादी की नीति चली है, मेरी तेरी हो जोटी ॥ सो तिन दोनों के माहीं मेरी तो ऊँची कोटी । बृथा ही बकवाद मारता, लाख वात तुझे

क्यों घोटी । शेर—जिस वेद की तू बात करता, तिस का भेद जान्या नहीं । तिस वेद ही के बीच में, यक छोटी एक मोटी कही ॥ कैसे हम से करे समता, बात तेरी सब वही । समझ आशा वेद का तुह, मान के हमरी कही ॥ करता बात बड़ापन की, सब झूंठी तेरी प्रभुताई ॥ ५ ॥ जीव कहे सुन ईश हमारी, झगड़ा तुझको फेलाया । चार वेद का जाल बिछाके, सब को यामें उलझाया ॥ मूरख मूरखता में भूले, पंडित को अहंकार छाया । सब जग माहीं गेरा घुटाला ॥ मूरख पंडित भर माया ॥ शेर—तुमने यह वाजी रची, रख्या जगत भरभाय के । मोटा मदारी हम लख्या, माया के रंग देखाय के । धन धाम में कोई वाम में, कोई वेद माहिं फसाय के । तुह आप कौतुक देखता है, यह जगत मरता धायके । हमें जानि लई तेरी चतुराई तुह ने क्यों व्याधी फैलाई ॥ ६ ॥ ईश्वर कहे सुन जीव गुमानी, वाच्य अर्थ में तुह अटका । लक्ष्य अर्थ को क्या जानत है, मलिन अविद्या में भटका ॥ लेन देन अरु खान पान के विषय भोग में तुह लटका ॥ हमरी लीला को क्या जाने, खबर नहीं अपने मठका ॥ शेर—माया तो मेरी शक्ति है, करती है सब ही काम को । हाजिर रहे हर वक्त पर, देती है बहुत आराम को ॥ कार्य ये दुरघट करे, मोहे पुरुष अरु वाम को । परघट कर दिखलावती है, रूप अरु सव नाम को ॥ मैं तो सदा असंग रहत हौं, काज करै मिथ्या माई ॥ ७ ॥ जीव कहे सुन ईश्वर जाली, माया मिथ्या

बतलाता । मिथ्या का कारज सब मिथ्या नाम रूप सत् क्यों गाता ॥ नाम रूप तेरा भी मिथ्या, तुह कैसे है हमरा दाता ॥ पोल पाल सब जानी तुम्हारी, हमरा तुमरा क्या नाता ॥ शेर—तेरा क्या अहसान है, सब पाते हैं अपना किया । खाता तेरा तूफान का झूंठा ही शोर मचा दिया । कर्म काया जीव के; इलजाम शिर लगा दिया ॥ गुरु वेद ने कृपा करी, जो गुप्त भेद लखा दिया । रूप हमारा अगम लखाया, ज्ञान अग्नि जीबहलाई ॥ ८ ॥

—o—

८० भजन

यह मिथ्या सब संसारा । क्या पड्या भरम में सोवे ॥टेक॥ जैसे अही दाम में भासे, सीपी में रूपा परकासे ॥ रज्जू सीप ज्ञान ते नासे, तुंह करके देख विचारा । क्यों वृथा आयु खोवे ॥१॥ तैसे तुझ चेतन के माहीं, नाना जगत भासता आई, तुझसे जुदा नहीं है राई ॥ अब पटक अविद्या भारा । जो होना होसो होवे ॥ २ ॥ जिसको तैंने जान्या सच्चा, तिसको वेद कहत है कच्चा ॥ स्वपने के बच्ची अरु बच्चा, सब झूंठा यह परिवारा ॥ तिनके संग में क्यों रोवे ॥ ३ ॥ गुप्त गलीचे क्यों नहिं सोवता, बीज पाप के आवे बोवता, अंतःकरण को नहीं धोवता, यही अजाब तेरा भारा, निज ब्रम्हरूप नहिं जोबे ॥ ४ ॥

—o—

८१ भजन

पड्या पड्या काल के गाल में तुह क्या हड हड हंसता है ॥टेक॥ तेरा तो उन मान कहा है, बड़े बड़ों का बेहाल किया है ॥ सम इसको पैमाल किया है, रखता है सभी संभाल में, क्यों भरमजाल फंसता है ॥ १ ॥ मात पिता दारा सुत मेरे, गाम धाम अरु चाकर चेरे ॥ कोई शत्रु औ मित्र घनेरे ॥ यों फँसि गया, झूंठे ख्याल में, यम मकड़ी जाल कसता है ॥ २ ॥ घड़ी घड़ी अरु पल पल छीजे, तू अपने मन मांही रीझे, निशि दिन पाप बीज को बीजै॥ बड़ा खुसी हुआ घनमाल में, तू कब से यहां वसता है ॥ ३ ॥ गुप्त रूप को जब से भूला, नख शिख छाई अबिद्या मूला । कर्म भोग सब करती तुला ॥ क्यों ना पैठे सत संग ताल में ॥ जग दल २ क्यों धसता है ॥ ४ ॥

—०—

८२ भजन

करता है आप सब काम को, मन के शिर दोष लगावे ॥टेक॥ मन असत्य जड़ दुःख रूप है, तू सत् चित् आनन्द सरूप है॥ तू ही सव भूपन का भूप है, मूलि गया निज धाम को, मन से मिलि मिलि करि धावे ॥ १ ॥ बिना चलाये तीर नहिं चलता, जब मुंह उस जड़ मन से मिलता । तब चले शुभाशुभ धाम को। जैसे ताजी भगि जावे ॥ १ ॥ जब तुमरे वल को मन धारे, तभी

शुभा शुभ पंथ सिधारे, कूसंगति से ताहि निवारे। तजि लोभ मोह पर वाम को। क्यों अखज विषयों को खावे ॥ ३ ॥ जीव कर्म आपहि करता है, आपहि सुख दुख को धरता है। वेद यही साखी भरता है ॥ मन के क्यों लावे लिजाम को, नहिं गुप्त भेद को पावे ॥ ४ ॥

—०—

८३ भजन (मस्ती)

दोहा—

दोष लगाये और के, आप करे सब खोट।
लग्या विषयों की चाट में, मन की लेवे ओट ॥

कोई भूप मस्त कोई रूप मस्त, कोई राज काज के कारे में ॥ कोइ राग-मस्त वैराग-मस्त कोइ मंदिर माल भंडारे में ॥ कोई नहर-मस्त कोइ डहर-मस्त, कोई गंगा जमुना किनारे में॥ कोई जंगल-मस्त कोइ दंगल-मस्त, कोइ रहते शहर बजारे में ॥ कोइ नंग-मस्त कोइ भंग-मस्त, कोइ सुलफा गांजा तारे में ॥ सिकरेट-मस्त कोइ सेठ-मस्त कोइ अमल तमाखू गारे में ॥ कोई जगन-मस्त कोइ मगन-मस्त, कोइ मौन-मस्त कलदारे में ॥ कोइ न्हान-मस्त विख्यान-मस्त, कोइ कोठी बाग फुहारे में ॥ एक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, पड़े अविद्या हारे में ॥

—०—

८४ क़व्वाली

नजरों से किसको देखे, तुंझसे नहीं है न्यारा ॥
जो देखने में आवे, सब झूंठ है पसारा ॥ टेक ॥
करता है झूंठा धंधा, फिरता है वंधा वंधा ॥
पड़ि गया करम का फंधा, देखा चहत है न्यारा ॥ १ ॥
जब आपने को भूल्या, मुख में पड़ा है धूला ॥
सहता फिरे बहु शूला, समझे नहीं इशारा ॥ २ ॥
काया का कोट काचा, झूंटे है मन अरु वाचा ॥
तुही आप इन में सांचा, कछु कीजिये विचारा ॥ ३ ॥
तन को बनाके सुथरा, वांचत है पोथी पतरा ॥
करता फिरे बहु यत्रा, ठगि ठगि खाया जग सारा ॥ ४ ॥
करता है काव्य कथनी, करता खबर नहिं अपनी ॥
भूल्या है देखि पतनी मन्दिर को खूब संभारा ॥ ५ ॥
खोजो गुपत इस तन में, फिरता है क्या बन बन में ॥
धू निश्चय कीजे मन में, ऐसा है रूप तुम्हारा ॥ ६ ॥

—०—

८५ क़व्वाली

गफलत में कैसे सोवे, शिर काल का नगारा ॥
विषयों के सुख में भूल्या, करता नहिं विचारा ॥ टेक ॥
जिस दिन दुनी में आया, संग में कछू नहीं लाया ।
यहां देख्या माल पराया, करता है म्हारा २ ॥ १ ॥

विषयों को विषवत् जानों, ईश्वर को सत् पिछानों ॥
यह सीख हमारी मानो, मृग नीर का यह गारा ॥ २ ॥
संसार है यह स्वपना, इसमें नहीं कोइ अपना ॥
झूठी सबी यह रचना, सुत मात तात दारा ॥ ३ ॥
बचता न राजा राना, सब काल का है खाना ॥
ऐसा क्या भया दिवाना, समझे नहीं गँवारा ॥ ४ ॥
अब कीजे काम ऐसा कहता है वेद तैसा ॥
तजि दीजे ऐसा वैसा, क्यों करता है मुंह कारा ॥ ५ ॥
पावे गुप्त होवे मुक्ता, लिपता नहीं कहिं छिपता ।
ध्रू ध्यान में नहिं रुकता, व्यापक है रूप अपारा ॥ ६ ॥

—०—

८६ क़व्वाली

रंग देखि कर दुनियां के अपने को आप भूला ।
झूंठी सभी यह माया, फिरता क्या फूला फूला ॥ टेक ॥
यहां पर नहीं जब आया, तब किसकी थी यह माया ।
अब काहे में मन लाया क्यों बोवता है शूला ॥ १ ॥
मन विषयों में नहिं दीजे, ईश्वर का नाम लीजे ।
अब काज यही कर लीजे, छीजे अविद्या मूला ॥ २ ॥
इसमें न गलती करनी, कर राम नाम की तरनी ।
भव जल से पार करनी सुख धाम का है झूला ॥ ३ ॥

जब गुप्त गोविन्द जाने, सब ही करम को भाने ।
जो लावे चोट निशाने, पावे मुक्ति द्वार खूला ॥ ४ ॥

—०—

८७ क़व्वाली

क्या सोवे रैनि अंधेरी, यह जगत जाल स्वपना ।
देखो न खोलि अंखियाँ, इसमें नहिं कोइ अपना ॥ टेक ॥
धन माल घोड़ा हाथी, संग में बहुत हैं साथी ।
माता पिता सुत नाती, झूंठी सभी है रचना ॥ १ ॥
जेता कछु माल खजाना, संग में चले नहिं आना ॥
फिर होयगा पछताना, जब स्वांस का होय खिंचना ॥ २ ॥
राजा धनी अरू कंगला, करि चाले खाली बंगला ।
आखिर मिला है जंगला, इस काल से नहिं बचना ॥ ३ ॥
पहिरो सत संगति चोला, गुप्त ज्ञान का ले गोला ।
पाया वक्त अनमोला, ध्रुव ध्यान में निज जचना ॥ ४ ॥

—०—

८८ क़व्वाली

लाखों किरोड़ों देखे, हम नंगे पैरों जाते ।
धन जोड़ि जोड़ि रखते, कौड़ी नहीं वे खाते ॥ टेक ॥
अब की तो सब की जानी, हम कहते बात पुरानी ।
नौ शेर बादशाह जानी, असी गज खजाने लाते ॥ १ ॥

पैसा न खैरात दिया, तब कोप खुदा ने किया ।
अग्नी को सँभाल लिया, जल बल भसम हो जाते ॥ २ ॥
इस देश मालवे माहीं, यक भिक्षु विरहमन आहो ।
कौड़ी न धर्म में लाई, सब लुटि गये माल अंघाते ॥ ३ ॥
तन धन का गर्व न करना, सब ही के सिर पर मरना ।
अब गुप्त ध्यान को धरना, जाते सभी अरु आते ॥ ४ ॥

—०—

८९ क़व्वाली

सुनि ले मुसाफिर प्यारे, दो दिन का है यह डेरा ॥
करनी करो कोई ऐसी, पावे स्वरूप तेरा ॥ टेक ॥
योनी छुटे चौरासी, यम को कटे सब फांसी ।
पावे तुझे अविनाशी, होवे नहीं फिर फेरा ॥ १ ॥
निष्काम कर्म को कीजे, भक्ती के रस को पीजे ।
फिर ज्ञान तिलक को लीजे, कहना करो अब मेरा ॥ २ ॥
पाकर के अपना रूपा, होजा भूपन का भूपा ।
सो सबसे अजब अनूपा, कछु दूरि नाहिं नेरा ॥ ३ ॥
यह ज्ञान लखो गुप्ताई, सुन लीजो बाबू भाई ।
हम कहते हैं समझाई, छुटि जाय पाप का घेरा ॥ ४ ॥

—०—

९० क़व्वाली

काया नगर में बसि के, क्या हो रहा दिवाना ।
लाखों करो चतुराई, आखिर को तुझको जाना ॥ टेक ॥

भूल्या है धाम धन में, फिरता अविद्या बन में ॥
कुछ सोचता नहिं मन में, खाता विषय रस खाना ॥ १ ॥
क्या सोता रैनि अंधेरी, लगती नहीं कछु देरी ॥
करता है मेरी मेरी, छिन में होय माल बिराना ॥ २ ॥
इस मानुष तन को पाया, ध्यान नहिं धनी से लाया ॥
फिर अंत में पछताया, मियाँ कर चले पयाना ॥ ३ ॥
करता है गुप्त पुकारी, समझो न मूढ़ अनारी ।
करि राम भजन की त्यारी, झूंठा है सभी जमाना ॥ ४ ॥

—o—

९१ शब्द पद (भजन, हितकारी)

कहता हूँ तुझे समझाय के अब सुन ख्याती की रीती ॥ टेक ॥
अंतःकरण से निकसी बृत्ती, इन्द्रिय द्वार विषय में चरती ॥
भंग आवरन जिसका करती, फल देता तिसे जनाय के ॥
यह अद्वैत वाद की नीती ॥ १ ॥
जिस स्थल में भर्म जो होवे । वृत्ति जाय विषय को जोवे ।
नहीं आवरण भंग जो होवे । दोष तिमिर में जाय के ॥
फिर होय पन्नग की भीती ॥ २ ॥
सोई निमित्त है तिसके ज्ञान में । दोनों कल्पित अधिष्ठान में ।
अनिर्वचनीय यह सुनो कान में । चित अपने को लायके ।
मन में होवे मजबूती ॥ ३ ॥

अधिष्ठान दोनों का चेतन। रज्जु वृत्ती जड़ अचेतन ॥
पर रज्जु ज्ञान से होवे विलेपन। उपजे अज्ञान से आयके।
चीठी आचरज चीती ॥ ४ ॥
माया के परिणाम हैं जोई। चेतन के विवर्त हैं सोई ॥
सम स्वभाव बिपरीति जो होई। रूप अन्यथा जाहि के ॥
यह लिखा भजन अवधूती ॥ ५ ॥

—o—

१२ भजन

जिनों के उड़े भरम के कोट, यह रमज समज में आई ॥ टेक ॥
जैसे सर्प ज्ञान है मिथ्या, तैसे जानों जग की सत्ता ॥
आतम में नहिं हिलता पत्ता, नहीं शुद्ध में खोट।
यह बात वेद ने गाई ॥ १ ॥
सो विचरत है होय निशंका, काल बली का कर गये फंका ॥
फिर क्या तनि को राजा रंका, नहीं खाते यम की चोट ॥
सब शंका धोय वहाई ॥ २ ॥
जाप ताप अरु कंठी माला, टूटा सभी भरम का ताला ॥
कर में लिया ज्ञान का भाला, मुख हालत नहिं होंठ ॥
फिर क्यों करते कठिनाई ॥ ३ ॥
फिकिर नहीं जाने आने का, शोच नहीं पीने खाने का ॥
माल नहीं रखते आने का, गिनी रखै न नोट ॥
खाते हैं दूध मलाई ॥ ४ ॥

गुप्त ज्ञान हिरदै में रखते, जो मन मानै सोही बकते ।
कंगला धनी बराबर लखते, नहीं बड़ाई छोट ॥
जिन वस्तु अमोलक पाई ॥ ५ ॥

—o—

१३ भजन

भूल्या निज अपने आपको, हो गया माया का चेरा ॥ टेक ॥
माया कारण अहर्निशि डोले, झूंठ तूफान बहुत से बोले ॥
हिरदे की ग्रंथी नहिं खोले, करने लाग्या पाप को ॥
घट अन्दर हुवा अँधेरा ॥ १ ॥
गृहस्थी छोड़ी मूंड़ मुँड़वाया, तौभी तुझको तत्व न पाया ।
दम्भ पखण्ड बहुत सा लाया, तज दिया हरी के जाप को ॥
चेला चेली ने घेरा ॥ २ ॥
औषध गोली करने लागे, गाँठि लगाय बांधते तागे ॥
मूरख लोग पूजने लागे बड़ा सिद्ध मिला है तासुको ॥
चोफेर दे रहे फेरा ॥ ३ ॥
कोठी बंगला खूब बनावे, खाना वस्तर अच्छा लावे ॥
कहै औरतें और कमावे, खाये हैं तीनों ताप को ॥
करते हैं मेरा मेरा ॥ ४ ॥
पाने निकसे गुप्त रूप को, उलटे जाय पड़े भव के कूप को ॥
को समझावे बेवकूफ को, जाने लगे रिसात को ॥
कहना मानत नहिं मेरा ॥ ५ ॥

—o—

१४ भजन

समझत नाहिं गुरु सैन को, लग गया ठगनी के चारे ॥ टेक ॥
दोय रूप धरि जग को ठगती, कनक कामनी होकर लगती ॥
स्पर्श किये शेर ज्यों जगती, सब दूरि करै सुख चैन को ॥
तोहिं पटकि पटकि कर मारे ॥ १ ॥
बड़े तपस्वी मारे बन में, काम रूप होय तिन के मन में ॥
चतुर बचे नहिं लाखों जन में, भरमावत बाँके नैन को ॥
फिर गर्भवास में जारे ॥ २ ॥
कनक भलों का करता नासा, गल में गेरि लोभ की फांसा ॥
त्यागी को उपजावे आसा, लगि गये कौड़ी लेन को ॥
क्या भवसागर तें तारे ॥ ३ ॥
ग्राम धाम सबही तजि दीने, बन में जाय बसेरे कीने ॥
लोभ बली नें बंधि में दीने भूलि गये ज्ञान अध्ययन को ॥
फिरता है धनी के लारे ॥ ४ ॥
खोजत नाहीं गुप्त ज्ञान को, धन हित खोजत सब जहान को ।
देखो तमाशा बेईमान को, दिन कहने लाग्या रैन को ॥
बनि रहे महंत बड़े भारे ॥ ५ ॥

—o—

१५ भजन

अब देखो ध्यान लगाय के, घट भीतर जंग तमाशा ॥ टेक ॥
नेत्र रूप देखने जावे, श्रवण शब्द सुनने को धावे ॥

गंध नासिका नित उठि चाहे, त्वक्खुश होय स्पर्श खाय के ॥
रसना करे रस की आसा ॥ १ ॥
मन संकल्प ओर को जाता, चित चितवन में तत्पर पाता ॥
अहंकार अहे में रात्या, बुद्धि निश्चय में जायके ॥
जल अशन प्राण चहें खासा ॥ २ ॥
वायक कहे वैखरी बानी, वस्तू ग्रहण करत हैं पाणी ॥
रती भोग अरु मल त्यागानी, गुदा शिष्न हरषाय के ॥
चलते हैं चरण खुलासा ॥ ३ ॥
काम क्रोध आशा और तृष्णा, सबही रच रहे अपनी रचना ॥
सुषोपति अरु जाग्रत् स्वपना, गुण बरतें तीनों आयके ॥
पड़ि गया माया का फाँसा ॥ ४ ॥
गुप्त जंग होता दिन राती, देव असुर तिनकी द्वय जाती ॥
राजा मंत्री ले ले साथी, फौज लई सजवाय के ॥
दोनों का रुपि गया रासा ॥ ५ ॥

—०—

९६ भजन

जंग माच्या काया कोट में, लड़ते हैं शूर लड़ाई ॥ टेक ॥
जिया राम है जिसका राजा, मनीराम को अफ़सर साजा ॥
दिया हुक्म अब कीजै काजा, मत रहे मन की मोट में ॥
अब जल्दी करो चढ़ाई ॥ १ ॥

खुले कोट के नौ दरवाजे, जिनके माहीं देव विराजे ॥
अपने साज सभी उन साजे लड़ने लगे गोलक ओट में ॥
सजि चाले पंच सिपाई ॥ २ ॥
असुर सेन का बजा नगारा, देवन का गढ़ घेरा सारा ॥
होती आवे मारो मारा, दे लिये विषयों की लोट में ॥
चाले हैं देव पराई ॥ ३ ॥
मनीराम अफ़्सर जब बोला, सुनों शील तुम कैसे डोला ॥
उलटि शीलने शस्तर का झोला, अब शत्रु आ गया फेंट में ॥
गुरु विष्णु करै सहाई ॥ ४ ॥
उलटि शीलने सस्तर मारा, पकड़ि काम धरनी पर डारा ॥
देव लिये निज निज हथियारा, चूकत नाहीं चोट में ॥
जब देवन को जय पाई ॥ ५ ॥
सुर असुरों की हुई लड़ाई, मनीराम अफ़्सर है भाई ॥
जियाराम की हुई सहाई, इस गुप्त जंग के फोट में ॥
ध्रुव देखो ध्यान लगाई ॥ ३ ॥

दोहा—

काया गढ़ के नगर में, राजा आतम राम ।
मन दीवान जिसका रहै, करे शुभाशुभ काम ॥
जिस राजा का मंत्री, नीति निपुण जो होय ।
दुष्ट चोर तिस राज में, रहन न पावे कोय ॥

कामादिक जे असुर हैं, शीलादिक हैं देव।
दंड देत तिनको सदा, तब करै राव की सेव॥
असुर सभी के बीच में, तीन बड़े सरदार।
काम क्रोध अरु लोभ जो, तीनों नर्क दुवार॥

—o—

९७ भजन

मत फँसे कर्म के कीच में, तूं चेतन सदा अकरता ॥ टेक ॥
करम विकरम का लेश नहीं है, अकरम का कोइ देश नहीं है।
मजब पन्थ कोइ भेष नहीं है, यों कहा वेद के बीच में ॥
तू जन्में नाहीं मरता ॥ १ ॥
जिसके पड़ा कर्म का फंदा, सो नर हुवा जगत में अंधा ॥
छिप गया आतम पूर्ण चन्दा, पड़ि गया अंधेरी बीच में ॥
दुख चौरासी के भरता ॥ २ ॥
विधी निषेष लगे दो फांसा, समझत नहीं वेद का आसा ॥
कैसे छूटे यम की त्रासा, फँसि गया खीचम खीच में ॥
फिर जन्म जन्मि के मरता ॥ ३ ॥
पढ़ि पढ़ि वेद हुये अभिमानी, गुप्त मते की बात न जानी ॥
करता बुद्धी तजता ज्ञानी, नहीं बहता उदक मरीचि में ॥
सो भव सागर से तरता ॥ ४ ॥

—o—

१८ भजन

जिन जान्या अपने आप को, सो निर्भय होके सोवे ॥ टेक ॥
हिरदे की ग्रंथी जिन तोड़ी, संसों की सब मटुकी फोड़ी ॥
विधि निषेध की उठि गई जोड़ी, फिर जपै कौन के जापको ॥
करमन में कैसे रोवे ॥ १ ॥
मूल अविद्या गई मूल से, आतम में भासी थी भूल ते ।
कर्म भोग सब होत तूल से, फिर तपे कौन के ताप को ॥
जो होना होय सोइ होवे ॥ २ ॥
ससै विपर्यय मिट गया साँसा, आतम ब्रह्म रूप करि भासा ॥
हर वक्त देखते वही तमाशा चेतन शुद्ध प्रकाश को ॥
फिर मैल कौन का धोवे ॥ ३ ॥
गुप्त होय जब गुप्तहि पावे, मिलते ही ध्रुव अचल हो जावे ॥
जो कोई इस सागर न्हावे, सो खोवे तीनों ताप को ॥
जब एक ब्रह्म को जोवे ॥ ४ ॥

—o—

१९ शब्द (चौसर)

तू कई बेर चौसर हारा, जरा खेल समझ कर बाजी ॥ टेक ॥
माया चौपड़ जीव खेलारी, लोक ब्रह्माण्ड बने सब क्यारी ॥
देव मनुष जहं फिरती सारी, जब तिरगुण पासा डारा ॥
फिर ऐसी रचना साजी ॥ १ ॥

लगा खेल में आपन भूला, स्वयं सरूप से भयो प्रतिकूला ॥
नख सिख छाई अविद्या मूला, जब भूल्यो रूप अपारा ॥
बनि बैठा पंडित काजी ॥ २ ॥
ब्रह्म भूल कर जीव कहावो, आप मान तन में मन लायो ॥
ईश्वर को जब जीव बनायो, जब जान्यो आपको न्यारा ।
फिर बना ईश का पाजी ॥ ३ ॥
हरी नरद को फेर पियारा जब आवेगा दाव तुम्हारा ॥
पकि घर आवे सोलों सारा, नहिं गर्भ वास महं जारा ॥
छुटे जन्म मरन व्है राजी ॥ ४ ॥
गुप्त गुरु अरु गुप्तहि चेला, गुप्त भया है जिन का मेला ॥
गुप्त ज्ञान से जगत् ढकेला, भयो मूल चंद उजियारा ॥
यह छन्द रचा है ताजी ॥ ५ ॥

—o—

१०० भजन

तू सदा स्वयं परकाश है, फिर किसका ध्यान धरे है ॥ टेक ॥
क्या है ब्रह्म, कहां है माया, कैसे तिनको जगत उपाया ॥
ईश्वर जीव कहाँ से आया, तू जपै कौन का जाप है ॥
जन्मे अरु कौन मरे है ॥ १ ॥
ब्रह्म नपुंसक जड़ है माया, कहां जगत स्थान बनाया ॥
जीव ईश सब तेरी छाँया, तू परकाशन का परकाश है ॥
कभी जन्मे नहीं मरे है ॥ २ ॥

गुरु वेदका पटको पकड़ा, कहां से लाया झूंठा झगड़ा ॥
बिना पंथ की वाट है दगड़ा, जहां नहीं धरनी आकाश है ॥
डूबे अरु कौन तरै है ॥ ३ ॥
तीन शरीर कहाँ से आया, कैसे पांचों कोष बनाया ॥
कहाँ से पंच कलेश लगाया, जहां नहीं बुद्धिचिदाभास है ॥
चित्त मन से सदा परे है ॥ ४ ॥
गुप्त मते का पंथ निराला, जहां नहीं कोई कंठी माला ॥
बंध मोक्ष का तोड़ो ताला, तू सब स्वासन का स्वास है ॥
कछु मूल से नहीं परे हैं ॥ ५ ॥

—o—

१०१ भजन

तू आप सच्चिदानन्द है, फिर किस की फेरे माला ॥ टेक ॥
सत्त पद तुम जानो सोई, तीन काल में वाध न होई ॥
चेतन ते न्यारा नहिं सोई, सो परकाशक निस्पंद है ॥
टुक तार चश्म का जाला ॥ १ ॥
मुख्य प्रीति का विषय है जोई, आनन्द रूप पिछानो सोई ॥
चेतन तासे जुदा न होई, सो सदा सुख का सिंध है ॥
टुक छोड़ जगत का नाला ॥ २ ॥
माला का मतलब सुन प्यारे, जैसे मणिके न्यारे न्यारे ॥
तैसे देव मनुष्य हैं सारे, चेतन सदा सुछंद है ॥
तू सब कालन का काला ॥ ३ ॥

तीन शरीर अरु तीन अवस्था, तीन काल अरु सभी व्यवस्था ॥
तुझ चेतन की सब में अस्था, जहां कोई नहीं दुख द्वंद है ।
फिर क्यों करता मुंह काला ॥ ४ ॥
गुप्त मते की बात जनाई सो तुम साँची जानो भाई ॥
यामें झूंठ नहीं है राई, तू सब सिंघन का सिंघ है ॥
कर देखो मूल उजाला ॥ ५ ॥

—०—

१०२ भजन (मोटर)

इस तन के अंतर भाग में, यक मोटर अजब चली है ॥ टेक ॥
पांचों भूत रजोगुण मिलकर, हुई तयार जब मोटर बनकर ॥
मनुवा ड्राइवर बैठा संभलकर, फिर बेल बजाया साग में ।
फिरने लगी कली कली है ॥ १ ॥
नाभी कंठ सड़क बनवाई, जिस पर मोटर आनि चढ़ाई ।
शब्द का भोंपू दिया बजाई, लगी बीजली जठरा आग में ॥
चिमकी जब नली नली है ॥ २ ॥
जिसमें चेतन आनि विराजा, सो कहिये राज़न् पति राजा ।
दिया हुकुम जब मोटर साजा, जाय बिड़या है बाग में ॥
जहँ खिलि रही कली कली है ॥ ३ ॥
ऐसी मोटर अजब चलाई, मील घड़ी की गिनती लाई ॥
इकीस सहस्र छः सो भाई, इस मोटर के अन्दाज में ॥
फिर उड़ने लगी धूली है ॥ ४ ॥

तू नहिं मोटर बैठन वाला, फिर क्यों करता है मुंह काला ।
बन्ध मोक्ष का तोड़ो ताला, उलझा क्यों करम विभाग में ॥
क्या कूवे भांग घुली है ॥ ५ ॥
इस मोटर का खेल निराला, समुद्र नदी गिने ना नाला ।
पीछे लाग्या वैरी काला, फूंक देत है आग में ॥
बचता कोइ गुप्त बली है ॥ ६ ॥

—o—

१०३ पद

फल गुप्त प्रगट सत संग में, फिर क्या करना वाक़ी है ॥टेक॥
भोग अदृष्ट दृष्टि में आवे, बिना राग सब में वरतावे ॥
बालक वत् सब खेल बनावे, नित चेतन सदा असंग में ॥
वह सब चेतन झांकी है ॥ १ ॥
शब्द स्पर्श रूप रस गन्धा, इन्द्रिन का इनसे सम्बन्धा ।
नित न्यारा आतम निरबंधा, ज्यों अनुभव शब्द प्रसंग में ॥
यह खुद अपना साखी है ॥ २ ॥
बिन करता करता कहलाव़े, सो करता नहिं चले चलावे ॥
जैसे पति पुत्र कहलावे, सब रंग उसी के रंग में ॥
नहिं स्वेत रक्त खाकी है ॥ ३ ॥
गुप्त मुक्त की यही निशानी, सूरत में सूरत लासानी ॥
'अहं ब्रह्म' यह बोली बानी, ज्यों व्यापक अंगी अंग में ॥
ध्रू मूल जगत नाखी है ॥ ४ ॥

१०४ भजन

जिसको पाया अमोलक लाल, वह किसकी आस करेगा ॥टेक॥
सुखभर सोये तत्त तखत पर, ज्ञान गलीचा लाय बखत पर ॥
फिर क्यों ममता करे जगत् पर, खुश रहे तीनों काल ॥
क्यों पच पच जगत् मरेगा ॥ १ ॥
जिनको नहीं कुछ लेना देना, हुवा नहीं कुछ आगे होना ॥
वर्तमान में वर्ते क्यों ना, तोड़ भरम का जाल ॥
यों कारज सभी सरैगा ॥ २ ॥
परारब्ध से जो कुछ वरते, तिसमें हर्ष शोक नहिं करते ।
बे कबहू जन्में नहिं मरते, नहीं रखते धन माल ॥
भव जल से पार तिरेगा ॥ ३ ॥
गुप्त रूप में हैं मस्ताने, टूटे सभी कुफर के खाने ॥
जानन योग्य सभी जिन जाने, नहीं फंसे वेद के जाल ॥
क्यों झूंठी साख भरेगा ॥ ४ ॥

—o—

१०५ भजन

जिसका बहुत करे हंकारा, यह पानी के सा पाला ॥ टेक ॥
पंचभूत करके जकड़ी है, कर्मयोग से आट जड़ी है ।
रज-वीरज की गांठ पड़ी है, करके देख विचार ॥
नित वहै मैल का नाला ॥ १ ॥

जिसके मांहि बड़ापन मान्या, औरन को नीचा करि जान्या ॥
हरि तजि खाय विषय रख खाना, भक्तिविन चारों वर्ण चमार ॥
लख तुलसीदास हवाला ॥ २ ॥
जिसके माँहि बहुत मन लाया, धन यौवन स्वपने को माया ॥
थिर नहिं रहे किसी की काया, झूंठा सब परिवार ॥
अब तोड़ भरम का ताला ॥ ३ ॥
अपने मन बुद्धि को लावो गुप्त गली से जल्दी आवो ॥
जब कुछ आगम भेद को पावो, छूटे सब विस्तार ॥
कर पकड़ ज्ञान का भाला ॥ ४ ॥

—०—

१०६ भजन

खेलत हैं खेल खिलारी, जग में लिपते नहीं विकार ॥ टेक ॥
नाना विधि करत हैं किरिया, जिनको पद पाया है तुरिया ॥
उनके सब ही कारज सरिया, आशा तृष्णा दई मार ।
चढ़ि गये ज्ञान असवारी ॥ १ ॥ ध्यान योग नहिं करे समाधी,
पार ब्रह्म है अनंत अनादी । वाद करै तो आतम-वादी,
सब जाना जगत् असार ॥ चढ़ि गई है ज्ञान-खुमारी ॥ २ ॥
सब कुछ करते कुछ नहिं करते, ना कभि जन्मे ना कभि मरते ॥
काल अगिनि में वह नहिं जलते, व्यापक रूप अपार ॥
कुछ नहिं हलके नहिं भारी, ॥ ३ ॥ गुप्त गली में फाग खेलते॥

रंग पिचकारी माहिं मेलते, जो कोइ मिले तिसी पे झेलते,
नर हो चाहे नार। करते अपने अनुसारी ॥ ४ ॥

—o—

१०७ भजन

रचा है वाजीगर का खेल, भूले हैं देखि तमासा ॥ टेक ॥
क्षिति जल पावक और समीरा, गगन रचा है अति गंभीरा।
जिनके बीच में चेतन हीरा, विनवाती विनतेल।
दसहू दिशि हुया उजासा ॥ १ ॥ जासे चन्दसूर परकासे ॥
अनल विदुत तारागन भासे, अंधकार परकाश न नासे,
दोनों का मिला दिया मेल, ॥ कोई करे न किसी का नासा ॥ २ ॥
पहिली सूक्ष्म सृष्टि रचाई, मेल मिला स्थूल बनाई।
पंचबंध दिये जिसमें लगाई, करने लागे सेल।
फिर पाप-पुन्य होय भागा ॥ ३ ॥ गुप्त रूप से एक विराजे,
बुद्धि भेद कर नाना साजे ॥ आगे ढोल ज्ञान का बाजे,
विगड़ जाय सब खेल, जब समझे वेद का आसा ॥ ४ ॥

—o—

१०८ भजन

इस राजा आतम-राम को मन नटवा खेल दिखावे ॥ टेक ॥
मन नटवे ने खेल बनाया, बिना हुया सब कर दिखलाया।
राजा को तिसने भरमाया, करता अचरज के काम को
बिन हाथ पैर भग जावे ॥ १ ॥

जाग्रत में स्थूल तमासा, विषय देह इंद्रिय परकासा ।
देव त्रिपुटी करे उजासा ॥ रचे पंच-भूल के गाम को,
विषयों के बंध लगावे ॥ २ ॥
देह इंद्रिय को छिटकावे, स्वपने माहीं और बनावे
कंठ-देश नाड़ी में जावे, तज कर नेतर-धाम को
फेर कई कई खेल खिलावे ॥ ३ ॥
सुषोपति में गुप्त जो होवे, जाग्रत और सुपन को खोवे
कारण माहीं सुख से सोवे, तज गया रूप और नाम को,
टुक अपने रूप समावे ॥ ४ ॥

१०९ भजन

जिनों के उड़ि गये नाम निशान, राजा थे चक्रवर्ती ॥ टेक ॥
बल पौरुष जिनके विख्याता, लिखी पुरानन में सब गाथा ॥
जिनकी समता कोई न पाता, बहुत करे थे अभिमान ॥
हाथों से तौलते धरता ॥ १ ॥
जिनके तुंग अगार बने हैं, कोट किला अरु बहुत तने हैं ॥
सेनापति अरु कोष घने है । जिनों के बंदीजन करे गान ॥
महलों में चन्द्रमुखी चरती ॥ २ ॥
तिनका खोज रहा नहिं राई । और किसी की कहा चलाई ॥
जिनने सुर्त हरी से लाई । सोई उभरे संत सुजान ॥
पाये आप रूप में थिरती ॥ ३ ॥

जो नर गुप्त-ज्ञान पाता है । उसको काल नहीं खाता है ॥
सो कहिं आवे नहिं जाता है । यों कहते वेद पुरान ॥
सब मूल अविद्या मरती ॥ ४ ॥

११० भजन

यक दिन जंगल होय मुकाम, छुटि जायगें महल अटारी ॥टेक॥
भूलि गया विषयों के सुख में, हड़हड़ हंसे काल के मुख में ॥
हा हा कार करत है दुख में, नहीं जपे हरी का नाम ॥
चढ़ि आई काल सवारी ॥ १ ॥
मूरख नींद भरम की सोवे । शिर पर काल खरा नहिं जोवे ॥
अंतःकरण को क्यों नहिं धोवे । सब सिध होवें काम ॥
होय नास अविद्या सारी ॥ २ ॥
ज्ञान रवी घट में परकासे । जगत् जाल स्वपना सा भासे ॥
अंधकार अज्ञान जो नासे । जब होय ब्रह्म में धाम ॥
चढ़ि जाबे ज्ञान खुमारी ॥ ३ ॥
गुप्तरुपरघट जो कुछ भासे । आप रूप से सब परकासे ॥
कल्पित अधिष्ठान में नासे । है तिसके दरमियान ॥
नहिं रजत सीप से न्यारी ॥ ४ ॥

१११ भजन

लगा दई सत गुरु ने ताली, खुलि गये बज्जर के ताले ॥ टेक ॥
रस्ता साफ नहिं कोई भाटा, काल कर्म के जलि गये कांटा ॥

सौदा हुवा सीस के साटा, ज्ञान की अग्नी को जाली ॥
जलि गये अविद्या जाले ॥ १ ॥
अंतर की वस्तु परकासी । मैं चेतन यह दृष्य बिनासी ॥
मैं ही हूँ सब का परकासी । खिली सब मोंसे हरियाली ॥
धोये दाग दिलों के काले ॥ २ ॥
कान माहिं ऐसा दिया मंतर । तुह चेतन रहता है स्वतंतर ॥
दृष्य सभी कल्पित तुझ अंतर । देव क्या भेंरो और काली ॥
तुही करै सब को उजियाले ॥ ३ ॥
गुप्त रूप से एकहि रहता । ना कछु करता ना कुछ चहता ॥
काल अगिनि को तूही दहता । उमँर तेरी वृद्ध नहीं बाली ॥
छुटि रहे ज्ञान के नाले ॥ ४ ॥

११२ राग-विलावल

निज आतम आनंद में जो जन नित राते ।
आठ पहर तिस अमल में रहते हैं माते ॥ १ ॥
मोह जाल फांस कटी हुई बंध खुलासा ।
निरभय होकर देखते सब खलक तमाशा ॥ २ ॥
फूटा घट अज्ञान का लाया ज्ञान का डंडा ।
काम कर्म आभास का हो गया सत खंडा ॥ ३ ॥
ईश्वर माया जगत की सब मिटी उपाधी ।
पारब्रह्म से परसिया सो सुद्ध अनादी ॥ ४ ॥

काल जाल यमराज का दफ्तर सब फाड़ा ।
ब्रह्म रूप मैदान में झंडा जिन गाड़ा ॥ ५ ॥
ब्रह्मानन्द आनन्द में आनन्दित रहते ।
ब्रह्मलोक बैकुण्ठ लों नाहीं कछु चहते ॥ ६ ॥
सर्व मित्र निष्कल्पना त्यागा संतोषा ।
बिना अपने आपके और नहीं भरोसा ॥ ७ ॥
गुप्त गलीचे सोवते लाय ज्ञान का तकिया ।
उन मुन ताली लगि रही आधी जागी अंखियां ॥ ८ ॥

११३ राग विलावल

सब देवन के बीच में यक आतम जोती ।
सदा दिवाली संत की तिस मांही होती ॥ १ ॥
लिखना पढ़ना चातुरी अरु पत्रा पोथी ।
निज आतम जाने बिना, सब ही है थोथी ॥ २ ॥
गोबर की पूजा करे, पकवान मिठाई ।
पूजै नहीं आतम देव को,सब उमर गमाई ॥ ३ ॥
देवी दुरगा पूजते, और भैंरों काली ।
देही अन्दर देहरा, जहं देव दिवाली ॥ ४ ॥
शून्य सिंहासन लग रहा, परदा नहीं पहेरा ।
वस्ती डोंगर देहरा, नहीं जंगल सहेरा ॥ ५ ॥
व्यापक है सब ठौर में कर देख विचारा ।
भूले भरम अचार में, नर मूढ़ गंवारा ॥ ६ ॥

सब के शामिल मिहि रहा, अरु सब से न्यारा ।
रूप रेख जाके नहीं, पीला अरु काला ॥ ७ ॥
गुप्त रु परघट एक है, जहं नाहीं दूजा ।
पूजा पूजक पूज्य का, तोड़ो भ्रम कूजा ॥ ८ ॥

११४ शिष्य की शंका (विलावल)

भगवान आतम एक है, यह आप सुनाया । पूजा पूजक भाव को, सब भरम बताया ॥ १ ॥ नाना बिधि जग भासता कहो कहाँ से आया ॥ आतम में किरया नहीं, यह किसने बनाया ॥ २ ॥ तीन कांड हैं वेद में, यह कहि समझाया । कर्म उपासन ज्ञान का साधन बतलाया ॥ ३ ॥ कौन सत्य को झूंठ है, दोई कहता वेदा । कहीं तो उत्पत्ति कहे, कहिं कहे निषेधा ॥ ४ ॥ कथन किया है कर्म का, मरने पर्यंता । कहीं त्याग सबका कहा, भजिये भगबन्ता ॥ ५ ॥ ईश्वर करता वेद का, सब कहें पुकारी । द्विविधि वचन समझो नहीं, यह शंका म्हारी ॥ ६ ॥ समर्थ आप दयालु हो, मैं बुद्धि खोया । भरमि रहा संसार में, जन्मातर रोया ॥ ७ ॥ गुप्त भेद समझाय के, कहि दीजे सारा ॥ आप बिना या जगत में कोई नहीं उद्धारा ॥ ८ ॥

११५ पूर्व प्रश्नों का उत्तर (विलावल)

अधिकारी के भेद, से सब वेद कहानी । गूढ़ वचन हैं वेद के, समझता नहीं प्रानी ॥ १ ॥ अज्ञानी स-काम को, करने को

कहता। जो जिज्ञासू ज्ञान का, तिसको नहीं चहता ॥ २ ॥ कर्म तजन के वास्ते, सब कर्म करावे ॥ काम्य कर्म छुटवाके निष्काम बतावे ॥ ३ ॥ कर्म उपासन सो करे, जा के मल विक्षेपा। अन्तर की शुद्धी भई, फिर करे न एका ॥ ४ ॥ परवृत्ति में वेद का, मत समझो आसा। सदा निवृत्ति कहत है, टूट भव पासा ॥ ५ ॥ विविधि भांति जग भासता, तिसकी सुनि लीजे ॥ यह सब माया जाल है, नहिं भूलि पतीजे ॥ ६ ॥ जैसे सोया नींद में, भासता है स्वपना। कोई अपना कोई और का, मिथ्या सब रचना ॥७॥ गुप्त आतम अज्ञान ते, सब ही कुछ भासे। ज्ञान होत निज रूप का, फिर सबही नासे ॥ ८ ॥

११६ विलाबल

मंद अंध के बीच में, रज्जू सर्प में भासे। अरु सीपी के अज्ञान तें, रूपा परकासे ॥ १ ॥ जैसे मरुस्थल भूमि में, हौय जल परतीति ॥ तैसे तस्कर ठूंठ में, यों जग की रीति ॥२॥ जैसे नभ में देखिये घट मठ बहु नामा। गगन एक का एक है, नाहीं कुछ नाना ॥ ३ ॥ ज्यों जल माहीं कल्पते, बुद बुदे तरंगा ॥ जल से कुछ न्यारे नहीं, जल ही सब अंगा ॥ ४ ॥ अग्नी माहीं कहत हैं, बहु दीप मसाला ॥ लालटेन अरु बिजली, विष फूलि उजाला ॥ ८ ॥ लोह में शसतर घने, सब घड़े लोहारा। ज्यों का त्यों लोहा रहै, कल्पित हथियारा ॥ ६ ॥ सोने में भूषण बहुत, सब

घड़े सोनारा। सोना सोना ही रहे, नहीं धरे विकारा ॥ ७ ॥ परजा पति ने घट घड़े, माटी बिन काही। गुप्त आतम में जगत को, ऐसे लख भाई ॥ ८ ॥

दोहा—

सिपी रूपा रज्जू सर्प, मरुथल जल का भास।
वह काटे नहिं वह बिके, वह नहीं खोवे प्यास ॥

११७ चाल-बनजारा

समझे नहिं मूढ़ गंवारा, तन सुखा सुखा के मारा ॥ टेक ॥ रखते उपास अरु रोजा, अन्तर से नहीं खोज्या जी ॥ ऊपर के करै अचारा ॥ १ ॥ पंच तीरथ में अशनाना। खाता है सूक्ष्म खाना जी, करने लागे संथारा ॥ २ ॥ कुछ समझता नहीं मनने, क्या कसूर किया तन ने जी। करने काम विसारा ॥ ३ ॥ सुनि कर गुप्त ज्ञान की बाता। कर्मों में कूटते माथा जी। हो गया आतम हत्यारा ॥ ४ ॥

११८ चाल-बनजारा

मन मेरे नहीं तन मारे, करि यतन बहुत से हारे॥टेक॥ बाँबी को कूटै कोई, नहीं दुःख सर्प को होई जी। वह रहता बंवी मंझारे ॥१॥ पग बाँधि वृक्ष में लटके, मन के चलने को अटकेजी ॥ करते हैं यतन बढ़े भारे ॥ २ ॥ मन कारन तन को मारे, उपवास व्रत बहु धारेजी॥ सब अंग अग्नि में जारे ॥३॥ मन गुप्त रूप हो रहता ॥ नहीं बात किसी से कहता जी। सब मन को जालपसारे ॥ ४ ॥

दोहा—

मनरे मिर्ही पीसि के, ऊपर लादूं आग ॥
तो भी चंचल ना मिटे, उठ उठ जावे भाग ॥

११९ चाल-बनजारा

समझे क्यों ना मन मेरा, मत करे विषयों का फेरा ॥ टेक ॥ यह अहर्निशि तोहि जरावे, फिर अन्तसमव उठिजावे जी, तब होवे दुःख घनेरा ॥ १ ॥ झूठा धन बहुत कमाया, विरथा हंकार बढाया जी, फिर अन्त काल ने घेरा ॥ २ ॥ कैदी सा पकड़ा जावे, क्या जबाव वहांपे सुनावेजी, कुछ चले नहीं बल तेरा ॥ ३ ॥ जो किये कर्म गुप्ताई, लेखा होय राई राई जी, मुख काला कीजे तेरा ॥ ४ ॥

दोहा—

चले नहीं बालस्टरी, नहिं रिशवत कानून ॥
वह सच्चा दरबार है, करै अन्यथा कवून ॥

१२० चाल-बनजारा

आतम चेतन अनिवासी,. नहीं पड़े काल की फाँसी ॥टेक॥ ऐसा है रूप तुम्हारा, जिसमें कल्पित संसाराजी, करके देखो तल्लासी ॥ १ ॥ निराकार नहीं आकाश, जिसमें कुछ नहीं पसारा जी, कहिं आवे ना कहिं जासी ॥ २ ॥ ऐसे निश्चय को धारो, यम की फरदी को फारेजी, घट २ में आप निवासी ॥ ३ ॥ सुनि गुप्त मते की वानी, वेदों ने साखि बखानीजी, आतम चेतन सुखरासी ॥ ४ ॥

१२१ चाल-बनजारा

देखो निज रूप तमासा, निज अंतर कीजै वासा ॥ टेक ॥ इंद्रिय अरू तिनके देवा, कुछ जानत नाहीं भेवाजी, तुह करे सबका उजियासा ॥ १ ॥ तूही सब देवन को जाने, तुझको कोइ नाहिं पिछानेजी, तुही आप स्वयं परकासा ॥ २ ॥ कोई जीव ईश नहीं माया, तुहि आप निरंजन रायाजी, कोइ नाहीं सेवक दासा ॥३॥ है गुप्त रूप अविनासी, अब तोड़ि देव की फाँसी जी, फिर होय अविद्या नासा ॥ ४ ॥

दोहा—

जो समझे इस सैन को, लखै आप निरबान ।
कर्म कीच छूटे सभी, दिल में होय आराम ॥
सव वेदान्त का सार यह, लखै ब्रह्म निज आप ॥
माया ईश्वर जीव जग, छांडि भर्म सन्ताप ॥

१२२ असावरी

यक चतुर नाटकी आई, जिन दिया अखाड़ा लाई ॥ लिये देव मनुष भरमाई, तिर्यक् की किन्ने चलाई ॥ टेक ॥ झोले से सूत निकाला, सो तीन तार करडाला ॥ बट अहंकार का घाला, डोरी मजबूत बनाई ॥ १ ॥ तिस डोरी में सब बन्धे, किये देव मनुष सब अन्धे ॥ सबही गल डारे फन्दे, मानन लगे छोटे बड़ाई ॥ २ ॥ तीनन को देव बनाया, जब अपना हुकुम सुनाया ॥

काहू पर करनी न दाया, जैसा करै तैसा भुगताई ॥ ३ ॥ जब हुकुम किया है जारी, तीनों ने बात विचारी ॥ रचि दीनी चौदह क्यारी, तिरलोकी अजब बनाई ॥ ४ ॥ क्षिति पावक जल अरु पवना, आकाश माहिं सब भवना ॥ जिनमें होय आबा गवना, यह दीना पंथ चलाई ॥ ५ ॥ विषयों की ढोलक बाजी, सुन सुन के हुये सब राजी ॥ मन मोहन रचना साजी, देखन लगे लोग लुगाई ॥ ६ ॥ कर्मों का टिकिट जैसा लिया, उन्ने वैसा दरजा दिया ॥ सब पाते अपना किया, कछु चले नहीं चतुराई ॥ ७ ॥ जिसे नाटक में मन लाया, तिरे गुप्त भेद नहीं पाया ॥ वेदों में सभी समझाया, ठगनी की धूलि उड़ाई है ॥ ८ ॥

१२३ असावरी

हमें नगर ढूंढि लिया सारा, पाया नहिं मीत हमारा ॥ दसहूं दिश पड़ा अन्धारा, सब अंग विरह ने जारा । टेक ॥ मैं तो पहिर गले विच सेली, बन परवत फिरी अकेली ॥ सब देखो हाट हवेली, ढुंढे हैं शहर बजारा ॥ १ ॥ तीरथ वरतादिक करती, नित ध्यान मीत को धरती ॥ बड़े दुर्गम देशों फिरती, सब अंग अग्नि में जारा ॥२॥ सब तजि दिया घर का धंधा, नित पड़ी गायत्री संध्या ॥ उलटा गले पड़ि गया फन्दा, कर्मों का गहन बन भारा ॥३॥ हम दोनों कान फड़ाये शिर लम्बे केश बढ़ाये ॥ सींगी अरु नाद बजाये, सही कठिन छुरी की धारा ॥ ४ ॥ हम बने यती सन्यासी, घर छोड़ि हुवे बनवासी ॥ नहीं कटी लोभ की फांसी, काहे को

किया मुख कारा ॥ ५ ॥ यम नियम प्राणायामा, करते हैं आठो यामा ॥ पाया नाहींनिज धामा, फिरी चोरासी की धारा ॥ ६ ॥ करि देखो नाना किरिया, पद पाया नहीं हम तुरिया ॥ वृथा ही पच पच मरिया, खोया है जमाना सारा ॥ ७ ॥ जब गुप्त गली में आया, सत्गुरु ने भेद बताया ॥ सब ही चेतन की छाया, व्यापक है रूप तुम्हारा ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

जब गुरु मिले ब्रह्मज्ञानी, तब बोले अमृत-बानी ॥ बतलाई नूर निशानी, सब झूंठी द्वैत कहानी ॥ टेक ॥ जब सुने यथारथ वचना, सब मिटी कर्म की रचना, निज बोध रूप में जचना, यह बात सुनी रस सानी ॥ १ ॥ जिस कारन भटकत डोले, बह घट घट माहीं बोले ॥ जब धरि काँटे पर तोले, तब पावे पद निरबानी ॥ २ ॥ जिमि ब्याल दाम में भासे । ऐसा ही जगत प्रकासे । अधिष्टान ज्ञान तें नासे । जो शेष रहे सो जानी ॥ ३ ॥ जैसे नभ में घठ मठ नामा । यों जीव ब्रह्म में जाना ॥ सब भेद भरम को भाना । जहं मन पहुंचे नहिं वानी ॥ ४ ॥ जब तीर लक्ष में ताना । माया के भर्म को भाना ॥ तव भेद अगम का जाना । सब मिटि गई खेंचातानी ॥५॥ दनी गुरु ज्ञान-सिरोही । सब मूल अविद्या खोई ॥ जो होना होय सो होई । कछु लाभ रहा नहिं हानी ॥ ६ ॥ किये जप तप नेम उपासा । छूटी नहिं मन की आसा।

देखा निज रूप तमासा ॥ तब माई सुख की दानी ॥ ७ ॥ छूटा गुप्त ज्ञान का गोला । सब उड़ा भर्भ का टोला । हो गया मेहर का झोला, नहिं पड़ते चारों खानी ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

कहते हैं वेद सिमरिती । यह जीव कला नहिं मरती ॥ नहिं जन्मादिक को धरती । क्यों भूलि भर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जैसे मद पी होवे मतवारा । कछु तनकी रहे न संभारा । गिरि जावत मैली गारा । तब लोटन लागे धरती ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीना । कर्ता अहंकार जो कीना । तब जीब आपको चीन्या । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ स्वपने में बहुत धन पाया । पुत्तर पोते अरु माया ॥ कछु खर्च किया नहिं खाया । झूंठी सबही परविरती ॥३॥ कर्त्ता कर्म अरु किरिया । तजि तिनको पावो तुरिया॥ सब कर्म इसी से जरिया । जब पावे आप निवरती ॥ ४ ॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं कछु न्यारा । करो ब्रह्माकार अब विरती ॥ ५ ॥ यह सुन सत्गुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ याते थिर होबे प्रानी । बुद्धी नहिं बाहर चरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यास । पावे निज रूप खलासा ॥ फिर यम को रहे न त्रासा । सब मूल अविद्या जरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब झूंठा जाल उड़ाया। शिष्य-सेवक भाव मिटाया । जब जीव-कला पावे थिरती ॥८॥

१२६ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हूं दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सबसे न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥ ४ ॥ हमें मिले बहुत अलझेड़ी । गल गेरे मजब की वेड़ी ॥ करते हैं आँख बड़ी टेड़ी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अबिद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥ ६ ॥ जब सुने यथारथ बचना। तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥८॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

१२७ असाबरी

यह तन मैंना मैंना । सब छोड़ो फोकट फैना ॥ टेक ॥ गो गोचर मन जहं लग जावे । सो यह कुल भी हैना ॥ माया कल्पित विश्व बन्यो है । मृग जल जानि बहेना ॥ १ ॥ सोवत रंक स्वप्न होय राजा । राज करत संग सेना ॥ जागत भीख घरो घर मांगे । तबहूं पेट भरेना ॥ २ ॥ तन तिरिया सुत अपने मानत ये सब काल चबेना । इन संगतज संग हरि का करिये । हरि हरि मुख से कहता ॥ ३ ॥ सो हरि गुप्त प्रकट संतन संग । उनका सुनिये कहना ॥ ध्रुब वह कृपा करत बिन कारण । सुख के कहि कहि बैना ॥ ४ ॥

१२८ दादरा

जाना तुझे जरूर है, कर्मों के धाम को ॥ सौदा करो नेकी का, भजिके राम नाम को ॥ टेक ॥ क्यों भूलता है देखिके, चमक चामको ॥ चलना पड़ेगा यार तजिके, धाम वाम को ॥ १ ॥ बाजे नगारा कूंच का । सुबह व शाम को । लेने न पावे संग में, कौड़ी छदाम को ॥ २ ॥ समझा है सत्य तैंने, इस झूंठे लिजाम को ॥ वंदीसा पकड़ा जायगा, यम के मुकाम को ॥ ३ ॥ कहता है गुप्त पुकारिके, मन बेईमान को ॥ बिगड़ा अनादि काल का, करता न काम को ॥ ४ ॥

१२९ दादरा

स्वप्ने में स्वप्ना देखिके, होता फिरै खुवार ॥ बढ़िके अविद्यारण्य में क्यों भूलता है यार ॥ टेक ॥ जैसे नदी में गिर गया, बहने लगा

मझधार ॥ तब तक नहीं आराम है, पकड़े नहीं किनार ॥ १ ॥ देही मिली है मनुष्य की, कछु कीजिये विचार ॥ डारो अविद्या जालका, सिर आअने से भार ॥ २ ॥ करना जो काज आज है, कल की नहीं उधार ॥ नाहीं खबर छिन्न एक की, कब आनि पकड़े कार ॥ ३ ॥ गुप्त गोविन्द को जपो, अब राग दोष जार ॥ छोड़ो अखाड़ा लोभ का, इस मारही को मार ॥ ४ ॥

१३० दादरा

मेंहदी के जैसे पात में, लाली रही समाय ॥ काया में तैसे ब्रह्म है, खोजन को कहाँ जाय ॥ टेक ॥ वृथा ही बाहर भटकता, खोजे नहीं सत्भाव ॥ बाहर से उलटी मोड़ि के, अंतर को विरती लाय ॥ १ ॥ ढूँढन वाले को ढूँढिले, इस ढुंढाही के माय । अंतर व बाहर एक रस, क्यों मरता धाय धाय ॥ ३ ॥ यद्यपि अपना आप है, सत्गुरु बिना नहीं पाय ॥ गहेना गले के बीच में, कोई देत है बतलाय ॥ ३ ॥ गुप्त अपना आप है, दृष्ठि न मुष्ठि आय॥ जब तक न जाने आपको, बन बन में भटके खाय ॥ ४ ॥

१३१ दादरा

दिल दीजे न संसार, यार छोड़ जाते हैं ॥ लाखों करो उपाय फिर, ढूंढे न पाते हैं ॥ टेक ॥ प्रीति में जो सुख हुये, हमको जलाते हैं । खान पान धाम ये, नाहीं सुहाते हैं ॥ १ ॥ जिन विन घड़ी नहिं बीतती, अब दिबस जाते हैं ॥ कोई चन्द

रोज बीच में, हम भी समाते हैं ॥ २ ॥ दिल माहीं दिल को देय के, मुहब्बत लगाते हैं। एक दिन वियोग को, अवश्य पाते हैं ॥ ३ ॥ जाने बिना निज गुप्त के, यों दुख पाते हैं ॥ यार मित्र दोस्ती, सब झूंठे नाते हैं ॥ ४ ॥

१३२ दादरा

गाना सुनाना चाहिये, जो गैबी ख्याल है ॥ गंधर्व हुवा तो क्या हुवा, वाकिफ न हाल है ॥ टेक ॥ तानारीरी में फंस मरया, करता कमाल है। उदात्तऔ अनुदात्त, नहिं स्वर की सँभाल है॥१॥ नहीं तार काठ चाम लोहा, तस्मा न बाल है ॥ अनहद के बाजे वज़ि रहे, तबला न ताल है ॥२॥ मुरसद की ठोकर खायके, होता निहाल है ॥ कथनी कथी तो क्या हुवा, कोरा कंगाल है ॥३॥ उस गाने को जान्या नहीं, जो गुप्त माल है ॥ धन काज आयु खो मरया, घर माहीं लाल है ॥ ४ ॥

१३३ दादरा

मंथन किया है वेद का, कथि कथि के कहते हैं। जाने बिना निज रूप के, भव जल में बहते हैं ॥ टेक ॥ लोभ की अग्नी लगी, तिस माहि दहते हैं। तजि लाज को अकाज कर, दमड़ी को चहते हैं ॥ १ ॥ बिन निवृत्ति नहिं होय सुख, क्यों दुःख सहते हैं। अष्ठादस प्रस्थान जो, विद्या के कहते हैं ॥२॥ धन धाम काज राज में, हुकुमति को सहते हैं। कथनी करे वेदांत

की, हम असंग रहते हैं ॥ ३ ॥ जान्या है गुप्त-ज्ञान सो, अमान रहते हैं । तजि के वस्तु सार नहीं, असार गहते हैं ॥ ४ ॥

१३४ दादरा

हरहाल में कर ख्याल को, तुह कौन तेरा है । यह जगत् माया जाल, यहां तेरा न मेरा है ॥ टेक ॥ भूल्या फिरे क्या भर्म में, स्वप्ने का डेरा है । धन धाम वाम अरु तनय, झूंठा बखेरा है ॥ १ ॥ सब फीके रंग जहान के, जहाँ मन को गेरा है । कुछ समझिके कर काज, नहीं चौरासी फेरा है ॥ २ ॥ गुरु वेद में विश्वास करि, जो भेद हेरा है । कहते अखंडित आत्मा, नहीं दूर नेरा है ॥ ३ ॥ समझो न गुप्तज्ञान क्यों, हैरान हो रहा है । जिसको तू समझे दूर में, तेरा ही चेहरा है ॥ ४ ॥

१३५ दादरा

जैसे केले थंम में, पाता नहीं है सार ॥ तैसे ही देखो खोजि के मिथ्या सभी संसार ॥ टेक ॥ पकड़्या है तैंने आय के, यह माया का विकार ॥ पचि पचि के मरता रात दिन, करता नहीं विचार ॥ १ ॥ छोड़े बिना छूटै नहीं, झूंठा भी यह असार ॥ अब जानो अपने रूप को, पटको न सिर ते भार ॥ २ ॥ छोड़ो सभी परमाद को, लावो धनी से तार । शिर ऊपर काल गाजता, करता नहीं उधार ॥ ३ ॥ देखै हैं अपनी आंख से लगती नहीं कछु वार लाखों किरोड़ों चलि गये, कहता है गुप्त पुकार ॥ ४ ॥

१३६ दादरा

काया तो अपनी है नहीं, माया कहां ते होय। समझो न अपने रूप को, इन दोनोऊं को खोय ॥ टेक ॥ बीती जो भूत काल में, तिसको न मन में जोय। भावी का सोच मत करो, जो होनी होय सो होय ॥ वरते जो वर्तमान में, देखो न आप सोय ॥ पूछे क्या पंडित जोशियों, नहिं टारि सकता कोय ॥ ९ ॥ निचिंत होकर कीजिये, करने के योग सोय ॥ तजि दे करता हंकार को, करना रहे न कोय ॥ ३ ॥ इस गुप्त भेद को लखो, देखो एक न दोय॥ साबुन लगा के ज्ञान का, करता मति को धोय ॥ ४ ॥

दोहा—

वैद औषधी देत है, पथ को देय बताय ॥
कुपथ छोड़ि सेवन करैं, तबही ब्याधी जाय ॥
जीव आतमा के लग्यो, बड़ो रोग अज्ञान ॥
गुरु वेद बतलावते, औधष तिसकी ज्ञान ॥
ज्ञान दवाई जब लगे, कुपथ तजे विषै भोग ॥
पथ विवेक सेवन करे, तब आतम होय निरोग ॥

१३७ दादरा

बंदा न वन तू, देख अजब, तेरी शान है। अपने को आप भूलिकर होता हैरान है ॥ टेक ॥ साक्षी है वह सर्व का, जो उर में बस रहा। वेद भेद बिन सदा, करता जो गान है ॥ १ ॥ तेरी चमक पाय के, चमकता जहान है। नाम रूप से जुदा,

उसकी पिछान है ॥२॥ अनेक एक है नहीं, क्या कहे बखान है। आयने दिल मैं हमेंश, होता भान है ॥ ३ ॥ गुप्त सेन जान तू, करदे मुकाम है । ध्रुवस्वयं सरूप में, नहिं होती हानि है ॥४॥

१३८ दादरा

चाम के इस गाँम में, रहना किसी का नाय । धन धाम बाम नाशवंत, क्यों रहा लुभाय ॥ टेक ॥ नाम रूप से रहित, आप सबही माय । स्व स्वरूप जानने से, जगत जाल जाय ॥ २ ॥ दूध में घृत देखले, खाने से स्वाद आय । विश्व माहीं विश्वनाथ, सब में रह्यो छाय ॥ २ ॥ अपनी आँख मंदता से, चंद दो दिखाय। हाय हाय हाय कष्ट, इसकी भूल खाय ॥ ३ ॥ गुप्त रूप है अनूप, उसको लेवे पाय । ध्रुव उसी आनन्द में चित, दीजिये ठहराय ॥४॥

१३९ दादरा

जाने बिना स्वरूप के, नाहीं आराम है, पाया है जन्म मनुष्य तो, कर येही काम है ॥ टेक ॥ समझा है सत्य तेने, झूंठा मुकाम है। आखिर फ़ना ये होयगा, खलकत तमाम है ॥ १ ॥ कर विचार देखिये, जो मोक्ष धाम है। दिन व्यतीत हो गये, अब कुछ कयाम है ॥ २ ॥ ख्याल जाल का बना, यह चमक चाम है। फंस के अविद्या फंद में, बनता गुलाम है ॥ ३ ॥ आनन्द गुप्त हो रहा, अनाम नाम है। ध्रुवस्वयं स्वरूप में न लगता दाम है ॥ ४ ॥

१४० दादरा

मेहमान सुबह शाम का, किस ख्याल खेले में। मान कही मान कुछ, सामान तो ले ले ॥ टेक ॥ खाने को तुझे चाहिये, क्या

ज़ाके खायगा ॥ बन पड़े सो हाथ से, कुछ दान तो देले ॥ १ ॥ अपना जिसे तू मानता, स्वप्ना सा ज़माना । संत वेद कहे तुझे, उनकी तो मानले ॥ २ ॥ कर्म के वस फंसता है, घुसता खुशी से जा ॥ चलते समय में सामने, सब कर से कर मले ॥ ३ ॥ ध्यान धर उस राम का, तेरी खबर जो ले । ध्रुव गुप्त और ना बने तो, नाम तो ले ले ॥ ४ ॥

१४१ दादरा

चल उठ संभल के देख, क्या बाकी हिसाब है । लेखा धनी जो लेवे, क्या देवे जवाब है ॥ टेक ॥ भूत का यह पूत, मूत से बना हुआ । अपना इसे तू मानता, ये ही अजीब है ॥ १ ॥ चमक दमक चांदनी, बिजली सी है छठा । बुड्ढा हुआ समझे नहीं, करता खिजाब है ॥ २ ॥ अकड़ मकड़ छोड़ो, जोड़ो नेह राम से । यह प्रपंच ऐसा है, जैसा वो ख्वाब है ॥ ३ ॥ मनको ले तन से चलो, सतगुरु शरण मेजा । ध्रुव गुप्त मिलै मुक्त हो, येही सवाब है ॥४॥

१४२ कव्वाली और प्रकार की

जब अपने आपको जान्या सही, सब दीन दुनी पल माहीं बही । जब आपहि आप विराज रहा, तब और किसी का तो खौफ नहीं ॥ टेक ॥ जब माया अविद्या का पाप कटा, तब ईश्वर जीव का भेद मिटा । सब करता किरिया कर्म छुटा, कहीं करना तो हुआ सफर ही नहीं ॥ १ ॥ अष्टांग न योग समाधि करें, नहीं राम

रहीम का ध्यान धरे। नहीं तसवी माला से जाप करे, मम रूप अक्रिय में क्रिया नहीं ॥ २ ॥ सब द्वैत अद्वैत मिठा झगड़ा, अपने में बना न कछू बिगड़ा ॥ भ्रम भेद का डार दिया पगडा, सब वेद किताब की बात वही ॥ ३ ॥ नहीं सूक्ष्म स्थूल अरु मूल नहीं, उस गुप्त गली में तो भूल नहीं। वहाँ पुन्य अरु पाप की शूल नहीं, तहां एक अरु दो का गम्य नहीं ॥ ४ ॥

१४३ कव्वाली

मुझे निद्रा लगी जब सूता परा, उस स्वपने में कोस हज़ारों फिरा। जब जागि उठा तब देखन लगा, कहिं आया गया न वहां ही परा ॥ टेक ॥ जैसे चलते दिशा का भर्म हो जाय, जानो पूरब तजकर पश्चिम जाय। जब जानि परी तब क्या विस्माय, जहाँ जाना बहाँ में न भूलजरा ॥ १ ॥ कोई वार कहे कोइ पार कहे, कोइ नदी कहे कोइ धार कहे। कोइ बीच कहे कोइ किनार कहे, बकि बकि कर वृथा ही मूढ़ मरा ॥ २ ॥ कोइ देश कहे परदेश कहे, कोई कोइ शेष कहे, कोई शिबजी कहे कोई महेश कहे, नामों का भेद कोई जीव बाकी कहे है वस्तु खरा ॥ ३ ॥ तैसे आतम एक ही नाम घंने, कहै कोइ ब्रह्म भने। सब भेद उपाधि कृत ही बने, सो न आता न जाता न जन्मा मरा ॥ ४ ॥

१४४ कव्वाली

जैसे अन्धकार में रज्जू परी, तिसे देख अहो का भरम हुआ। जब दीपक लेकर देख लई, तब रज्जु की रज्जु ही सर्प गया ॥ टेक ॥

तैसे आतम अकरता शुद्ध सदा, अज्ञान से मानत करता जुदा, गुरु वेद से कर्तारु भेद छिद्या, तब एक अद्वैत न जन्मा मुथा ॥ १ ॥ जैसे सीपी में रूपा प्रकाशत है, तैसे आतम में जग भासत है। अधिष्ठान ज्ञात ते नाशत है, सो तीनों ही काल में झूंठा कहा ॥२॥ जैसे नाभि कमल कस्तूरी अहे, यह मूरख मिरगा दूर लहे। तैसे आपही चेतन शुद्ध यहे, जाने खोजि रहा सोतो नाहिं खुया ॥ ३ ॥ जिस आनन्द की तुहि चाह हुई, वह गुप्तानंद तुह आप सही, तेंरेते बिना लवलेश नहीं, यद वेद बिचारे ने टेरि कह्या ॥ ४ ॥

१४५ क़व्वाली

हम चारिउ पुकारि पुकारी कहें, तिस पर भी समझत मूढ़ जुदा। युग युग मन्वन्तर कल्प कल्प, कहते आवें हम एक सदा ॥ टेक ॥ नहीं त्यागे करम सदा करता। तिनके बसि व्हे जनमे मरता ॥ तिस बोझे को सिर पर धरता। फिरता कर्मों की लाद लद्या ॥ १ ॥ हमने बहुतहि समझाय लिया। तुह पावेगा वैसाही किया ॥ इन कामादिक को खाय लिया। समझै नहिं मस्त वैसाखी गधा ॥ २ ॥ हम तत्त्वमसि से आदि कहे। जानें खोजि लिये ताके पाप दहे ॥ सो भवसागर में नाहिं बहे। जाने जाने तत्त्वं दोनों पदा ॥ ३ ॥ जिन माया अविद्या को दूरि किया। सब धर्म तिनोंका चूर किया। इस वाच्य अरथ को धूर किया। पाया गुप्त लक्ष तब हुये मुदा ॥ ४ ॥

१४६ क़व्वाली

जिन आतम तत्त्व विचार लियो। तिन और विचार कियो न कियो ॥ जो जीवन मुक्त भये जग में वोह बहुते काल जियो न जियो ॥ टेक ॥ झूंठे धन हेत उपाय किया। चलती वर पैसा न एक लिया, जिन आतम धन को त्याग दिया। तो लियाकि लियाकि लिया के लिया ॥ १ ॥ धन दान किया बड़ा मान लिया। ईश्वर का नाम कभी न लिया ॥ जो कर्म किया सह काम किया। तो किया कि किया कि किया के किया ॥ २ ॥ पिवे गांजा चरस और भांग कहीं। कहीं पीवे शरावरु दूध दही ॥ जब प्याला अमीरस नाहीं पिया। तो पिया के पिया के पिया के पिया ॥३॥ कभी स्याल हुया कभी शेर हुया। यज्ञादिक करकर देव हुआ ॥ मानुष तन पाकर फेरि मुया। तो हुया कि हुया कि हुया के हुया ॥ ४ ॥ कभी नीच कर्म करि गधा हुया। योगादिक करकर सिद्ध हुया ॥ नर का तन पाकर फेर मुया। तो मुया के मुया के मुया के मुया ॥ ५ ॥ तन तेल फुलेल लगाय लिया। कपड़े तन धोकर पाक हुया ॥ नहिं अन्तःकरन को साफ किया। तो धोया के धोया के धोया के धोया ॥ ६ ॥ जब धाम तजा धन माल खोया। डर डारि सभी वन में सोया ॥ वह मूल अज्ञान नहीं खोया। तो खोया के खोया के खोया के खोया ॥ ७ ॥ जब पलंग नेवाड़ पै शयन किया तकियारु बिछौना खूब दिया ॥ वह गुप्त गलीचा नाहिं किया। तो सोया के सोया के सोया के सोया ॥ ८ ॥

दोहा—

करम पराये आप मे, मानत सोइ अज्ञान ।
जिसके हैं तिसके लखैं, सोई ज्ञानी जान ॥
ज्ञान उसी को कहत हैं, सुनियो करके कान ।
जैसी होवे वस्तु जो, तैसी लेवे जान ॥
जिन पकड़्या है मूल को, शाखा तजी अनेक ।
लाभ बहुत थोड़ा सरम, करिके देख विवेक ॥
त्याग किया जिन एक का, वस्तू गही अपार ।
ताको एक अनेक नहिं, चाहे जीवो वरस हजार ॥

१४७ क़व्वाली (और प्रकार की)

मजा जग लेते हैं वोही यार, जो हरि नाम कमाने वाले ॥टेक॥ दया करि देते द्रव्य लुटाय, संग दुरजन का मन से हटाय । संग हरिजन के वो चलिजाय, शुभ गुण ठाठ जमाने बाले ॥ १ ॥ करते कर्म करें निष्काम, चरन से जाते सन्त के धाम, देखते सबघट आतमराम, रंग हरिरंग रमाने वाले ॥ २ ॥ विश्व को देखैं स्वप्न समान, तन का त्याग किया अभिमान, न करते किसी जीव की हान, मान मद मोह नसाने वाले ॥ ३ ॥ चित्त से चिन्ता दीनी टार, आप खुश रहते हैं हरबार, गुप्त गोविंद जपै बारम्बार, ध्रुव निज रूप समाने वाले ॥ ४ ॥

१४८ क़व्वाली

शिव शिव हर हर को हरवार, हर भवपार लगाने वाले ॥टेक॥ शिव चिता भस्म है अंग, वाम कर हैं गौरा अरधंग । भालपै चंद

शीश पर गंग, भूषण व्याल हैं काले काले ॥ १ ॥ डमरू तिरशूल लिये झोला, पहिने वांगवर सोला ॥ मुंड रुद्राक्ष सोहे भोला, कि भोला ध्यान लगानेवाले ॥ २ ॥ आपके फुरने का विस्तार, उत्पत्ति पालन और संहार ॥ करता बिनु करता करतार, पीभंग भर्म भगाने वाले ॥ ३ ॥ गुप्त गिरिजापति गिरिजा साथ, बैठे ईश बिश्ब के नाथ ॥ जिनके सुमिरन से अघजात, ध्रू दे दर्श नंदीगन वाले ॥ ४ ॥

१४९ क़व्वाली

काशी विश्वेश्वर दातार, दाता ज्ञान के देने वाले ॥ टेक ॥ शिव अविनाशी तन में, परकाशत सब के मन में ॥ वही चीटी वही जन में, संग शक्ती के रहने वाले ॥ १ ॥ शिव सर्व रूप होके, अंतर वाहर सब देखे ॥ दर्शन भक्तों को देके, पाती विल्व के लेने बाले ॥ २ ॥ सत् चित आनन्द मायापार, माया कल्पित यह संसार ॥ योगियों का जो तत्व विचार, नौका भक्त की खेने वाले ॥ ३ ॥ अंतर गुप्त ध्यान धारे, शिव संकल्प सभी जारे ॥ केवल मोक्ष मूर्तिवारे । ध्रूमुख आपहि कहने वाले ॥ ४ ॥

१५० क़व्वाली

बैठे शिव सरूप हो आप, मुक्ती मोज के लेने वाले ॥टेक॥ संग में शान्ति मुदिता नार, चेतन बोध रहे हर वार ॥ संसृति मूल दिया जिन डार, वानी सत्य कि कहने वाले ॥ १ ॥ जिनने द्वैत किया सब दूर, व्यापक ब्रह्म लखा भरपूर ॥ कीना करता

मति का चूर। दानी ज्ञान के देने वाले ॥ २ ॥ पंच-भूत तीन-गुन माहिं, किसी से राग द्वेष कुछ नाहिं ॥ सम दृष्टि सब के माहिं, तीनों ताप मिटाने वाले ॥ ३ ॥ ऐसे आप तिरे तारे, सब से मिले रहें न्यारे ॥ आपही गुप्त प्रगट सारे, ध्रू निज ध्यान लगाने वाले ॥ ४ ॥

१५१ क़व्वाली

क्या कहें कही ना जाय, रचना अजब रचाने वाले ॥टेक॥ कीना सृष्टि का विस्तार, जिसका नहीं बार नहीं पार, जिसमें डूब रहे नर नार, तेरे सब से ढंग निराले ॥ १ ॥ तैने ऐसा बनाया ख्याल, जिसके परदे अती कमाल ॥ उसमें कुछ ना रहे संभाल, भूले चतुर कहाने वाले ॥ २ ॥ कुछ है नाहीं बतलाय, बिन रूप रूप दिखलाय ॥ सचमान सभी भरमाय, बिन बंध लगा दिये ताले ॥ ३ ॥ कोई छाया गहने जाय, वो हाथ कभी ना आय ॥ ध्रू खुद ही समझ रहजाय, यों गुप्त प्रगट भ्रम डाले ॥ ४ ॥

१५२ क़व्वाली

पाय के नर तन ऋतू वसंत, फाग खेलत हैं खेलन वाले ॥ टेक ॥ उदय हुये पूरन पिछले भाग, जासे उपजा है वैराग ॥ किया है सभी जगत् का त्याग, राग अरु द्वेष नशानें वाले ॥ १ ॥ उपजा स्वयं स्वरूप का ज्ञान, यातें दूरि हुवा अज्ञान ॥ छुटे हैं सभी मोह मद मान, खुले अज्ञान बज्र के ताले ॥ २ ॥ रहते ब्रह्मानन्द आनन्द, कटै हैं सभी कर्म के फंद ॥ खिल रहे

पूरम जैसे चंद, दाग सब धोये काले काले ॥ ३ ॥ गुप्त में रहते हैं गर गाप, जिसमें नहीं जगत का पाप ॥ सदा पूरन हैं आपहि आप, आप मद पी हो गये मतबाले ॥ ४ ॥

१५३ क़व्वाली

शुभ कर्म करो निष्काम, राम भजि उतरो भव पारा ॥टेक॥ जिनों को सुमिरा हरि का नाम, उनों के सब सिध हो गये काम॥ लग्या नहिं कौड़ी एक छदाम, छूटि गया सभी कर्म का गारा ॥१॥ जगत् में पापी तिरे अनेक, लेकर राम नाम की टेक ॥ जिनों को नहिं धारा कोई भेख, नाम नौका चढ़ि उतरे धारा ॥ २ ॥ ररा सब माहीं रमता, ममाकर सब में ममता ॥ जब भाव उदय हो समता, अपने चित्त में करो विचारा ॥ ३ ॥ गुप्त प्रगट में एकहि जान, सीखले गुप्त गुरु से ज्ञान ॥ अब तो मत ना रहे अजान, मान मद तजिदो सभी विकारा ॥ ४ ॥

१५४ क़व्वाली

भूलि के सत् चित्त आनन्द रूप, पड़ा है जन्म मरण के कूप ॥ टेक ॥ कहत हों तोसों सबही हाल, भर्म का टूटि छाय सव जाल । जरा टुक सुनिये करके ख्याल, तुहीं इस काया माहीं भूप ॥ १ ॥ स्थूल सूक्ष्म जेता विस्तार, सभी रहता तेरे आधार ॥ इनों का आपस में व्यभिचार, तुंही तो व्यापि रहा अनुसूत ॥ २ ॥ जन्मता मरता है स्थूल, आप में मानत है यही भूल ॥ इसी से

सहता है बहु शूल, नहीं तुझ में है छाया धूप ॥ ३ ॥ तुही है गुप्त रूप निज सार, देह तीनों को जानि विकार ॥ पटक अब इनका शिरते भार, जीत अब क्यों हारत है जूप ॥ ४ ॥

१५५ तरज तान

निरभै हो डर को डारि के, हंस खेल खेल खेल ॥ टेक ॥ अब दुष्ट संग को तजना, यक नाम हरि का भजना ॥ कोई मिले आपना सजना, तिस मेली से कर मेल मेल मेल ॥ १ ॥ इस जगत् जाल को डारो, निज अपना जन्म सुधारो ॥ अब मूल अविद्या हारो । उर मलो ज्ञान का तेल तेल तेल ॥ २ ॥ तन मन से दृष्टि उठावो । निज एक ब्रह्म में लावो ॥ तब रूप आपना पावो । जन्मादिक दुख को पेल पेल पेल ॥ ३ ॥ यह गुप्तज्ञान गहि राखो ॥ अब स्वाद इसी का चाखो ॥ वायक से वानी भाखो । निज आतम सुख को झेल झेल झेल ॥ ४ ॥

१५६ तरज तान

इस नर तन को पाय के । कर काज काज काज ॥ टेक ॥ अब काज यही कर लीजे । ईश्वर में चित्त को दीजे ॥ कल परसों पर नहिं कीजे । शुभ कारज को कर आज आज आज ॥ १ ॥ बहु योनी में फिरि आया । यह नर तन दुरलभ पाया ॥ झूठी है सब ही माया । अब साज भजन का साज साज साज ॥ २ ॥ जिसको मानत है अपना । यह जगत रैनि का स्वपना ॥ झूठी है सब ही रचना । इस झूठे जग से भाज भाज भाज ॥ ३ ॥ निज

गुप्तरूप है सच्चा। और सब ही ज़ानो कच्चा॥ स्वपने के बच्ची बच्चा। इस मोह जाल को त्याज त्याज त्याज॥ ४॥

१५७ तरज तान

दिल में वैराग जँचाय। भजिले राम राम राम॥ टेक॥ तन की ममता तजि दीजे। निष्काम कर्म को कीजे॥ तूं भक्ति सुधारस पीजे। टुक चित अपने को थाम थाम थाम॥ १॥ करता हंकार न करिये। निज शुद्धरूप उर धरिये॥ सब पाप इसी से जरिये। तूं पावेगा सुख धाम धाम धाम॥२॥ निश्चय में राम ठहरावो। मन हर्ष शोक मत लावो॥ सब द्वैत भाव छिटकावो। ना लागे इस में दाम दाम दाम॥ ३॥ यों निज जन्म सुधारो। अपने को भव से तारो॥ लख गुप्त गर्भ को जारो। ध्रू कर लीजे यह काम काम काम॥४॥

१५८ तरज तान

क्यों फंसै विषय की जाल। कहना मान मान मान॥टेक॥ ये विषय सदा दुख रूपा। तिनके संग से भव कूपा॥ यों संतमार कह रूका। मत विषय खाक को छान छान छान॥ १॥ यह जगत जाल है स्वपना। इस में नहिं कोई अपना॥ जैसा करना वैसा भरना। सुन कथा लगा कर कान कान कान॥ २॥ तन से सत संगति करना। मुख से हरि नाम सुमरना॥ मन निजानंद में धरना। प्रभूरूप जान जान जान॥ ३॥ जब गुप्त रूप को पावे। तब माया मल मिटि जावे॥ नहिं गर्भ वास में आवे। ध्रुव तीर लक्ष में तान तान तान॥ ४॥

१५९ तरज तान

सत गुरु ने मारा बान । शिष्य के तान तान तान ॥ टेक ॥ खैंची जब ज्ञान कमाना । फिर लाया शब्द निशाना ॥ सब बींधे मरम स्थाना । भया आप रूप का ज्ञान ज्ञान ज्ञान ॥ १ ॥ शिष्य घायल करके डारा फिर क्या करे वैद विचारा ॥ कोई मांस खाल नहिं फाड़ी । कोई घायल लेवे जान जान जान ॥ २ ॥ घायल को घायल जाने । दूजा कोइ नाहिं पिछाने ॥ जिस तन में लगी कटारी । टुक धरि के देखो ध्यान ध्यान ध्यान ॥ ३ ॥ जब गुप्त रूप को पावे । सब घाव दरद मिटि जावे ॥ शिष्य अपने मुख से बोला । छुटिगई चौरासी खान खान खान ॥ ४ ॥

१६० तरज तान

तुझ में ना मैल पाप । तुह तो साफ साफ साफ ॥ टेक ॥ अब भाव मिटावो दूजा । किसकी करे सेवा पूजा ॥ जब एक नहिं रूप सूझा फिर किसका करता जाप जाप जाप ॥ १ ॥ स्वप्ने में देखै जैसा । इसको भी जानों तैसा ॥ कोई कोड़ी लगे न पैसा ॥ लख तीनों काम में आप आप आप ॥ २ ॥ मन रचना झूठी रचना । काहे को मानत अपना ॥ पर धर्म आप क्यों रखना । इससे नहिं लागे पाप पाप पाप ॥ ३ ॥ जब गुप्त गली में आवे ॥ तब गुप्त भेद को पावे । सब भर्भ कर्म जलि जावे । ध्रुव करै कौन का ताप ताप ताप ॥ ४ ॥

१६१ तरज तान

सत गुरु के शरन जायके ॥ लखि सैन सैन सैन ॥ टेक ॥ बचनों में श्रद्धा कीजे। सरवन के रस को पीजे ॥ फिर मनन उसी का कीजे। तब पावेगा सुख चैन चैन चैन ॥ १ ॥ गुरु करै ब्रह्म परकासा। जब होय अविद्या नासा ॥ तब मिटै जीव का सांसा रस प्याला अमृत बैन बैन बैन ॥ २ ॥ घट अंदर हुआ उजाला। खुलि गया भरम का ताला ॥ दरियाब मिल्या जिमि नाला। जैसे जल माहीं फेन फेन फेन ॥ ३ ॥ जब गुप्त रूप को जान्या। सब भेद भर्म को भाना ॥ तब लाग्या लक्ष निशाना। ध्रुव विषय करै नहिं नैन नैन नैन ॥ ४ ॥

१६२ कका बतीसी वैत सेहरफी, कर्म नाशक

(क) काल अरु कर्म नहिं आतमा में। टुक जागि के देख पड़ा क्या सोवे ॥ देश अरु काल लेश नाहिं। सदा एक अखंड क्यों खंड जोवे ॥ एक शुद्ध परकाश सरूप तेरा। फिर कर्म से कौन का मैल धोवे ॥ गुप्त निरबन्ध सम्बन्ध नाहिं। इस कर्म के जाल क्यों फंसा रोवे ॥ १ ॥

दोहा—

कका जारो कर्म को, ज्ञान अग्नि के संग ॥
आतम में किरिया नहीं, पूरण शुद्धअसंग ॥

(ख) खोजि कर देख निज आतमा को। जामें कर्म अरु भर्म का लेश नाहीं ॥ नहीं पंच क्लेश की गंध जामें। सुख रूप पर-

काश लख आप ताहीं ॥ कोई जाग्रत स्वप्न नहिं नींद तामें । नहिं विश्व तैजसव प्राज्ञ आहीं । गुप्तानन्द आनन्द ध्रू अचल है तुह। जामें चौथि अरु पंचमी नाहिं काहीं ॥ २ ॥

दोहा—

खखा खोज्या आपको, तीन देह के माहिं ॥
कर्ता किरिया कर्म सब, कुछ भी पाया नाहिं ॥

(ग) ज्ञान परताप पावे आप ताहि । नहिं और प्रकार यह फंध छूटे ॥ चहै कर्म उपासना लाख कीजै । जहाँ जायगा तहां अज्ञान कूटे ॥ यही ज्ञान स्वरूप पिछानियोजी जब द्वैत अद्वैत का भर्म टूटे ॥ गुप्त रूप है आप अनूप प्यारे । ध्रुव पाय के वखत यह मौज लूटे ॥ ३ ॥

दोहा—

गगा गुरु भव तरन में, और न कोई उपाव ॥
छांडो किरिया कीचको, यक चढ़ो ज्ञान की नाव ॥

(घ) खोजि घर माहिं क्यो बाहर जावे, गुरु वेद से यार तहकीक कीजे । सेवत कीजिये जाय के आरिफों की । मन वचन अरु देह से प्रीति कीजे । नैन से वैन से सैन से परखि कर । अपने चित्त में जानि लीजै । है गुप्त प्रकट तुही एक व्यापक सदा । घ्रूजानि के रूपअज्ञान छीटे ॥ ४ ॥

दोहा—

घघा घर घर में रमा, सत चित आनंद रूप ॥
रंक बन्या भरमत फिरे, तुहि भूपन का भूप ॥

(ङ) गंध अरु रस नहीं रूप जामें। स्पर्श अरु शब्द क्यों पाइयेजी ॥ सोतो शुद्ध सरूप नहीं गंध माया। महत्तत्व हंकार क्यों गाइयेजी ॥ जामें जीव अरु ईश की ठौर नाहीं। सोइ आप में आप समाइये जी ॥ गुप्त ज्ञान से देखि जब भेद जाने। ध्रुव अचलहै अचल को पाइयेजी ॥ ५ ॥

दोहा—

ङगालिब में गैव है, दीखे सुने अपार ॥
भीतर बाहर एक रस, लिपता नहीं विकार ॥

(च) चमक तेरी का पाय के जी, यह चमकता पिंड ब्रह्माण्ड सारा ॥ जेसे सूर परकाश तें किरन बहु भासती, तिस सूरते नहीं कछु किरन न्यारा ॥ सब जोतिका जोति है आतमा तुह। तुहीं जानता चाँदना अंधियारा ॥ नहीं गैव है गुप्त परकास सब का करे, ध्रुवदेखिये आप मिल्या नहीं न्यारा ॥ ६ ॥

दोहा—

चचा चामरु हाड़ को, करता है परकास ॥
दमक पड़ी कूटस्थ की, जिसे कहे जीव आभास ॥

(छ) छार में लाल मिलि रहा प्यारे, तिस छानि के लाल को काढ़ि लीजे। अब गुरु वेद की करो छांणि, घी छानने वाली को लाय दीजे ॥ पंच कोष वपु तीन ये छार सब ही लख, शुद्ध रूप निज आतमा लाल लीजे ॥ सोइ गुप्त अतोल नहीं मोल जाका, ध्रुव कौन बजार मोल कीजे ॥ ७ ॥

दोहा—

छछा छांडि असार को, सार लखो निज रूप ॥
पंच कोष त्रय देह में, तुही व्यापक ब्रह्म सरूप ॥

(ज) जानि के आपने आप को जी, सब जाप अरु ताप का भर्म भाजे ॥ गुरु अरु वेद सब खंडित हुया, जहाँ एक अद्वैत का ढोल वाजे । फिर ढोल अरु बाज सब गाज थकि जात हैं, नहीं द्वैत अद्वैत की फौज साजै ॥ है गुप्त गलतान नहिं मान अमान को कहु । ध्रूअरु अचल तहाँ सभी लाजे ॥ ८ ॥

दोहा—

जजा जोई जगत गुरु, जग से रहे उदास ॥
गुरु शिष्यभाव मिटायके, सब जाने चिद आकास ॥

(झ) झगड़ा सकल चुकाय के जी, हुये अचल निहताप सुख संग सोया ॥ उस मौज की फौज से शत्रु सब जय किये, वैर अरु भाव का मूल खोया ॥ जान्या आपना आष सब ठौर माहीं, तब राग अरु द्वेष का मैल धोया ॥ मैंही गुप्त प्रगट निरबंध बंधन नहीं, मुक्त ध्रूबंध अरु मुक्त से हूया ॥ ९ ॥

दोहा—

झझा झोली पेट की, नहीं सेठ से काम ॥
राव रंक नहिं देखते, चहै होय राम का राम ॥

(ञ) याद से वाद उठाय दीजै, निरवाद में स्वाद को पाइये जी ॥ कटे आस की फांस हुलास होवे, फेर हंसिये खेलिये गाइये

जी ॥ चहे रंग राग सुन बाग माहीं, चहे राग वेराग को त्यागिये जी ॥ जब जानिया गुप्त तब मुक्त जीवन हुये, ध्रू खेल या खेलिना लीजियेजी ॥ १० ॥

दोहा—

ञञा याके बीच में, तुँह तो रहे असंग ॥
जैसे काली कामली, चढ़े न दूजा रंग ॥

(ट) टारिके मूल अज्ञान सोये, फेरि तू ल से कौनसा काज बिगड़े ॥ जैसे स्वप्न मँझार भये शत्रु अरु यार, खुलै आंख तब मित्र कहाँ शत्रु झगड़े ॥ जैसे भीति के शेर से भीति नहीं होत है, नहीं चित्र की आगि से तिमिर निवड़े ॥ गुप्त में जगत अरु जगत में गुप्त है, ध्रूजगत के माहिं फेरि कौन रबड़े ॥ ११ ॥

दोहा—

टटा टाटी भरम की, सतगुरु दई उढ़ाय ॥
दरसाया निज आतमा, पूरण अचल सुझाय ॥

(ठ) ठीक ठिकाने को पाय के जी, फेरि उलटि अरु पलटि के नहीं आना ॥ उस धाम के गाम में हाड़ अरु चाम नाहीं, पैर से गमन कर नहीं जाना ॥ घट फूटि के घट आकास जैसे, महाकाश में आगवन गवन भाना ॥ एक गुप्त सरूप अनूप वह धाम लखि ध्रुव बाच्य को त्यागि के लक्ष जाना ॥ १२ ॥

दोहा—

ठठा ठाकुर जगत में, जा ठाठे निज रूप ॥
लक्ष राखि निज आपको, वाच्य फटकिदयासूप ॥

(ड) डारि के मूल अज्ञान को जी, जिस मूल को जानि लीजै॥ जिस मूल में डार अरु फूल सव ही रहें, सो सदा अक्षर है नाहिं छीजै ॥ सोतो आपना आप है जाप किसका करै, तोडि कुफर अज्ञान यह राह लीजै ॥ इस गुप्त गलियार में जगत नाहीं, ध्रुव जानिके मूल फेरि कहा कीजै ॥ १३ ॥

दोहा—

डडा सब डर डारिके, निरभय होकर सोय ॥
मूल तूल का मूल निज, लिया आपको जोय ॥

(ढ) ढारि के पास जग चौपटे पे, गुण तीन से आपको जुदा करना ॥ सब जन्म अरु मरन गुण तीन में हैं, तोमें कर्म अरु बन्ध नहीं मोक्ष फुरना । गुण तीन के पास को ढाल दीजै, अब गेरि पोहबार तहीं जन्म मरना ॥ है गुप्त सव ठोर कहां जाये दौरि के, ध्रूज्ञान अरु ध्यान को कहा करना ॥ १४ ॥

दोहा—

ढढा ढोल बजाय के, कहे वेद दिन रात ॥
गुण क्रिया सम्बन्ध से, आतम सदा अजात ॥

(ण) अण अरु महत् नहीं आतमा में तिसे अणु महत् यह वेद गावे ॥ तिस वेद के भेद को समझि प्यारे, तिसे जानि सूक्ष्म यह सैन लावे ॥ फेरि एक अरु दोय नहीं घना थोरा, नहीं थाप अथाप को बतलावे ॥ है गुप्त गुलजार कछु पार नाहीं ध्रूनेति कहि आपही नित्त गावे ॥ १५ ॥

दोहा—

णणा लेन देन न जाम में, खान पान नहिं कोय ॥
फेन तरंग अरु वुदबुदा, भिन्न नहीं कछु तोय ॥

(त) त्यागि के राग को जागि देखो, जामे दोष अरु रोष को लेश नाहीं। सो तुह आप निरवाण नहीं वाण माया, टुक समझि के देखिये आप ताहीं ॥ और लाख उपाव नहीं पाक होवे, तोमें शुद्ध अशुद्ध नहीं मैल काही ॥ तुही गुप्त परकास फेरि आस किसकी करै, ध्रुवज्ञान अरु ध्यान नहीं परे छांहों ॥ १६ ॥

दोहा—

तता तोड़ी जगत से, नाता सभी बहाय ॥
तुही एक भरपूर है, दूजा भाव उठाय ॥

(थ) थाप अथप नहीं आतमा में, कोई जाप अरु ताप का नहीं रासा ॥ पुन्य अरु पाप नहीं साफ असाफ नहीं, नहीं राग अरु दोष का पड़ा फासा ॥ उल्लू लाख और हजार वेकार कल्पै, नहीं सूर में अन्ध अरु उजियासा ॥ गुप्त निरबयव में अवयव का लेश ना, ध्रू खोजि के देख होवे हुलासा ॥ १७ ॥

दोहा—

थथा थाके उरे में, मन बुद्धि चित हंकार ॥
पैंड़ी पंथ न पग टिके, निराकार आकार ॥

(द) दूरि तें दूरि कह आतमा को, सो तो आपना नूर नहीं दूर नेरा ॥ जैसे उल्लू की आंखी के दोष बल से, परकाशता सूर

कहै ते अंधेरा ॥ तैसे मल विक्षेप अंतर पड़ा जीव के, सोकाल अरु कर्म स्वभाव घेरा ॥ है आप अपार नहीं पार वारा जिसे, ध्रूगुप्त ने पिंड ब्रह्मांड हेरा ॥ १८ ॥

दोहा—

ददा दिल के बीच में, उमंगि रहा दरियाव ॥
मन मलाह चलावता, चलती बुद्धि नाव ॥

(ध) धारना ध्यान को दूरि कीजै, तुही एक अखंड विराजता है। यम नियम आसन क्यों प्राण खेंचे, करे नेती अरु धोती नहीं लाजता है। आतम नित प्राप्त सब रहित क्रिया, निरवयव में कर्म क्यों साजता है। निज गुप्त में योग का रोग लावे, ध्रु आप असंग क्यों भाजता है ॥ १९ ॥

दोहा—

धधा धन घर में घना, समझत नाहीं मूढ़ ॥
योग कर्म में ढूंढता, आतम रहे अगूढ़ ॥

(न) नाम अरु रूप नहीं आतमा में, फेरि अस्ती अरु भाती को कहा कहिये ॥ इस रमज को समझि समझावते हैं, आगे अंस तरु नाम कोई नहीं पाइये ॥ कोई वाच्य अरु लक्ष नहीं दक्ष जामें सो तुही लक्ष का लक्ष फेरि कहा चहिये ॥ है गुप्त सरुप सब ठौर व्यापक, ध्रु ढूंढने वास्ते कहां जइये ॥ २० ॥

दोहा—

नना न्यारा माहिं नहीं, व्यापक ब्रह्म सरूप ॥
जो समझै इस रमज को, तेन परै भव कूप ॥

(प) पायके आपने आपको जी, और पावने योग्य कोई नहीं दूजा ॥ ज्ञान अरु ध्यान फेर कौन का कीजिये, धूप अरु दीप करे कौन पूजा ॥ वह एक अखंड नहीं खंड जामें, जब पिंड ब्रह्मंड में एक सूझा ॥ गुप्त ज्ञान को पाय मस्तान हुवे, ध्रूजानि यह मर्म सब कर्म छीजा ॥ २१ ॥

दोहा—

पपा पाप न पुन्य है, निज आतम के माहिं ॥
लाभ हानि जामें नहीं, अगम अगोचर ठाहिं ॥

(फ) फेर है आपकी भूल माहीं, तिस भूल के मूल का खोज करना ॥ भूल निज आपको शूल बहुते सहे, याते लोक परलोक में गमन करना ॥ करै पुन्य अरु पाप को दुःख सुख भोगता, फेरि गर्भ की अग्नि के माहि जरना ॥ तजे कर्म हंकार उद्धार होवे, जपे गुप्त गोविन्द ध्रुव होय तरना ॥ २२ ॥

दोहा—

फफा फारिग होत है, कर्म करै निष्काम ॥
छूटे मल विक्षेप सब, दिल में होय अराम ॥

(ब) ब्रम्हसरूप निज आतमा है, तिस आतमा से नहीं ब्रम्ह न्यारा ॥ मिले नीर अरु क्षीर कोई धीर जाने, हैं एक में एक सब भेद जारा ॥ घटाकाश महाकाश का टूक नाहिं; घटाकाश से नहीं महाकाश भारा वहीं गुप्त प्रकट निज आपना आप है ध्रुव भेद को छेद हल का न भारा ॥ २३ ॥

दोहा—

बबा बाहर अंतर में, ब्रह्म आतमा एक ॥
जैसे फूटै कांच के, टूक टूक में देख ॥

(भ) भर्म के भार को तारियेजी, तिस भार को धार बड़े श्रम पाया ॥ तीन देह अरु पंच ही कोष ये भार है, माना आपको पिंड अरु प्राण काया ॥ तुह तो शुद्ध सरूप परकाश सबका करे, इस वहम में अहं को क्यों बढ़ाया ॥ गुप्त में मुक्ती अरु जगत का मूल नहीं ध्रूबंध का मूल अज्ञान ढाया ॥ २४ ॥

दोहा—

भभा भार उतार के, बैठो सतसंग छाहिं ॥
पानी पियो विचार का, सर्म रहे कोई नाहिं ॥

(म) मान तरु तान के माहिं भूला, नहीं मान अरु तान का लेश कोई ॥ किसी भेष अरु मजहब की रेख जामें नहीं, ऐसा जानि निज रूप है आप सोई ॥ सो तुही सदा अरूप सरूप होय देखता, नहीं देखने हार सरूप होई ॥ जैसे गुप्त अपार दरियाव माहीं, ध्रू लहेर के कहर नहीं जाय तोई ॥ २५ ॥

दोहा—

ममा माया रूप है, दीखे सुनिये सोय ॥
तुह द्दष्टा न्यारा रहे, द्दस्यरूप नहिं होय ॥

(य) यार वही दिलदार मेरा, जो सार असार बतलावता है ॥ इस द्दस्य असार को दूरि करके, निज आप द्दष्टा बतलावता है ॥

सब जन्म अरु कर्म गुण दोष जेते, इनसे रहित निज रूप लखावता है । ध्रुव ज्ञान अरु ज्ञान की युक्ति सबही कहे, छूटा चाम गुप्त गांम बसावता है ॥ २६ ॥

दोहा—

यथा यार लखावते, निज आतम का धाम ॥
छोढ़ि चाम के राग को, करो धाम विसराम ॥

(र) रमा सब ठौर में सर्व सोई, तिस सर्व से नहीं जड़ वर्ग न्यारा ॥ वैसे दूध में घृत अरु तिलों में तेल है, जल पिंड से नहीं कछु जुदा खारा ॥ रंक अरु राव फकीर मीर में, ऊँच अरु नीच में एक सारा ॥ गुप्त प्रगट में ध्रु अरु अचल में, नहिं आप से मिला कोई जुदा पारा ॥ २७ ॥

दोहा—

ररा रंग लागे नहीं । रहता सदा असंग ॥
सब विकार से रहित है, उत्पति पालन भंग ॥

(ल) लक्ष-अलक्ष कोई दक्ष जाने, निज आपने माहिं नहिं पावता है ॥ स्थान अरु पान नित ध्यान धरता, नहिं सोवता जागता धावता है ॥ कोई जीव अरु ईश अज्ञान नाहीं, जब ज्ञान शम्शेर हलावता है ॥ ऐसा गुप्त निज आप नहीं माप अमाप ध्रुव जाप अजाप नहिं पावता है ॥ २८ ॥

दोहा—

लला लाख किरोड़ की, पल में होवे राख ॥
निज आतम अज्ञान तें, करै झूट परलाप ॥

(व) वही है तुही टुक सही कीजै, जैसे स्वप्न के माहिं नहिं और दूजा ॥ स्वप्न के देव की सेव बहु करते हैं, खुली आंखि जब देव और नहीं सूझा ॥ तैसे आप में पुन्य अरु पाप को कल्पिकर बना देव का दास करे सेव पूजा ॥ उस गुप्त गलियार में देव पूजा नहीं ध्रुव एक आप है कोई नाहिं बूझा ॥ २९ ॥

दोहा—

व वा वाही को धन्य है, देव लखे निज आप ॥
देवदास झगड़ा चुका, तब मिटा भेद का पाप ॥

(श) स्वप्न समान जहान सारा, नाना रंग अरूप होय भासता है ॥ कहीं चतुर मुख होके रचे जगत् को, कहिं पाल संहार कर शासता है ॥ निज गुप्त सरूप अनूप माहीं, ध्रुव आपही रूप उजासता है ॥ ३० ॥

दोहा—

शशा सकल शरीर में, करैं आप परकाश ॥
ब्रह्मरूप कूटस्थ तुह, नहीं जीव आभास ॥

(ष) खान अरु पान के बीच माहीं, पड़ा सोवता आपको नाहिं जाने ॥ वाच्य अरु लक्ष की खबर नाहीं, तिस वाच्य के धर्म को आप माने । वाच्य अरु वाचक का धर्म तोमें नहीं, लक्ष तुही आप क्या ना पिछाने ॥ सो गुप्त चेतन है सार तूहीं, असार जड़ देह धुरू भर्म भाने ॥ ३१ ॥

दोहा—

षषा खाली मत रहो, भरो ब्रह्म निज खेप ॥
करि भक्ती कर्मानिष्काम हो, तब छूटे मलविक्षेप ॥

(स) सेर का साजकर स्याल क्यों होत है, उस काल का गाज पड़ि रहा भारी ॥ जँह स्याल का भाव तहँ काल का दाव है, मुख मारि चपेट बड़ी करै ख्वारी ॥ बल आपना हेर तुह शेर है केसरी, काल पींजरा तोड़ि करि मोक्ष त्यारी ॥ गुप्त आतमा ब्रह्म सरूप जानो, ध्रु जानि के काल शिर थाप मारी ॥ ३२ ॥

दोहा—

ससा सांई आप तुह, बनि रहा भूलमें जीव ॥
जब गुरु वेद वल पायके, समझ आपको सीव ॥

(ह) हेरिया आप तब ताप त्रय साफ होय, न्हाय ज्ञान के नीर अज्ञान धोया ॥ लोक अरु वेद ये मैल माया छुटा, निज शुद्ध सरूप मन तार पोया । तिस तार से सारका सार जान्या, निज सार को पाय असार खोया ॥ गुप्त में गुप्त अरु जगत सारा बसे, ध्रुआप में आप सुख संग सोया ॥ ३३ ॥

दोहा—

हहा हेय न ग्रहण है, नाकोइ काज अकाज ॥
लोक वेद अरु भेद नहीं, नाकोई लाज अलाज ॥

(क्ष) क्षोभ अरु लोभ अलोभ सारे, मृग नीर ज्यों धीर को भासता है ॥ सत रूप तो आपना आपहि है, मुझे सत्य से भर्म

उजासता है ॥ जाने भर्म को भर्म जब शर्म नहीं होत है, सब आपना आप हुलासता है ॥ गुप्त है ध्रू अरु ध्रू ही गुप्त है, प्रागदत्त होय आप निवासता है ॥ ३४ ॥

दोहा—

क्षक्षा छाया जगत में, व्यापक ब्रह्म सरूप ॥
उपमा दीजै कौनकी, जहं नहीं रंक नहिं भूप ॥

(त्र) तीनों ही ताप को साफ कीना, गुरु ज्ञान कुनैन जब घोरि प्याई ॥ जान्यो अचल निहताप फिर जाप किसका करें, सजीवनी मूरि यक घोटि खाई ॥ हर हाल में मस्त हर ख्याल में मस्त, हर चाल में मस्त तक मस्ती छाई ॥ है गुप्त निर्बंध नहीं मोक्ष सम्बन्ध कोई ध्रू ज्ञान अरु ध्यान की डाट ढाई ॥ ३५ ॥

दोहा—

त्रत्रा तीनों काल नहिं, नाहीं तीनों ताप ॥
तीन देह नहिं अवस्था, नहिं तीन जीव का पाप ॥

(ज्ञ) ज्ञान का ज्ञान अरु ध्यान का ध्यान है, जान जान जहान सारा ॥ जीव का जीव है सीव का सीव है, ब्रह्म का ब्रह्म कछु नाहि न्यारा ॥ आपना आप है पुन्य नहिं पाप है, जाप अजाप नहीं मधुर खारा ॥ गुप्त से गुप्त प्रगट से प्रगट, ध्रुव से ध्रुव चलता अपारा ॥ ३६ ॥

दोहा—

ज्ञज्ञा ज्ञान सरूप तें, नाहीं रूप अरूप ॥
सो तो अपना आप है, किसकी दीजै ऊप ॥

सोरठा—

ककका वर्ण बत्तीस, चाल सेहरफी बैतकी ॥
लिखे छन्द छत्तीस, पिखो सजन अति प्रीतियुत ॥

१६३ ग़ज़ल (हकीकी)

छोड़ सब मिलन की आसा, कहां पर मिलोगे जाई ॥ मिलन को कोई नहीं दूजा, बात यह समझले भाई ॥ टेक ॥ मिलन सब द्वैत माहीं है वहां पर द्वैत नहीं राई ॥ हमीं नहिं कहत हैं प्यारे, बात यह वेद ने गाई ॥ १ ॥ तुझे यह भर्म कर भासी, जो चित में है चपलताई ॥ क्रिय शक्ती नहीं जिसमें, ज्ञानशक्ती ही बतलाई ॥ २ ॥ करो टुक विचार बल का जोर, न पावे ठुंठ माहीं चोर ॥ समझ तुझ से नहीं कछु और, तेरा यह भर्म दुखदाई ॥ ३ ॥ छोड़ सब भर्म का आजार, तेरा है रूप अपरंपार ॥ समझले गुप्त की ये यार, तुझे ये सैन बतलाई ॥ ४ ॥

१६४ ग़ज़ल

स्वर्ग पाताल अन्तर में, यह कुछ आपहि निहारा है ॥ अर्ध औऊर्ध दश हूं दिशि, यह कुल मेरा पसारा है ॥ टेक ॥ मैं ही दो दीन में रहता, न मुझ से कुछ नियारा है ॥ मैं ही सब ठौर में व्यापक, नहीं कुछ वार पारा है ॥ १ ॥ मैं ही रचता हूँ कुल ब्रह्मांड, मैं ही करता हूँ संहारा ॥ मिल्या ज्यों दूध माहीं घी, सभी वह एक सारा है ॥ २ ॥ रच्या यह ख्याल मुझही को, सभी मेरे

अधारा है ॥ भरम में भूल मत प्यारे, सभी झूंठा बजारा है ॥३॥ मैं ही हूँ सत् चित् आनन्द रूप, यह कुल आलम जो धारा है ॥ गुप्त मम रूप में ऐसे, रज्जू से न सर्प न्यारा है ॥ ४ ॥

१६५ ग़ज़ल

बिना निज रूप के जाने नहीं आराम दारी है ॥ यतनकर आप को जानो, तभी छूटे बिमारी है ॥ टेक ॥ आपको मानता करता इसी से दुःख को धरता ॥ तभी फिर जन्मता मरता, भरम का फेर भारी है ॥ १ ॥ जीवकर आप को जाने, पड़े फेर कैद के खाने ॥ लग्या है अधो को जाने, भोगता बहुत ख्वारी है ॥२॥ बड्या अज्ञान का आजार, धन्या त्रय देह का सिर भार ॥ चाम में फँसि हुया चमार, चाह घर में चमारी है ॥ ३ ॥ लेवे सतसंगती की ओट, लगे किसी मुरशिद की चोट ॥ तभी सब दूर होवे खोट, रेख कर्मों की मारी है ॥ ४ ॥ हरी की भक्ती को धारे, नीच से ऊंच कर डारे ॥ पाप सब जन्म के जारे, होय शुद्ध ब्रह्मचारी है ॥ ५ ॥ सुने सत् गुरु के मुख से ज्ञान, रात दिन करे तिसी का ध्यान ॥ तभी छूटे सभी मद मान, अविद्या ठोंक जारी है ॥६॥ बजे जब ज्ञान के बाजे, काम अरु क्रोध सब भाजे ॥ शील संतोष आगाजे, ज्ञान की महिमा न्यारी है ॥ ७ ॥ मारी गुरु ज्ञान की गुप्ती, धरी है हाथ पर मुक्ती ॥ रही नहीं जनम की शक्ती, तभी सोवे सुखारो है ॥ ८ ॥

सोरठा—

जिन जान्या निज रूप, पार हुये भव सिंध से ॥
व्यापक ब्रह्म सरूप, छुटि गये यम फंद से ॥

१६६ ग़ज़ल

नहीं तकदीर के आगे, कोई तदबीर चलती है। करो चहे लाख चतुराई एक दिन मौत मिलती है ॥ टेक ॥ हुये बड़े सिद्ध अरु स्याने, काल वह दोनों की जाने । चोट लावे थे निशाने, मौत तिनको भी गलती है ॥ १ ॥ वैद धन्वंतरी होई, नहीं जड़ रोग की खोई । कर्म भुगते है सब कोई, ईश नीती न हिलती है ॥ २ ॥ हुये हैं जगत में औतार, दुःख तिनको सहे अपार । और टारे कौन नर नारि, कर्म की बेलि फलती है ॥ ३ ॥ जिनों को काल वशि कीना, कैद अपनी में कर लीना । धोखा तिन को भी दे दीना, वक्त पर पड़ी गलती है ॥ ४ ॥ हुये बाली बली मुक्ते, कि बल वह चौगुना रखते किये हैं काल ने नुकते, अग्नि चहुँ ओर जलती है ॥ ५ ॥ योग की युक्ति को जाने, समाधी काल बहु ठाने, पड़े हैं काल के पाने, पकोड़ा तेल तलती है ॥ ६ ॥ शीश पर पृथ्वी धरते, उत्पत्ती पाल संहरते । अन्त में वे भी सवी मरते, और की कहा पिलती है ॥ ७ ॥ गुप्त आतम है अविनाशी, पड़े नहिं काल की फाँसी । काल तीनों में परकाशी, खिलावट तिस से खिलती है ॥ ८ ॥

१६७ ग़ज़ल

लग्या किस ख्याल में खेले, तुझे क्या मस्ती छाई है। काल

का छुटि गया गोला, तोप तेरे सिर पे लाई है ॥ टेक ॥ करे कल्पान्त का अभिमान, सुबह वा शाम का महिमान । तेरा तो कहा है उपमान, बड़ों पर घात लाई है ॥ १ ॥ बचे नहिं रानी और राजा, सभी है काल का खाजा । बजे तिहुंलोक में वाजा, फिरी तिस की दुहाई ॥ २ ॥ लोक अरु लोकों के पाली, करत है सबहि को खाली । संग में रहती है काली, करे सब की सफाई है ॥ ३ ॥ खेल की बाजी जिन लाई, जगत चौपर को विछवाई दिशा है चार घरवाई, पाशा अहर्निशि बनाई है ॥ ४ ॥ चार खानी सभी गोटा, तिनों पर मारते चोटा । बचत नहिं छोटा अरु मोटा, चटनी सब की बनाई है ॥ ५ ॥ काल से वही बचता है, रूप अपने में जँचता है । नहीं उसे काल का भय, अविद्या धो बहाई है ॥ ६ ॥ किया कर्मों का तिस ने चूर, लख्या है आपको भरपूर । वरसता जिनके मुख पर नूर सुफल तिमकी कमाई है ॥ ७ ॥ काल परघट को खाता है, गुप्त ढूंढा न पाता है, वेद सूक्ष्म बताता है, सैन तुझ को लखाई है ॥ ८ ॥

१६८ भजन

गती है कर्म की टेढ़ी, विना भोगे न भगती है । अकल कोइ काम नहीं देती, वख़त पर आय जगती है ॥ टेक ॥ धर्म नीति को पहचाने, भविष्यत् काल की जाने । पकड़ि के तिनको भी ताने, सभी के पीछे लगती है ॥ १ ॥ हुये नल, राम से आदि, युधिष्ठिर

धर्म के वादी। करैं क्या तिलक अरु गांधी, तिनों की क्याहि शक्ती है॥ २॥ भावी को जानते भीषम, अकल जिनकी नहीं कुछ कम। पड़ा है तिनको आके गम, सदा ज्यों व्याघ्र तकती है॥ ३॥ गुप्त आत्मा रहे निरबन्ध, नहीं कोई कर्म का है फंद॥ सदा वह रहता है आनन्द, भर्म से पड़ी गलती है॥ ४॥

सोरठा—

जिनको कहें अवतार, भार उतारे जगत का।
तिन पर भी पड़ी मार, और किसी की क्या चले॥
बचा न तिस तें कोय, होनहार बलबान है।
निज पद सुर्त समोय, जिस करके कारज सरे॥

१६९ ग़ज़ल

दशहरा देखलो दिल में, नेम के नेवरते करके। शील संतोष को धारो, काम अरु क्रोध परिहर के॥ टेक॥ जगत से नाता सब तोड़ो चढ़ो अव ज्ञान के घोड़े। निशाना नेम का जोड़ो, लगा हरि हाथ पे धरिके॥ १॥ सभी शुभगुन के ले हथियार, करो अब दुश्मनों पै वार। लगावो एक हरि से तार, लड़ो इस मोरचे झरिके॥ २॥ जूझते सूरमे रणमें, मरन का शोच नहीं मन में। नहीं अभिमान है तन में, हटे संग्राम ते मरिके॥ ३॥ शूर क्षत्री वही जग में, चलत है वेद के मग में। आस नहीं करत है संग में, वही दिखलाता है तिरके॥६॥ छुट्या है ज्ञान का गोला,

उड़ा अज्ञान का टोला ॥ किया दुश्मन का सिर पोला, मारता तोप भरभर के ॥ ५ ॥ गुप्त नहीं धर्म क्षत्री के, कहे हैं गीता में नीके । कायरों को लगें फीके, भागते रणसे डरि डरिके ॥ ६ ॥

१७० ग़ज़ल

मुझे जग टोह लिया सारा, लाल घट माहिं पाया है । फिरा बन परवतों माहीं, पता नहीं जिसका लाया है ॥ टेक ॥ मिले जब सत् गुरु पूरे, लाल का भेद लाया है । गिरेह को खोलकर परख्या, तभी आनन्द छाया है ॥ १ ॥ भये धनवान तब ही से, जभी यह माल पाया है ॥ दरिद्दर दुःख सब नासे, कंगाली को बहाया है ॥ २ ॥ निरखि तिस लाल की छवि को, न दूजा और पाया है ॥ और सबही लगे नकली, असली घट में ठहयारा है ॥ ३ ॥ जिसे हम जानते थे दूर, बो पाया सबहि में भरपूर ॥ चरैं अव मौज अपनी में, गुप्त ने ऐसे गाया है ॥ ४ ॥

१७१ ग़ज़ल

तजो सब ज्ञान चतुराई, खबर लख महल की भाई ॥ बात यह वेद ने गाई, झूंट इसमें नहीं राई ॥ टेक ॥ यह नहीं यह नहीं होई सत्य याते परेसोई । आपना रूप है वोही, झूंठ इसमें नहीं पाई ॥ १ ॥ जिस्में नहिं साध और साधन, नहीं कोई वाद औ वादन ॥ नहीं कोइ राध औ राधन, लक्षणा वृत्ति ठहराई ॥ २ ॥ लख्या जब आप अविनाशी, कटी सब काल की फांसी । जगत

बेशक करो हाँसी, बृत्ति जब उलटि कर लाई ॥ ३ ॥ कोटि परकाश सूरज चन्द, जहां पर आप गुप्तानन्द ॥ देखि छबि भये हैं आनन्द, जहां कोई आवे ना जाई ॥ ४ ॥

१७२ ग़ज़ल

भक्तजन जगत में आये, धर्म संतोष धारा है । खड़ग जिन भक्ति का लीना, काम औ क्रोध मारा है ॥ टेक ॥ काटि दई आसा औ तृष्णा, लोभ का मूल फाड़ा है ॥ निरभय हो रहते हैं जगमें, सभी डर दूर डारा है ॥ १ ॥ वनज है भक्ति का जिनके, और कोइ नहीं बेपारा है ॥ आस सब लोक की त्यागी, एक प्रभु का सहारा है ॥ २ ॥ उठते बैठते यक राम, रहा नहीं और से कोई काम । मस्त रहते हैं आठो याम, सदा सुखरूप धारा है ॥३॥ लगा है एक हरि से तार, है झूंठा समझते घरबार ॥ ध्रू निश्चय भया जिनका, हमसे कछु नाहिं न्यारा है ॥ ४ ॥

१७३ ग़ज़ल

नहीं किसी भेष के योगी, नहीं कोई पंथ धारा है । तोड़ दिया जगत् से नाता, न ह्यां पर कुछ हमारा है ॥ टेक ॥ पंथ से पंथ अलहिदा, पड़ा है भेषों में वेदा । हमी यह देखकर सौदा, पंथ अपना सिधारा है ॥१॥ टूटी सब मज़ब की फांसी, न वसते मथुरा औकाशी । हमी उस धाम के बासी अन्ध नाहीं उजारा है ॥२॥ न कोई वर्ण है म्हारा, हमें सब आश्रम जारा। छुटी जब ज्ञान की धारा,

वहाँ सब वेद भारा है ॥३॥ गुप्तधन पाया है जब से, हमी आनन्द हैं तबसे। मित्र का भाव है सबसे, दशों दिशि में उजारा है ॥४॥

१७४ ग़ज़ल

धुती जिन वासना मन की बही अवधूत जग माहीं ॥ चरत हैं मौज अपनी में, विधी निषेध कछु नाहीं ॥ टेक ॥ कटा सब मोह का फंदा, जान्या जब आपके तांई। जगत में कोई नहीं धंदा, बृत्ति जब लीन हो जाई ॥ १ ॥ कटी सब आस की फाँसी, लखा जब आप अविनाशी। नहीं कोई दास अरु दासी, नहीं धन माल प्रभुताई ॥२॥ वसे निज रूप में जाई, मजहब दूकान सब ढाई। जिन्हे शंका नहीं राई, कहीं सो आवे ना जाई ॥ ३ ॥ तत्व जिनको लख्या ऐसा न रखते कौड़ी अरु पैसा। गुप्त धन पाया है ऐसा, गोवर्धन खर्चे अरु खाई ॥ ४ ॥

१७५ ग़ज़ल

सोई है फकीर जग माहीं, फिकिर जिन मूल से खोया ॥ उलट कर सर्व से वृत्ति, आपने आपको जोया ॥ टेक ॥ फे करके सदा ही फाका, तोड़ा अज्ञान-गढ़ वाका। नहीं कोई साक अरु साखा, सभी डर डार के सोया ॥ १ ॥ के करके काट दई आसा उपजा निरवेद जो खासा। कियो है ब्रह्म में बासा, होना सो आनि कर होया ॥ २ ॥ रे करके रहम को धारा, काम औ क्रोध सब मारा ॥ मूल सब जगत का जारा, जीव को ब्रह्म में पोया ॥३॥

विधि निषेध नहीं जिनमें, विचरते मौज अपनी में। ध्रूव पाया गुप्त तन में, मैल अज्ञान सब धोया ॥ ४ ॥

१७६ ग़ज़ल

मिलो दिलदार से प्यारे, जहाँ उलफत हो रहने में ॥ टेक ॥ तजो सब जगत की यारी, करो स्वयं सरूप की त्यारी। नहीं तो होयगी ख्वारी, विधोगे तीर पैने में ॥ १ ॥ जिनों को कहते हैं मेरा, तिनों में कोइ नहीं तेरा। हो गया जंगल में डेरा, समझ टुक अपने जेहने में ॥ २ ॥ समझ टुक आप अपने को, तजो सब जगत सपने को। लगी यह जाप जपने को, आजा टुक मेरे कहने में ॥ ३ ॥ सजन परिवार सुत दारा, उसी वे रोज हो न्यारा ॥ बजे शिर काल नक्कारा, देख टुक मन के अयने में ॥ ४ ॥ न कीजे राज की मस्ती, कि शिर पर मौत जो हंसती। छुटे सब घोड़ा अरु हस्ती, बैठ चल काठ म्याने में ॥ ५ ॥ पलक में छूटि जा डेरा, हुक्म कोई माने न तेरा। हो जाना गुप्त का चेरा, यही किस्ती तिराने में ॥ ६ ॥

१७७ ग़ज़ल

जरा टुक खोजे तन मन को, तुही है आप अविनाशी ॥टेक॥ जिसे तू जानता है दूर, सोई है सकल में भरपूर। समझ टुक वही तेरा नूर, करे हैं किसकी तल्लाशी ॥ १ ॥ बसी हड़ चाम की नगरी, सोई जड़ जान तू सगरी। पटक दे भरम की पगड़ी, तुही है सब का परकाशी ॥ २ ॥ तुही है राम औ कृष्णु, तुही है ब्रह्मा औ

विष्णु । तुही वह खोजता जिस नूं, तुही है ईश कैलासी ॥३॥ कहा टुक मानले मेरा, तजो सव दूर अरु नेरा । बहुरि नहीं होयगा फेरा, छुटे यमराज की फांसी ॥ ४ ॥ जिसे तू खोजता जग में, सोई भरपूर है सबमें । भूला क्या जगत के मग में, फिरे क्या द्वारिका काशी ॥५॥ नहीं तद्भासे सूरज चन्द, तुही है आप गुप्ता नन्द। जहां पर कोई नहीं दुख द्वंद, होजा उस धाम का वासी ॥६॥

१७८ ग़ज़ल

बिना तन आप तन धारी, उधर क्या है इधर देखो । सभी सृष्टी है दृष्टी से, चहें तुम वेद को देखो ॥ टेक ॥ जभी दृष्टी को फैलावे, तभी सृष्टि नजर आवे । फिरे दृष्ठी नसे सृष्टी, ये कौतुक आपका देखो ॥ १ ॥ जो चेतन चेतता जावे, जिसे चेते सो बन जावे । समावे आपके माहीं, स्वतः निज रूप को देखो ॥ २ ॥ सर्व-व्यापी है परमातम, उसी को कहते हैं आतम । शुद्ध आनन्द अविनाशी, कि अनुभव करके तुम देखो ॥ ३ ॥ गुप्त जाने से हो मुक्ती, वताते संत यों युक्ती ॥ ध्रूव अनमोल अवसर को, निगेह को खोल कर देखो ॥ ४ ॥

१७९ ग़ज़ल

उदय हुया ज्ञान का भानु, उड़ा अज्ञान अन्धियारा ॥ समाधी शुद्ध में लागी, भया घट माहिं उजियारा ॥ टेक ॥ देख्या निजरूप तम्माशा, भरम का भूत जग नाशा ॥ मिटा शशि मन का परकाशा,

छिपगये इंद्रिगण तारे ॥ १ ॥ छिपे शिशुमार पंचोंप्राण, छुठ्या सव देह का अभिमान ॥ भई है तस्करों की हान, काम औ क्रोध सब मारा ॥ २ ॥ करते हैं भेद का नित गान, सोई उल्लू को निशि में जान ॥ न होवे रात माया हान, धरा शिर भेद का भारा ॥ ३ ॥ अंधेरी रात्री मंझार, जगावे वेद चौकीदार ॥ समझले गुप्त की यह यार, सोवे फिर चौकी रखबारा ॥ ४ ॥

१८० ग़ज़ल

दिवाली देखलो दिल में, कि दीपक ज्ञान का वालो ॥ मिटा कर आश ओ तृष्णा, काम अरु क्रोध को जालो ॥ टेक ॥ मैल विक्षेप सब धोवो, सफाई महल की कीजै ॥ गलती इसमें नहीं दीजे, मैल सब महल का गालो ॥ १ ॥ करो अन्तःकरण दीपक, प्रीति के तेल को भरना ॥ बत्ती अब गेरो निष्कर्मा, होय मन्दिर में उजियालो ॥२॥ करुणा मैत्री मुदिता, करें मन्दिर में शुभ गाना ॥ मिटे सब आना और जाना, शील सन्तोष को पालो ॥ ३ ॥ इसी काया दिवाली में, गुप्त यक गोर्धन पूजा ॥ मिटा के भाव सव दूजा, तिमिर अज्ञान को टालो ॥ ४ ॥

१८१ ग़ज़ल

जगत् से तोड़ दी यारी, लग्या दिलवर में दिल जिनका ॥ कान देकर सुनों प्यारे, कहत हूँ हाल सब तिनका ॥ टेक ॥ जैसे आशिक हुये मजनू, इश्क लैली से लाया है ॥ तभी लैली को

पाया है, फिकिर नहीं कीन जलने का ॥१॥ इश्क अब कहत हक्कानी, बात सब लोक में जानी ॥ पिता की जिसने नहीं मानी, किया हट आपने मनका ॥ २ ॥ मुसीबत को सहा भारी, टेक नहीं आपनी टारी ॥ असुर ने खड़ग की मारी, कटा नहीं रोम यक तनका ॥३॥ मात का वचन सुन मनमें, लगी ध्रूवाल के तन में ॥ राज तजकर चले बन में, मजा तिसको मिला वन का ॥४॥ इश्क मंसूर ने किया, अनलहक माहीं मन दीया ॥ शीश सूली पर धर दिया, सुधर गया काज सब उनका ॥५॥ फरीदा कूप में लटक्या, मांस सब कागिलों झटक्या ॥ उसी दिलदार में अटक्या, लाभ जिसे ठाया दरशन का ॥ ६ ॥ हुये इस शाह सुलतानी, तजी थी वलख रजधानी ॥ पिया जिन इश्क़ का पानी, नशा सव तज दिया धनका ॥ ७ ॥ दिल लगा धाम धन अरु वाम । चहे फिर मुक्ति ही को धाम ॥ गुप्त सुमिरे नहीं निष्काम, बना है दास सब जनका ॥८॥

१८२ ग़ज़ल

फैलाया जाल माया ने, कोई समझे खिलारी है ॥ जैसे वाज़ार के माहीं ग़ैब बाजी पसारी है ॥ टेक ॥ कोई धन धाम में भूले, कोई बड़जोर में फूले ॥ कोई मध काम में झूले, कहीं सुत भ्रात नारी है ॥१॥ कोई तो कर्म के साजी, कोई है भक्ति में राजी ॥ कोई पंडित कोई काजी, करै उपदेश भारी है ॥२॥ कोई तो निगम आगम में, कोई तो ग्रहण त्यागन में । कोई दिन रात जागन में, किसी की

धूनी जारी है ॥ ३ ॥ कोई तप दान को करते, कोई तो मौज में चरते ॥ कोई काशी में जा मरते, धारना ऐसी धारी है ॥ ४ ॥ कोई निर्गुण में अटके हैं, कोई सहगुण में लटके हैं। कोई दोनों से सटके हैं, तमाशा खेल जारी है ॥ ५ ॥ कथै कोई ज्ञान को दिन रात, करहिं वेदान्त की बहु बात। ध्यान करै सन्ध्या औ परभात, नैनन से नीर जारी है ॥ ६ ॥ कहूं कब तक यह झूंठा ख्याल, कोई गाते हैं दे दे ताल ॥ कोई कपड़े को रंगते लाल, कोई तो ब्रह्मचारी है ॥ ७ ॥ गुप्त पाया नहीं खोया, कभी जागा नहीं सोया। नहीं हँसता नहीं रोया, नहीं हलका न भारी है ॥ ८ ॥

१८३ होली

होली रंग महल में होती, कहा नींद भरम की सोती ॥टेक॥ या होली का खेल अजब है, देखत मनको मोहती ॥ कोई कोई खेलत सुधर सयाने, मूल अविद्या खोती ॥ चमक रही आतम जोती ॥ १ ॥ इस होली की रंगत न्यारी, पाप जनम के धोती ॥ मूरख को पंडित करै छिन मैं, पतरा पढ़ना न पोथी ॥ नहीं पाती नहिं खोती ॥ २ ॥ बारों मास वसन्त उड़त है, छः ऋतु होली होती ॥ ताकी महिमा वेद करत है, कहि समझावत नेती ॥ झलक रहा आतम मोती ॥ ३ ॥ इस होली को जो नर खेलत फगुवा उसको देती ॥ गुप्त ज्ञान की होली मची है, और सब होली थोथी ॥ करत कहा नेती अरु धोती ॥ ४ ॥

१८४ होली

लखि आतम रूप अपारा, होली खेलि हुये बहु पारा ॥टेक॥ याज्ञवल्क्य जनकादिक खेले, लाग्या नहीं लगारा ॥ ज्यों जल कमल रहे जग माहीं, छींट लग्या नहीं गारा ॥ सभी कामादिक जारा ॥ १ ॥ बामदेव शुकदेव खेलारी, वचन पिता का टारा ॥ धार वैराग जगत से उबरे, लेकर ज्ञान सहारा ॥ और हुये अनन्त हज़ारा ॥२॥ इस होली का यही महातम, जो खेला सो तारा ॥ ऊँच अरु नीच धनी अरु कंगला, हलका गिनती न भारा ॥ पार हुये भव की धारा ॥ ३ ॥ गुप्त बाग में होली मची है, नाना रंग पसारा ॥ विवेक वैराग की केसर धोरी, फूली ज्ञान फुलवारा ॥ मोक्ष यक फूल हज़ारा ॥ ४ ॥

१८५ होली

खेलै कृष्ण-आतमा होरी, बनिता करि रहीं बरजोरी ॥टेक॥ शब्दादिक अरु आशा-तृष्णा, ऐसी केसर घोरी ॥ भरि पिचकारी विषयन की मारी, बुद्धि भई है भोरी ॥ ज्ञान मुख मुरली चोरी ॥ १ ॥ कृष्ण-आत्मा गहिकर पकड़ो, दे दे नचावे हैं फोरी ॥ काम का कजला नैन बिच घाला, चुन्दरी चाह उढोरी ॥ नेह की नाथ नकोरी ॥२॥ तुम ठगनी मैं बारा भोरा, नित उठ मोहि ठगोरी॥ पूरणता-पीताम्बर चोरा, अब जानी सब चोरी ॥ मोहिं लावत बड़ि खोरी ॥ ३ ॥ गुप्त गली में पकरूँ तुमको, क्या फिरती हो

दौरी ॥ तत्वरूप माखन को खाऊँ, मान मटकिया ढोरी ॥ तोरूं नथ दुलरी तोरी ॥ ४ ॥

१८६ होली

होली ब्रह्मादिक को राची, और सब होली काची ॥ टेक ॥ चार वेद का मण्डप रोपा, बात कही जिन सांची ॥ पुरुष प्रकृती खेलन आये, उठि परकिरती नाची ॥ पुरुष सब रचना जाची ॥१॥ महत्तत्व अरु हंकार मात्रा, सातों की ढोलक खाँची ॥ पंचभूत दस इन्द्री मन ले, तान लगाई आछी ॥ तिनों के संग में राती ॥२॥ पुरुष असंग देखन लागा, ताकी बुद्धि खांची ॥ देख तमाशा आप को भूला, मानत है कुल जाती ॥ ऐसी यह होली माची ॥३॥ बुद्धि का धर्म आपमें मानत, यों भुगते चौरासी ॥ गुप्तरूप परगट जब होवे, अन्धकार उड़िजासी ॥ भानु जैसे ऊगे पराची ॥ ४ ॥

१८७ होली

जब रंग पंचमी होवे, पांचो नारी रंग में भिगोवे ॥ टेक ॥ सत संगति में रंगति लागी, तामें पकड़ि डुबोवे ॥ मन रसिया को खूब रिझावे, पाप जन्म के खोवे ॥ दाग सव दिलके धोवे ॥१॥ कर सिंगार वैराग ज्ञान का, तत् की ताल समोवे ॥ साधन सबहि बजावत बाजे, मूल आपना जोवे ॥ फेर निर्भय होइ सोवे ॥२॥ 'अहं-ब्रह्म' यह भरि पिचकारी, राग अखंडित होवे ॥ आप में वसिया सोई है रसिया, ऋतु वसन्तु में सोहे ॥ तार निज अन्तर

पोवे ॥३॥ विधि निषेध की धूलि उड़ाके, पुन्य पाप नहिं जोवे ॥ गुप्त गली में होली खेलत, होना हो सोइ होवे ॥ अहं परिछिन्न विगोवे ॥ ४ ॥

१८८ होली

मन रसिया ने होली मचाई ॥ ऐसी रचना अजब रचाई ॥टेक॥ द्दष्ठा दर्शन द्दष्य रचे जिन, चेतन, सत्ता पाई ॥ देश अरु काल रची सब वस्तू, जीव रु ईश बनाई ॥ अविद्या माया लगाई ॥ १ ॥ नाना विधि के कर्म बनाये, पुन्य रु पाप पसारा ॥ जिनके फल सुख दुख दो कीना, स्वर्ग नर्क भुगताई ॥ ऐसी यह नीति चलाई ॥२॥ ज्ञान ध्यान अष्टांग योग अरु, साधन साध्य सिधाई ॥ त्याग वैराग देव अरु पूजा ॥ कर्मकी कालुष लाई फिरी है काल दुहाई ॥ ३ ॥ जो कछु कृपा किया सब मनका, आतम में नहिं काही ॥ द्दष्टा द्दष्य कभी नहिं होता ॥ गुप्त ज्ञान लखि भाई ॥ बात यह बेदों ने गाई ॥ ४ ॥

१८९ होली

अब वसन्त पंचमी आई, यामें लीजो रंग चढ़ाई ॥ टेक ॥ पंच भूत की रचना रचि यह, मानस देह बनाई ॥ तास समान और नहिं देहा, देवन के मन भाई ॥ करो यामे सुघड़ कमाई ॥१॥ अन्तःकरन का मैला कपड़ा, याकी करो सफ़ाई ॥ नीर निरन्तर भगति मसाला, साधन सिला बनाई ॥ मैल सब धोय बहाई ॥ २ ॥ सत् गुरु रंगिया से रंग चढ़ावो, पूरी देके रंगाई ॥ श्रद्धा की देग में ज्ञान

रंग भरिया जामें देह डुबाई ॥ चढ़े कुछ जब रोशनाई ॥ ३ ॥ गुप्त गली में फाग मचावो, करिके निरभेताई ॥ फागुन के दिन सुख से बीते; होली अविद्या जलाई ॥ भर्म की धूलि उड़ाई ॥ ४ ॥

१९० होली

ऋतु आई वसन्त सुहानी, जामें फाग खेलते ज्ञानी ॥ टेक ॥ जीवन मुक्ति बजावत बाजे राग गावें ब्रह्मानी ॥ वृत्ति व्याप्ती ताल लगावें नूर-ध्वजा फहरानी ॥ छुटे दुख चारों खानी ॥ १ ॥ आप रूप के रंग में राते, लाभ रहा नहिं हानी ॥ नाचत नाच कर्म अनुसारी, फगुवा मिला निर्वानी ॥ छुटी सब खेंचा तानी ॥२॥ सोरसि या आनन्द में वसिया, जिन यह, होली जानी ॥ काल नगारे के सिर में डंका, जग की धूल उड़ानी ॥ ज्ञान पिचकारी तानी ॥३॥ गुप्तरु परघट खेल करत हैं, जिनकी अकथ कहानी ॥ लोक वेद का भय नहिं मानत, मूल अविद्या भानी ॥ नहीं कोई ताहि समानी ॥ ४ ॥

१९१ होली

होली जल गई अविद्या सारी ॥ राखे निज भक्त मुरारी ॥टेक॥ भक्तों के काज साज बहु साजे, तिनको लेत उभारी ॥ यही टेक जाके परंपरा से, नर हो वो चाहे नारी ॥ करे भव जल तें पारी ॥ १ ॥ जैसे जन प्रहलाद को राख्या, होली भइ जल छारी ॥ हिरनाकुश अज्ञान को मारा, खम्भ दियो जिन

फारी ॥ देह नरसिंह की धारी ॥ २ ॥ जब प्रहलाद अबिद्या होली तृषना अगिनि पजारी । हिरनाकशिपू मूल-अज्ञान है ॥ नरसिंह ज्ञान-कटारी ॥ उदर ताको देत विदारी ॥ ३ ॥ काम क्रोध सब भये हैं पहरुवा, मारो राव वल भारी ॥ गुप्तरु परघट एक लख्यो जब, ऐसी धारना धारी ॥ सोई है सुघड़ खेलारी ॥ ४ ॥

१९२ होली

लागी गुप्त ज्ञान की गोली, सब उड़ी भरम की टोली ॥टेक॥ सत गुरु भेदीने सब भेद बताया, बुद्धि बंदूक टटोली ॥ भक्ति करम से मंजन कीनी, सार शब्द से खोली ॥ हुई है तब अनमोली ॥ १ ॥ 'अहं ब्रह्म' यह रंजक भरि के, मन के कांटे तोली ॥ वृत्ति निरंतर बांधि निशाना, शब्द 'अहं' की बोली ॥ करम की उडि गई टोली ॥ २ ॥ कामादिक मिरगा सब भागे, तृष्णा हिरनी डोली ॥ ऋतु बसन्त आइ जीवन-मुक्ती, खेलत भर भर झाली ॥ कर्म की उड़ रही रोली ॥ ३ ॥ गुप्त गली में जो नर आवे, पावे वस्तु अनमोली ॥ वेद पुरान काव्य अरु कथनी, ये सब लागत पोली ॥ टूटि गई अन्तर चोली ॥ ४ ॥

१९३ होली

घट अन्दर होली मचाई, कहा देखत बाहर जाई ॥ टेक ॥ जाग्रत् माहिं विश्व खेले होली, वैठि नयन के माही ॥ दश इंद्रिय वनिता लिये संग में, भोगत भोग अघाई ॥ करै अपनी मन भाई

॥ १ ॥ स्वप्न माहिं तैजस खेले होली, कंठ देश में जाई ॥ सूक्ष्म भोग मनोमय बाचा, संग लिये मन भाई ॥ ऐसी रचना रचवाई ॥ २ ॥ सुषुपति माहीं प्राज्ञ खेलै होली, पुरीतत्व में जाई ॥ अज्ञान की बृत्ति लिये संग वनिता, सुख का भोग कमाई ॥ रहा तिस-माहिं भुलाई ॥ ३ ॥ तीन देश की होली खेल कर, चौथे देश में जाई ॥ और सब होली लगी है हल की, चौथी समाधि लगाई ॥ सोई होली सुखदाई ॥ ४ ॥ चतुरथ खेलि गयो पंचम में, तुरिया-तीत कहाई ॥ मनवानी को गम्य नहीं जहँ, सो हमरे मन भाई ॥ मनो गूंगा गुड़ खाई ॥ ५ ॥ बाहर की होली सब तजकर, भीतर देखहु जाई ॥ गुप्त होली होय घट के अन्दर, खेलत सुघर खिलारी ॥ बात तोहि कहि समुझाई ॥ ६ ॥

१९४ होली

होली खेलत सुघर खिलारी, कहा खेलत मूढ़ अनारी ॥टेक॥ मल विक्षेप दोष नहिं जाके विषय वासना जारी ॥ नित्य अनित्य बिवेक कियो जिन, विष सम जानी नारी ॥ चाह चिंता सब टारी ॥ १ ॥ शम दम श्रद्धा समाधान व्है, और उपरती धारी ॥ द्वंद धरम सव सहन कियो है, सही है तितिज्ञा भारी ॥ सोइ होली का अधिकारी ॥ २ ॥ अंसभावना दूरि करी सब, सरवन मनन विचारी ॥ विपरीत-भावना की धूल उड़ाई, निदिध्यासन से जारी ॥ बात जिन ऐसी विचारी ॥ ३ ॥ 'तत्त्वं' पद का शोधन कीना, माया अविद्या डारी । 'असि' पद माहीं आसन मारा, लागी

समाधि सुखारी ॥ चढ़ी है ब्रह्म खुमारी ॥ ४ ॥ जीवन मुक्त भये या जग में, विचरत इच्छा चारी ॥ लोक वेद की शंका न माने, वसिकर पाँचो नारी ॥ ऐसी निज धारना धारी ॥ ५ ॥ भोग अदृष्ट अदृष्ट भये हैं, व्यापक रूप मंझारी ॥ गुप्त रूप को प्रापत होकर, कवहुं न होय दुखारी ॥ जिन होली खेली है सारी ॥ ६ ॥

१९५ होली

देखौ टुक होली का अजब तमासा, जासे होय अविद्या का नाशा ॥ टेक ॥ ऐसी होली तोहि खिलाऊं, दूरि होय सब शासा ॥ चंचल मनुवाँ अचल होय जातें, टूटि जाय भव पाशा ॥ होय उर ज्ञान प्रकाश ॥ १ ॥ साढ़े तीन किरोड़ जाप होय, एक एक ही स्वासा ॥ तिनके अन्दर सुरत संमोवो, रोम रोम परकाशा ॥ पावे निज रूप खलासा ॥२॥ सो को लेकर चलत नाभिसे, हं को लेकर आवे ॥ दोनों पद का अर्थ विचारो, जब याका फल पावे ॥ होवे सुख रूप निवासा ॥ ३ ॥ सो पद ब्रह्म रूप करि जानों, हँ पद आप पिछानो । तत्वमसि कर एक रूप है, भाग त्याग कर मानों ॥ समझ यह वेदों का आशा ॥ ४ ॥ 'अहं-ब्रह्मास्मि' वायु चलाई, ज्ञान अग्नि प्रगटाई ॥ मूल सहित तन मन सब होली ठोंकि ठोंकि के जलाई ॥ हुयो फिर अग्नि का नाशा ॥ ५ ॥ जो कोई होली खेलि चुका है, गुप्त गली के माहीं ॥ ज्ञान गुलाल के बरसत बदला, कर्म की कीच बहाई ॥ कटा सब काल का फांसा ॥ ६ ॥

१९६ होली

होरी खेलत खेलत हारी । तन मन से पड़गई कारी ॥टेक॥ अब तो होली खेल समझकर, क्यों फिरती है मारी ॥ सत गुरु शरन लेउ अब सजनी, मान मटुकिया ढोरी ॥ करो अब मिलने की त्यारी ॥ १ ॥ तीन देह अरु पंच कोष की लागि रही बीमारी, सुनि गुरु ज्ञान धारि हिरदे में । क्यों फिरती मतवारी ॥ आई है फगुवे की वारी ॥ २ ॥ काम क्रोध अरु विषय वासना, आशा तृष्णा जारी ॥ शील संतोष विवेक धारि कर, तजिदे चाह चमारी ॥ तभी तुह होय सुखारी ॥ ३ ॥ गुप्त ज्ञान की भंगिया पीकर, हो जा तू मतवारी ॥ लोक लाज कुल की मर्यादा, ठोक जलावो सारी ॥ ज्ञान की भरि पिचकारी ॥ ४ ॥

१९७ होली

टुक होली । टुक होली खेल मिले फगुवा ॥ टेक ॥ करोड़ जन्म का सूता हंसा, अब तो उठी करो जगुबा ॥ १ ॥ लोभ मोह के फँसा फंद में, अब तो तज इनका सगुवा ॥ २ ॥ अंतर की तज विषय वासना, भागत रोको मन कगुवा ॥ ३ ॥ ज्ञान घटा जब चढ़े उमंड़ि के, ज्यों वरषा करता मधुवा ॥ ४ ॥ तीन ताप की तपत मिटावो, शीतल होवे सब जगुवा ॥ ५ ॥ कारज सिद्ध होय सब जिनके गुप्त ज्ञान में मन लगुवा ॥ ६ ॥

१९८ होली

काया ब्रज में। काया ब्रज में जीव कन्हाई है ॥टेक॥ नौ गोपी दस इन्द्रिय संगले, हरि होली की धूम मचाई है ॥ १ ॥ यमुना के तीरे धेनु चरावे, मनमोहन वंशी बजाई है ॥ २ ॥ मन-मथुरा दिल-द्वारा नगरी, बिन्द्रावन बनिता बनाई है ॥ ३ ॥ गम की गेंद ज्ञान का दंडा, यम यमुना पै खेल मचाई है ॥ ४ ॥ नागकालिया काल पछाड़ा, जाकी काली नाचि रोवाई है ॥ ५ ॥ काम-कंस अरु पाप-पूतना, कालजमन छार उड़ाई है ॥ ६ ॥ दानव दैत्य आसुरी संपति, खोदि खोदि के बहाई है ॥ ७ ॥ गुप्त-ज्ञान दैबी-सम्पत्ती, तिन की फौज चढ़ाई है ॥ ८ ॥

१९९ होली

होली खेलो। होली खेलो न करि निरभय ताई ॥ टेक ॥ शब्द ब्रह्म में हिल मिलि खेलो, दूरि करो मन की काई ॥ १ ॥ ना तुह जन्म्या ना कभि मूया, नहिं तेरे बाबुल माई ॥ २ ॥ भेद भर्म को त्याग सयाने, नेति नेति श्रुति ने गाई ॥ ३ ॥ तुह तो गैबी आया गैवते, यहाँ पर भूल मचाई ॥ ४ ॥ उलटि मिलो निज रूप गैब में, भली वेर तुझ को पाई ॥ ५ ॥ गुरु वेद की समझ रमज को, कहते तुझको समझाई ॥ ६ ॥ हो निजानन्द ब्रह्म में विचरो, द्वैत दुकान सभी ढाई ॥ ७ ॥ गुप्त भेद सत्गुरु से पाये, चरण कमल पर बलिजाई ॥ ८ ॥

२०० कुण्डलिया

निज स्वरूप अज्ञानते, दीखत है बहु भेद । स्वरूप ज्ञान के होतही, मिटि जावे सब खेद ॥ मिटि जावे सब खेद, वेद यों नितही गावे । मृगतृष्णा जग नीर, सुनाकर भेद मिटावे । लख निज गुप्त स्वरूप, कूप जग गिरो न प्यारे । अवसर चूके मूढ़, फिरैं विषयन के मारे ॥

२०१ कुण्डलिया

भेद जो पंच प्रकार का, ताको करूँ बखान । जीव ईश का भेद यक, ईश जगत को जान ॥ ईश जगत को जान । तीसरा जीव जीवन का । चतुरथ भेद पिछान, जीव अरु जड़ है तिनका ॥ पंचम भेद जड जड़न को, यही भेद आकार ॥ ध्रुव सब छूटे भेद जब, तव होय भेद से पार ॥

२०२ कुण्डलिया

बिना भेद जाने बिना, छुठै न भेद को पन्थ ॥ श्रुति सिद्धान्त यह कहत है, और कहें मुनि सन्त ॥ और कहें मुनि सन्त, भेद को अन्त जो कीजै ॥ भेद पाप को मूल, ताको ना उर में दीजै ॥ गुप्त रूप जबहीं लखे, छुटे भेद की बात ॥ भेद जो पाँच प्रकार का, तापर मारे लात ॥

२०३ कुण्डलिया

अनाधि वस्तु को कहत हैं तिनको सुन अब भेद । ब्रह्म ईश जीव अरु माया, सम्बन्ध भेद कहें वेद । सम्बन्ध भेद कहें वेद,

तिन में कछु भेद बताया। ब्रह्म है अनन्त अनादि, पांच ये शान्तहि गाया ॥ कहे गोवर्धन विचार, अनादि वस्तु गाई। गुप्त बात भई प्रगट, कुण्डलिया देखो भाई ॥

२०४ कुण्डलिया

मूल्यो जब निज आपको, तवही भयो कंगाल। अपनी सुध लावे नहीं, घर में है सब माल ॥ घर में है सब माल, ख्याल दूजे का मेटो। गुप्त रूप को पाय, पलंग पर सुख से लेटो ॥ ध्रुव निश्चय यह जान, शहनपति शाह है तूही। लीनो आप निहार, वस्तु है ज्योंकी ज्योंकी।

२०५ कुण्डलिया

लोट लगावो पलंग पर, करके सूधे पांब। आसन कीजै फेर की फेर न ऐसा दाव ॥ फेर न ऐसा दाव, नाव में चढ़ कर बैठो। हो जा पल्लेपार, गिरेह से दमड़े काटो ॥ जब पावे गुप्तानन्द तहां कीजे विश्राम। ध्रू निश्चय तब भयो सोवते चद्दर तान ॥

२०६ कुण्डलिया

जैसे हम सोये पलंग पर, ऐसा सोवो सब कोय। लाया गलीचा ज्ञान का, होनी होय सो होय ॥ होनी होय सो होय, मोह ब्यापै नहिं माया। नित प्रापत अपना रूप, नहीं खोया नहिं पाया। गुप्त गली में आय के, निरभय भये आजाद। ध्रू निश्चयकर सेवते कोइक विरला साध ॥

२०७ कुण्डलिया

चिदाकाश निज रूप में, नहीं काल नहिं देश ॥ पांच तत्व गुण तीन का, जामें नाहीं लेश ॥ जामें नाहीं लेश, एक निरंजन राया ॥ जामे नहिंपंच कलेश, मोह व्यापे नहिं माया ॥ गुप्तरूप को पायकर, जामे लाभ न हान ॥ चिदाकाश निज रूप लखि, सोते चद्दर तान ॥

२०८ कुण्डलिया

मात तात सुत भ्रात सव, रस्ते केसा साथ ॥ मेला जगत सराय में, सब उठि जात प्रभात ॥ सब उठि जात प्रभात, जात कुछ देर न लावे ॥ चहै लाखों करो उपाय, फेर ढूँढे नहिं पावे ॥ जब भूल्यो गुप्त स्वरूप, पड़ी ममता की फांसी ॥ क्या रोवे मत्था कूट, तुही चेतन अविनाशी ॥

२०९ कुण्डलिया

अपने अपने कर्म का, भोगन आये भोग ॥ पूर्वले किसी कर्म से, आन मिला संयोग । आन मिला संयोग, सोच फिर किसका कीजै ॥ स्वप्नो सो जग जान, नाम यस हरि का लीजै ॥ जब पाये गुप्त स्वरूप, अविद्या सबही छीजै ॥ सव मिथ्या संसार, शोक फिर किसका कीजै ॥

२१० कुण्डलिया

लगे रहो हरि नाम से, छोड़ो जग की आस ॥ खबर नहीं है घड़ी की, निकल जायंगे स्वास ॥ निकल जायंगे स्वास, काल

ने सब कोइ खाया ॥ राजा रंक फकीर, काल के हाथ विकाया ॥ परारब्ध के भोग में, होना नहीं उदास ॥ गुप्तरूप घट माहिं लख, सब तजो जगत की आस ॥

२११ कुण्डलिया

ना कछु हुया न है कछु, ना कछु आगे होय ॥ मृगतृष्णा के नीर में, क्यों वहाजात बिन तोय ॥ क्यों बहाजात बिन तोय, मोह का छोड़ अखाड़ा ॥ सुषुप्ति अवस्था माहिं, जगत का पोल निकाला ॥ गुप्त गली में बैठि के, कीजै सदा विचार ॥ तूं चेतन भरपूर है, झूँठा जगत् असार ॥

२१२ कुण्डलिया

भोगन में सुख है नहीं, सव तजो जगत के भोग ॥ भोग शोक का रूप है, यों कहें सयाने लोग ॥ यों कहें सयाने लोग, योगता आप निहारो ॥ कर्म उपासन ज्ञान, माहिं चित अपना धारो ॥ गुप्त रूप को सो लहे, जो चाले इन पंथ ॥ श्रुति सिद्धान्त यह कहत हैं, और कहें सद् ग्रंथ ॥

२१३ कुण्डलिया

कोटि जन्म भरमत फिरो, कछू न पायो सार ॥ मनुष देह अब के मिली, करके देख बिचार ॥ करके देख विचार, यार क्या भया दिवाना ॥ सिर पै बैरी काल, हाथ में ले रहा बाना ॥ बच्यो न तासों कोय, काल ने सव कोइ खायो ॥ जिन जान्या गुप्त सरूप काल नेरे नहिं आयो ॥

२१४ कुण्डलिया

जैनी सो नर जानिये, जो जीवमार के खाय ॥ द्वैत भाव जाके नहीं, रही एकता छाय ॥ रही एकता छाय, दिगम्बर रहे उदासा ॥ स्वरूप लियो चीन्ह, मिलन की मिटि गई आसा ॥ जब जान्यो गुप्तानन्द, कर्म का संगल टूट्या ॥ ढहगई मज़हब दुकान, भरम का भांडा फूट्या ॥

२१५ कुण्डलिया

गुप्तानन्द आनन्द में, सदा सर्बदा काल ॥ हानी लाभ नाहीं रही, पड़े न यम की जाल ॥ पड़े न यम की जाल, ख्याल कोइ रहा न करना ॥ अब के ऐसे मरे बहुरि होवे नहिं मरना । गुप्तानन्द को पाय, रहा नहिं करना बाकी ॥ सब झूँठा परपंच, सत्य तो आपै आपी ।

२१६ कुण्डलिया

कोइ कछु कहे कोइ कछु कहे, ना कीजै शोक न हर्ष ॥ जैसी जाकी बुद्धि है, तैसी ताकी परख ॥ तैसी ताकी परख, बहुत विधि कहे समार ॥ जोहरी परखे लाल, चाम को गहे चमार ॥ गुप्तानन्द को पाय, मस्त रहे आठों याम ॥ कुछी बको संसार, नहीं काहू से काम ॥

२१७ कुण्डलिया

कालत्रय उपजे नहीं, कहा भयो संसार ॥ व्यास वशिष्ठ मुनि कहत हैं, तुही सदा यक तार ॥ तुही सदा यक तार, अपन में

आप भुलायो ॥ स्वपने को परपंच, जागिकर कहूं न पायो ॥ तूँ आपै गुप्तानन्द, सर्व भूतन का भूत ॥ नभ में भयो न सुमन, न जायो बन्ध्या पूत ॥

२१८ कुण्डलिया

होता हो होता कहा, बिना हुये यह कीन ॥ बिना हुये के कारणे, होता फिरता दीन ॥ होता फिरता दीन, बात यह सच्ची भाखी ॥ तापर एक दृष्टान्त सुनो चोरों का साखी ॥ जब जाने गुप्तानन्द, मिटै यह तबही शूल ॥ निश्चय होवे आप, रहे नहिं रंचक भूल ॥

२१९ कुण्डलिया

भूल होत है भरम से, भरम मूल अज्ञान ॥ अज्ञान तभी लग जानिये, जबलग होत न ज्ञान ॥ जब लग होत न ज्ञान, न तब लग होवत दूर ॥ निशा रहे फिर नाहिं, परगटे जबही सूर ॥ जब जान्यो गुप्तानन्द, बस्तु ज्योंकी त्यों भासी ॥ संशय और विपरीत, भावना सबही नासी ॥

२२० लावनी (बिना दोहे की कल्पवृक्ष)

हम खुद मस्ती में मस्त, मौज में रहते ॥ जो हमें कहें अप-वचन, उसी के सहते ॥ टेक ॥ हम अपने आप में मगन रहा करते हैं ॥ जाते दिल को हम चूर किया करते हैं ॥ हम आपी आपना दरस किया करते हैं, भर भर के ज्ञान का प्याला पिया

करते हैं ॥ इस जगत जाल को देखि नहीं हम बहते ॥ १ ॥ हम अपने आपका जाप किया करते हैं ॥ इस तनके अंदर माफ किया करते हैं ॥ पंचकोष वपुतीनको साफ किया करते हैं ॥ अपने आतम में आप जिया करते हैं ॥ हम जीव भाव को छोड़ि ब्रह्म अग्नि में रहते ॥ २ ॥ तोड़ा माया का जाल ख्याल हम देखा । कुछ बाकी रख्या नाहिं पूरा किया लेखा ॥ अब आगे को बनज नहीं हम करते ॥ जो करते हैं बनज वही नर मरते ॥ हम काहू से कुटिल वचन नहिं कहते ॥ ३ ॥ हम पायो गुप्त स्वरूप भूप के भूपा ॥ नहिं पड़े काल के जाल मार कहे रूका ॥ ऐसा निश्चय भया घुरू गुरु हमने पाया ॥ जिनकी कृपा से भये निरंजन राया ॥ जो नर करते सत संग, सैन वह लहते ॥ ४ ॥

२२१ लावनी

हम ज्ञान सुधा का पिया पियाला प्यारे । माया नागिन के जहर मरै नहिं मारे ॥ टेक ॥ सतगुरु को मंतर दिया जहर सब झाड़ा । माया नागिन का जीत लिया सब खाड़ा ॥ माया के सुत हैं पाँच बड़े बलकारी ॥ अहर्निशि आठों याम मारें किलकारी । जिन बड़े बड़े पकड़े वीर कूप भव डारे ॥ १ ॥ अहं ब्रह्मास्मि मंत्र गुरु ने दीना ॥ माया नागिन का जहर दूर कर दीना ॥ माया का उतरा जहर सब नाशे ॥ जब कट गये दीरघ रोग ज्ञान परकाशे ॥ परघट हुवा पूरण ज्ञान शत्रु सब जारे ॥ २ ॥ छूटा

माया का पाप जाप करें किसका ॥ हम निरभय होकर रहें खोफ़ नहीं उसका ॥ हम व्यापक ब्रह्म-अखंड नहीं जहं माया ॥ जहां नहीं कर्म नहिं धर्म न जन्मी जाया ॥ हम चेतन शुद्ध प्रकाश काल नहिं खारे ॥ ३ ॥ सतगुरु के परसाद साधकी संगत ॥ सत् संगति की रेनी चढ़ी लगी है रंगत ॥ हम पायो गुप्तानन्द भर्म सब नाशे ॥ ध्रुव निश्चय भयो अगाध ज्ञान परकाशे ॥ अजर अमर अब भये जरें नहिं जारे ॥ ४ ॥

२२२ लावनी (चौमासा)

बरसन लागे दिनरात ज्ञान के बदला ॥ बुद्धी पै छायो सोहाग त्याग कियो सगला ॥ टेक ॥ चारों साधन यक चैत्र मास तुम जानो । जब उमड़ी काली घटा श्रवण पहिचानो । अब पड़ने लागी बूंद मनन सोइ कहिये । जब बरसन लाग्यो मेंह निदिध्यासन लहिये । जब चली प्रेम की लोर शुद्ध उड़े बुगला ॥ १ ॥ स्वाति बूँद चात्रक को लगत है प्यारी ॥ तिस चात्रका के साहस्य जानो अधिकारी ॥ पथिक रहे हैं बैठ बरखा ऋतु आई । जिमि मन इन्द्री रहे था कि के सम दम पाई । जब छुटि गई मन की दौड़ जाय कहं पगला ॥ २ ॥ वद्दल की उट्ठी घोर बोलते मोरा ॥ 'अहं ब्रह्मास्मि' शब्द घोर में जोरा ॥ घन माहिं उठा बिजली का चमकारा ॥ जब पंच कोष वपु तीन से कीना न्यारा ॥ जो आशिक है मजबूत चढ़े चौमजला ॥३॥ सब नदियां चाली उमंड़ समंद को धाईं ।

जिमि उठे वृत्ति परवाह ब्रह्म में जाई ॥ जब गुप्त औषधी प्रगट भई है प्यारे ॥ काम जवासा क्रोध आक सब मारे ॥ इस चात्रमास की रमज समझे क्या कँगला ॥ ४ ॥

२२३ लावनी

नहिं मांगें किसी से दाम न रखते रंडी ॥ तिस पर भी लोग यों कहें बड़े पाखंड़ी ॥ टेक ॥ तीन लोग के भोग तृण सम त्यागे, जिस पर भी हमें यों कहें फिरें ये भागे ॥ ऊपर से बनाया स्वांग कहें हम त्यागी ॥ यह रखते मोहर नोट बड़े हैं रागी ॥ गेरू का लगाते रंग बने हैं दंडी ॥ १ ॥ जो कोई कुछ कहे उसी की सहते ॥ अपने आपके माहिं गर्क हम रहते ॥ वहती दुनियां को देखि नहीं हम वहते ॥ कहती दुनियां को देखि नहीं कुछ कहते । हम देखी झाड़ि पिछोड़ि यह दुनियाँ लंडी ॥ २ ॥ हम दिलवर का दीदार किया करते हैं ॥ मरने की गैल हम मरा नहीं करते हैं ॥ तपती दुनियां को देखि टस्या करते हैं ॥ जलते की गैल हम जला नहीं करते हैं ॥ हम अपने आप की सदा फेरते झंडी ॥ ३ ॥ हम करते गुप्त विचार कहें बड़े ज्ञानी । सव हंसते हमको देखि वड़े बक ध्यानी । को जाने महरमकार हमारी बाता । हम नहिं रखते संसारं से कुछ भी नाता। हम चलते सीधी गैल कहें आफंडी ॥४॥

२२४ लावनी

हमें गुप्त रूप का देखा अजब तमाशा । जैसा कुछ फुरना होय वैसा उसे भासा ॥ टेक ॥ चेतन के आसरे कल्पि किसी ने

माया ॥ अनादि एक पुनि शाँत तिसे वतलाया ॥ नहिं कहिये सत्य असत्य विलक्षण गाई ॥ चेतन से अनाधि संवंध कहके समझाई ॥ जो चेतन रहा समान करै नहिं नासा ॥ १ ॥ माया में पड़ा आभास और अधिष्ठाता ॥ कोइ तीनों मिलि ईश्वर का रूप बतलाता ॥ मलिन सत्व आभास और अधिष्ठाता ॥ कोइ तीनों मिलिके जीव रूप दिखलाता ॥ तिन में कहें एक स्वतंत्र एक गल फांसा ॥ २ ॥ कोइ कहें बिंब प्रतिबिंब एक ही रूपा ॥ ऊपाधी के भेद भिन्न सहरूपा ॥ प्रतिबिंब वाद में भेद और भी माना ॥ पर बिंब रूपही प्रतिबिंबहु को गाना ॥ छाया और प्रतिबिंब का उलटा रासा ॥ ३ ॥ कोइ माया चेतन मिले ईश बतलावें ॥ अज्ञान अरु चेतन मिले जीव को गावें ॥ किसी ने प्रकृती पुरुष तत्व को बोधा ॥ कोइ सात पदारथ मान त्वं पद शोधा ॥ कोइ कहें कर्म से मोक्ष झूंठ नहिं मासा ॥ ४ ॥ किसी ने तत्वं दोनों पद को छाना ॥ माया रु अविद्या छोड़ि लक्षको जाना ॥ लक्षणबृत्ति कर देख 'तत्वमसि' माही । यह भाग त्याग की सैन तुझे समुजाई ॥ कोइ समुझे चतुर सुजान वेद का आशा ॥ ५ ॥ **(रंगत दूसरी)** वेद गुरु कहते यही पुकार ॥ झूठे हम झूंठा सब संसार ॥ गुप्त को समझ देख टुक यार, कल्पना का मेटो विस्तार ॥ सभी झूंठा जानो झगड़ा ॥ आप में बन्या न कछु बिगड़ा ॥ कल्पना झूंठीतें झूठी, गहो यह गुप्त ज्ञान मूठी ॥ तुहिं चेतन शुद्ध सरूप स्वयं परकाशा ॥ ६ ॥

२२५ लावनी

हमें गुप्त वाग की देखी अजब हरियाली ॥ खिले तरह तरह के फूल चमकि रही लाली ॥ टेक ॥ कोइ काला हरा कोइ रक्त स्वेत कोइ पीला ॥ इन पंच फूल से रची बाग की लीला ॥ माया का ऊंचा कोट ओट है जिनकी ॥ जहाँ दोइ वक्त के माहिं चौकि रहेमन की ॥ माया में पड़ा आभास सोइ है माली ॥ १ ॥ मालिन अरु माली मिले करी जब त्यारी ॥ यह तखते रच दिये तीन चौदह रच क्यारी ॥ मालिन ने मचाये शोर जोर दिखलाये ॥ यक क्षणमात्र के माहिं पेड सब लाये ॥ चारों बुरजों पर चार रहे रखवाली ॥ २ ॥ चार किसिम के पेड़ रचे तिस माहीं ॥ बीजन के अनुसार खिली फुलवाई ॥ किसी में निकली कली कोई खिलि जावे ॥ कोइ नीचे गिरते टूटे कोई मुरझावे ॥ फूलों पै लगाते चोट काल अरु काली ॥३॥ छः ऋतु बारह मास चक यक फिरता ॥ ये रात दिना दो दीप बाग में जलता ॥ माली ने राखे तीन काम के करता । कोइ उत्पति पालन करै कोइ संहरता ॥ जहँ पक्षी करे कुलाहल वजाते ताली ॥ ४ ॥ इस बाग्र माहिं त्रय कूप छुटे जलधारा ॥ बिच बिच में फुहारे छुटें बाग पिवे सारा ॥ कोइ पौधे उपजे नये पुराने जलते ॥ कोइ कल पाय के वेभी अगिन में बलते ॥ ऐसी रचना का ख्याल देखता ख्याली ॥ ५ ॥ देखन जाननवाले का करो विचारा ॥ सो गुप्त आपना रूप सार का

सारा । माली अरु सब बाग नहीं कछु न्यारा ॥ जैसे स्वप्ने के माहिं साक्षी आधारा ॥ तुह चेतन शुद्ध सरूप तोड़ भ्रम जाली ॥६॥

२२६ लावनी (सत्संगकल्पवृक्ष)

है कल्पवृक्ष सत्संग जगत के माहीं ॥ महिमा नहिं शारद शेष सके कछु गाई ॥टेक॥ है वेद पत्र शान्ति जिस की डाली ॥ अरु ज्ञान पुष्प निज तत्व से सब हरियाली ॥ खुशबू है प्रकट सब जगह न कोइ खाली ॥ जो देखा चाहे सेवे बन कर माली ॥ स्वधर्म धार श्रद्धा से पहुंचे जाई ॥ १ ॥ जिन पाया तत्व पागये पायंगे जितने । उपाय इससे और कहा नहिं किसने ॥ सतसंगति कर कल्पवृक्ष का सेवो ॥ मानुष तन को मत बृथा जगत में खोवो ॥ यह पन्थ संत से मिले जो होय सहाई ॥२॥ जो प्रेम नेमकर सत्संगति को सेवे ॥ जब शुद्ध भाव हो प्रगट अविद्या खोवे ॥ जीब भाव उठि जाय ब्रह्म को जाने निष्कर्म भक्ति नीती को ठीक पहिचाने ॥ शील सत्य सन्तोष स्वतः आजाई ॥ ३ ॥ जिन कल्पबृक्ष का लिया सहारा जग में । वह खुश हो लूटैं मौज न आवे भग में ॥ लख गुप्त रूप है सब परघट घट घट में ॥ जो देखा चाहे देखै इसी तन मठ में ॥ ध्रुव यह वक्त अमोल न आवे सदाई ॥ ४ ॥

२२७ लावनी (मदिरा)

हम आप रूप की मय का पिया पियाला ॥ जो झूंठी मय

को पिवे तिन का मुख काला ॥ टेक ॥ हमें सत् गुरु मिले कलाल दई भर प्याली ॥ अन्तर के खुल गये चश्म छाय रही लाली ॥ हम पिया प्रेम के साथ अमल जब छाया ॥ सब मिटे भर्म और कर्म रही नहिं माया ॥ हम करैं न कोई जाप रटैं नहिं माला ॥१॥ जो गौड़ी माध्बी और पेष्टी पीना ॥ तिन का है वृथा यार जगत् में जीना ॥ कोइ भर के बोतल पिवे पिवे कोइ अद्धा ॥ फिर किरिया करते नीच होय मुख भद्दा ॥ हो गया कलेजा भस्म नयन में जाला ॥ २ ॥ जब जागे परबल काम खोजता नारी ॥ चाहे मिलो वेश्या नीच चहे महतारी । भोगे नहिं गिनता दोष गई मति मारी ॥ इस नीच अमल ने करी जगत् की ख्वारी ॥ आपस में बकते गाल ससुर औ साला ॥ ३ ॥ ऐसा नहिं कीजे कर्म भरम सब त्यागो ॥ अब मोह निशा की नींद त्याग कर जागो ॥ तुम गुप्तरूप का भरकर पियो पियाला ॥ जिस करके छूटे जनम मरन का नाला ॥ क्या दुनिया के रँग देख हुबा मतवाला ॥ ४ ॥

२२८ लावनी (मांस)

जो नर खाते हैं मांस सोई कस्साई ॥ हम नहिं कहते यह बात शास्त्र ने गाई ॥टेक॥ सब कहें खुदा की रूह गऊ अरु मुरगे ॥ बकरा भैंसा और भेड़ किये क्यों मुरदे ॥ नेत्र से नेत्र मिले मिले तिल्ली से तिल्ली ॥ जब मार रूह को रूह बड़ी फरजुल्ली ॥ करै खुदा से बैर समुझे नहिं राई ॥ १ ॥ दिन भर तो रोजा करे पढ़े

कुराना ॥ फिर मारे रात को रूह करहि हलवाना ॥ जिसकी तुम पढ़े नबाज़ पांच वेर दिन में, सो सव रूहन में रहे, साचि के मन में ॥ जाने नहिं न्याय इन्साफ हुये अन्याई ॥ २ ॥ काटि खाया और का मांस त्रास नहिं तुझको ॥ फिर तेरा भी गल कटै शोच यह मुझको ॥ निकसेगी ज़हां किताब ज्वाब नहिं आवे । मत खाय और का मांस फेर पछितावे ॥ रसना के वश हो या मीन की न्याई ॥ ३ ॥ ब्राह्मण का पाया जन्म ऊजली जाती ॥ फिर खाते माँस शराब बड़े हैं पापी । जब ऊंचे वरण को पाय काम यह करते ॥ नीचों के शिर-दोष काहे को धरते ॥ खाते बड़े पंडित लोग राखें गुप्ताई ॥ ४ ॥

२२९ लावनी (वेश्या)

काम निशा से जाग पड़ा मत सोवे ॥ मत कर वेश्या का संग रंग क्यों खोवे ॥टेक॥ वेश्या को विषवत् जान करे मत् संगा ॥ तिस वेश्या के सँग होय धर्म का भंगा ॥ चाहे कैसा ही होय धनी कैसा हो चंगा ॥ सब तन धन को हरि लेत बनादे नंगा ॥ हम कहते हैं समझाय गणिका मत जोवे ॥ १ ॥ जप तप संयम अरु दान सभी नशि जावे ॥ जैसे फिर ठूँठा वृक्ष खड़ा रहिजावे ॥ कोइ लागत ना फल फूल होय बड़ हानी । हम सब नरकन की खानी वेश्या जानी ॥ मन वेश्या तागे माहिं मणिया मत पोवे ॥ २ ॥ वेश्या से कवहूं भूलि करो मत यारी ॥ यह भड़बा लेय बनाय

करे बड़ी ख्वारी । करे धन अरु बलका अंत फेर धमकावे ॥ तुझे सौ बेर कही गँवार यहां क्यों आवे ॥ सब खोय लोक परलोक मूरखा रोवे ॥ ३ ॥ ऐसे नर तनको पाय अकारथ खोवे ॥ नहिं सुने गुप्त की बात अन्त में रोवे ॥ जो कहे धर्म की बात करे थे हाँसी ॥ धोखे में पड़ि गई आय काल की फाँसी ॥ जब अन्त समय के मांहि कोई नहिं होवे ॥ ४ ॥

२३० लावनी (द्यूत)

सट्टे का चला रोज़गार गई साहूकारी ॥ यह खाय हरामी माल गई मति मारी ॥टेक॥ नहिं करें और रोजगार कार यह ठानी ॥ चहे कुछ होवे लाभ चहें होय हानी ॥ जो कुछ कीना था माल बड़ो ने कट्टा ॥ तिस से अब खेलन लगे लिलामी सट्टा ॥ नहिं आवे आँक-लीलाम होय जब ख्वारी ॥ १ ॥ सट्टे की जाय दुकान रूपैया लावे ॥ खड़े देख रहे हैं वाट आँक कब आवे ॥ जैसे वरखा ऋतु पाय जले जवासा ॥ ऐसे जलते साहूकार लोभ की आसा ॥ जो आजाबे कभि माल चढ़े बड़ी त्यारी ॥ २ ॥ जब आवत नाहिं आँक खाक में मिलते ॥ तब रोवत मत्था कूट हाथ दोउ मलते ॥ सब लुटि गया घर का माल बात सब बिगड़ी ॥ टूटा जूता है पैर, फटी सिर पगड़ी ॥ तब चोरी करने लगा लाज खोई सारी ॥ ३ ॥ फिर लेवे मूँड़ मुड़ाय बने हैं साधू ॥ लोगों को बतावे आँक करे बड़ि जादू ॥ नहिं गुप्त बात को खोजत मूढ़

अनारी ॥ कोइ सन्यासी बनि जाय कोई ब्रह्मचारी ॥ लोगों से ठगिकर माल करे फिर जारी ॥ ४ ॥

२३१ लावनी (नारी)

परनारी से प्रीति भूलि नहि करनी ॥ परनारी ऐसी जान पावक की अरनी ॥टेक॥ अपना रखि खाली खेत और का बोते ॥ कछु फल नहिं प्राप्त होय मूढ़ फिर रोते ॥ घरकी को दीना त्याग सेवे परनारी ॥ तब घर की करती जाय और तें यारी ॥ जब उर में होय कलेश लगे बड़ि जरनी ॥ १ ॥ परनारी पैनी छुरी अंग सब काटे ॥ जैसे कोई डाकिन खून माँस को चाटे ॥ सब तन धन को हरिलेत करे तुझे खाली ॥ सब भद्दा पड़ जाय बदन रहे नहिं लाली । नर को निश्चयकर खाय कहे जिसे नरनी ॥२॥ नारि सबहि है बुरी वेश्या परकी, यह तीजी कहिये नरक निशेनी घरकी। यक एक विषय के संग पावते नाशा ॥ यह जानो सच्ची बात झूंठ नहिं मासा ॥ परत्रिया से करे गमन तिनकी दशा बरनी ॥३॥ नहिं देखै गुप्त सरूप विषय में भूले । फिर अन्त समय के माहिं खाट में कूले ॥ जब चले कंठ में प्राण उठा घर्राटा ॥ नेत्तर में छूटा नीर हिलावे माथा ॥ अब कीजै कौन विचार पड़ा वैतरनी ॥४॥

२३२ लावनी (हिंसा)

मत करे जीव की घात बात सुन प्यारे ॥ सब परमेश्वर की रूह नहीं कुछ न्यारे ॥टेक॥ जैसा दुख तुझको होय उसे भी होवे। कुछ मन में करो विचार पढ़ा मत सोवे ॥ बिन कारण ही दे दुःख

और को भारी ॥ अपने को चहे आराम गई मति मारी ॥ जिस करे कुटुम्ब हित पाप होहिं सब न्यारे ॥ १ ॥ हिंसा है तीन प्रकार कहों समुझाई ॥ कायिक है वाचिक मानस है वेदने गाई । दूजे को देवे दुःख सोई कसाई ॥ दूजे को देना सुख सोई धरमाई ॥ सुख से सुख तुझको होय दुःख से दुख भारे ॥ २ ॥ जैसा कुछ देना दान वैसा मिल जावे ॥ जब वेली बोवे कटू दाख कैसे खावे ॥ जो सुख चाहे जीव तजो अब हिंसा ॥ करना चाहिये वही काम वेद पर संसा ॥ जिस करके होय आराम दुख छूटें सारे ॥३॥ तुम छोड़ो कर्म निषेध, विधि को करना ॥ फिर तिन में भी सहकाम देत हैं मरना ॥ जासे पावे गुप्त स्वरूप करो निष्कर्मा ॥ सब छुटें जनम के पाप होय नहिं मरना ॥ अब कीजै ऐसा काम काल नहिं खारे ॥ ४ ॥

२३३ लावनी (चोरी)

जो पर घर चोरी करत मरत हैं तेजन ॥ आगे पड़े यम की मार, हरत्या क्यों पर धन ॥ टेक ॥ कोंमल पर पकड़ा जाय, मार लगे गाढ़ा । जैसे कोई रब्बड़ लोग, काटते पाड़ा ॥ फिर पकड़ लेत सरकार, शोच करे मन में ॥ सब चोरी को ले काढ़ि, एकही दिन में ॥ जब लगे दुतरफी मार, बिगड़ जाय सब तन ॥ १ ॥ जो हरे पराया माल, हाल यह जिनका ॥ कभी नाशत नाहीं शोक, तिनों के मन का ॥ चोरी के संग में रहे, झूँठ दिन राती ॥ जैसे दींपक जब जले, तेल अरु बाती ॥ सब देखें ऐसे हाल, डरे नाहीं

मन ॥ २ ॥ चोरी जूबे का काम बुरा है प्यारे । जो करते ऐसा काम फिरत हैं मारे ॥ आगे बिगड़े परलोक लोक में निदा ॥ जो करते ऐसा काम पड़े गल फंदा । ऐसी होवे दुरगती मिले नहीं अन्न ॥ ३ ॥ छोड़ो चोरी की बात, हाथ क्या आवे । फिर अन्त समय के माहिं बहुत पछितावे ॥ कीजे नहिं ऐसा काम मनुष तन पाके ॥ लखे गुप्त आपना रूप कहूं समझाके । मत फिरे उल्लू की तरह, अविद्या बन बन ॥ ४ ॥

दोहा—

धन्यवाद उस पुरुष को, जाको ब्यसन न एक ॥
सो उत्तम सब नरन तें, वोकेहि विमल विवेक ॥
एक एक ने मारियां, बड़े बड़े उत्तम भूप ॥
जामें सातो व्यसन हैं, क्यों न पड़े भव कूप ॥
मानुष तनको पाय कर, किया नहीं शुभ काम ॥
तिसतें अच्छा जानिये, ढोर पशू का चाम ॥

२३४ लावनी

देवन की पूजा करो आई दीवाली । यक सब देबन का देव आत्मा वाली ॥ टेक ॥ यह काया देवल जान आतमा देवा ॥ तिसकी अब सेवा करो बताऊं भेवा ॥ करो शील अशनान पहिर सत शोला ॥ प्रेम के पात्तर माँज रहे नहिं मैला ॥ आशा तृष्णा का त्याग बनावो थाली ॥ १ ॥ जप तप तीरथ और दान घंटा बजबावो । निष्काम-कर्म की धूप प्रेम से लावो ॥ तत् सत् का

करो सिंगार लगा सिंहासन ॥ तिनके ऊपर लग रहा देव का आसन ॥ उड़ते शुभ कर्म गुलाल चमकि रहि लाली ॥ २ ॥ चित के चन्दन को चरच प्रीति की पाती । दिल से दीपक को वारि धरो दिन राती ॥ करनी का क्रीट बनाय मुकुट मन कीजे ॥ फिर चढ़ें प्रेम के फूल देव जब रीझे ॥ ऐसा परिपूरण देव नाहिं कछु खाली ॥ ३ ॥ ऐसा नहिं पावे वक्त गुप्त तुझे कहता ॥ जो ऐसी पूजा करे जग में नहिं बहता ॥ कभी काशी सेवे जाय कभी सेवे मथुरा ॥ सेवे नहिं चेतनदेब पूजे क्या पथरा ॥ क्या पूजत फिरे गँबार भैरों अरु काली ॥ ४ ॥

२३५ लावनी

भरमें क्यों बिना विचार दूसरे मन्दिर । इस तन के अन्दर देख मूरती सुन्दर ॥ टेक ॥ जिसके नाहीं रंग रूप ऊपक्या कहिये ॥ तिसके दरशन को पाय परम पद लहिये ॥ नहिं समुझत मूढ़ गंवार फिरत है मारा ॥ देखा चाहत है मूढ़ आपसे न्यारा ॥ खाता डोलत परसाद हो गया बंदर ॥ १ ॥ नहिं कारण सूक्षम स्थूल मूल है सब का ॥ धरनी जल पावक पबन समझले नभका ॥ हम कहें तोहि समझाय देव है ऐसा ॥ जाकी सेवा होय निष्काम चढ़े नहिं पैसा ॥ इस घटके भीतर देख चमकि रहा चन्दर ॥ २ ॥ करले तिसका दीदार पार हो भव से ॥ क्या देखे झूंठे देव तिरे नहिं तिनसे । पूजत है झूंठे बुत्त गई मति मारी ॥ चेतन व्है जड़ से

कहै रक्षा कर म्हारी ॥ कछु करता नहीं विचार आपने अन्दर ॥३॥ देवन का देव है आप देख अरु जाने ॥ कछु देव न पूछे बात नहीं पहिचाने ॥ शास्त्र ने कहा है देव एक पुरुषारथ ॥ दूजा नहिं कोई देव कहो यथारथ ॥ वहे जाते हैं नर मूढ़ जगत् समुन्दर ॥४॥

२३६ लावनी

करते हैं बहुत अचार विचार न करते ॥ तिस अहंकार के माहिं डूबकर मरते ॥ टेट ॥ यह काया सदा मलीन शुद्ध नहिं होवे । जिसकी शुद्धि के अर्थ-काल को खोवे ॥ यह बँधी मूत की गांठ जिसे बड़ा धोबे ॥ कितनेई चन्दन लेप शुद्ध नहिं होवे ॥ जब तक इस में हंकार तभी तक मरते ॥ १ ॥ जाके नव द्वारन के माहिं नर्क नित झरता ॥ स्थान बीज दो भ्रष्ट शुद्ध किसे करता ॥ इस तन की शुद्धी लागि जन्म को खोवे ॥ कितनेई मज्जन करो शुद्ध नहिं होवे ॥ सोई नर मूरख जान काम यह करते ॥ २ ॥ बड़े लाते तेल फुलेल बने हैं सुन्दर ॥ भीतर से खोजत नाहिं चाम का मन्दर ॥ ऐसे ही सब नर नारि भूलि गये तन में ॥ कछु करते नहीं विचार आपने मन में ॥ नित आतम चेतन शुद्ध खोज नहिं करते ॥ ३ ॥ सो सदा आपना रूप शुद्ध का शुद्धा । जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति सदा परबुद्धा ॥ सत्संगत को पाय भेद कछु जाने । जब छुटजाये सर्व मलीन शुद्ध पहिचाने ॥ व्है शुद्ध रूप परकाश कर्म सब जरते ॥ ४ ॥

२३७ लावनी

कहने को सभी ने कहा न रखा बाकी ॥ बिन जवाँ कहे क्या आप आपना साखी ॥टेक॥ जो घर रखे सो अपने घर को पावे ॥ जो घर खोवे वह घर घर धक्के खावे ॥ कहिं पुन्य करे तो पाप तुरत बनि जावे ॥ कहिं पाप किये ते स्वर्ग वास में जावे ॥ जो करे जीव की घात वह देखे झांकी ॥ १ ॥ जो लोभ करे तो क्षोभ तुरत मिटि जावे ॥ दया तजे से दिल का दरद हट जावे ॥ योग तजे वह योग के माहिं समाबे ॥ ज्ञान तजे ते विद्या-वान कहलावे ॥ तन जला भस्म मलने से होवे खाखा ॥ २ ॥ जो परको पीड़ा करे सो होवे पूरा ॥ जो विषय गहे वोह इंद्रियजीत है सूरा ॥ जो भोग करे वह जन्म रोग को धोवे ॥ तृष्णा करने से तीनों ताप को खोवे ॥ वेदशास्त्र का चूरण बनाकर फाँकी ॥३॥ त्याग किये से रागी बन बैठे हैं ॥ ऊपर जाने से आप गिरे बैठे हैं ॥ यह गुप्त ज्ञान समझे सो बेखटके हैं ॥ बिन समझे नर चौरासी में भटके हैं ॥ ध्रुव त्याग ग्रहण की सभी वासना नाकी ॥ ४ ॥

२३८ लावनी

बिन यतन रतन यक बन में भोगता भोगी ॥ सुन कथन सजन तज वतन हो गये योगी ॥टेक॥ बिन पृथ्वी परवत है यक ऊँचा भारी ॥ पंगू गिरवर पर चढ़ा गई मति मारी ॥ बिन नेत्र देख वे दिल से खुशी हुई भारी ॥ कर बिन से ग्रहण कर करे

नृत्य देतारी ॥ बिन मर्म शर्म तजि दई सो जानो रोगी ॥ १ ॥ बिन पती सती ने तन बिनु पुत्तर जाया ॥ जन्मते पुत्र ने सभी कुटुम्ब को खाया ॥ बिन अङ्ग संग वो पितासे जाके करता ॥ बिन बदन पिता मुख चूम अंक में धरता ॥ ऐसी अचरज की बात हुई अरु होगी ॥ २ ॥ बिन नीर समुद्र बीच कुवां पनिघट का । हिल मिल के सखी जल भरें न डूबे मटका ॥ यक पथिक मुसाफिर आन कुवे पर अटका ॥ वो जल मांगे वो करे सैन घूंघट का ॥ जब चढ़ा वारी तो पथिक नार भय सोगी ॥ ३ ॥ यह गुप्त ज्ञान बिन श्रवण से जो सुनिलेवे । बिन बुद्धि से समझ रमझ में रहवे ॥ यह वचन कहे विपरीत मजा तुझे देवे । उलटे को सुलटा चीन्ह और क्या कहिवे ॥ ध्रू जनम मरन की सभी अविद्या खोगी ॥ ४ ॥

२३९ लावनी

बिना मूल यक फूल गगन बिनु देखा ॥ तिस गुल में गुल खिल रहे गिनति नहिं लेखा ॥ टेक ॥ यक बिन अचरज की बात कहो बिनु बानी । कोई मूरख लेवे समझ समझे नहिं ज्ञानी ॥ अमृत का बना तलाब अगिन ने फूंका । यक खाता है दिन रात मरे नित भूका ॥ धारे सूक्ष्म स्थूल रूप नहिं रेखा ॥ १ ॥ धरनी से बिनु दरियाव पड़ा यक बहता । बिन पानी का हुवाब तिसमें नित रहता ॥ शीतल अग्नी ने फूंक दिया जग सारा ॥ बिन ईंधन

लकड़ी जला सभी विस्तार ॥ बिन नेत्र यह ख्याल सभी हम पेखा ॥ २ ॥ बुद्धी बिन करै विचार पंडिता कहिये । बुद्धी से करै विचार मूरखा लहिये ॥ बिनु पर से पक्षी उड़े पर से गिर जावे । बिनु चोंच चुगे को चुगे फेर मरजावे ॥ यक गगन माहिं नित ठोंकत डोलत मेखा ॥ ३ ॥ कोई समझे मूढ़ गंवार चतुर क्या जाने । परघट को कहते गुप्त नहीं पहिचाने ॥ सो सदा एक है जिसे ध्रू कहे चलता । सो कहिये शीतल रूप देखैं तिसे जलता ॥ सो धरे बहुत से रूप एक का एका ॥ २ ॥

२४० लावनी

मैं आशिक हूँ अलमस्त दीद तेरे पै । दे दरश कृपा कर निगेह हाल मेरे पै ॥टेक॥ आलिमों में सुनी तारीफ जिया घबराया । उस दिन से मेरा होश हवाश भुलाया ॥ धन माल लुटा इस जग से ख्याल उठाया ॥ कर खराब अपना हाल तेरा कहलाया ॥

शेर- इश्क में बीमार तेरी शान पर कुरबान हूँ ।
मुहब्बत जिगर में बसिगई, यह हाल मैं किस से कहूँ ॥
तुझ से जुदाई का यह सदमा, आप खुद दिल में सहूँ ।
सीड़ी पागल सब कहें, मैं ध्यान तेरे में रहूँ ॥

अब आसन मैंने किया तेरे चेहरे पै ॥ १ ॥ जब अहा अहा कर मरने लगा यक दम से ॥ तब दिल में रोशन हुदा चांद पूनम से। दिलवर से दिल मिल गया वो आप सनम से । माशूक ने हंसकर कहा न रख दिल गम से ॥

शेर- माशूक मेरा मुझको मिला, दिल में वही दिलदार है।
मिलता है मुझको प्रेम से देता दरश हरवार है ।।
तबियत से वह जाता नहीं, करता वो मुझ से प्यार है।
सूरत वो मन में बस रही, माशूक मेरा दिलदार है ।।

जैसा काला नाग मस्त लहरे पै ।। २ ।। माशूक ये मेरा जिसकी निगेह आजावे ।। उस निगेह से सारा जगत प्रलय हो जावे। वो फेरे निगह तो सब रोशन हो जावे ।। पल पल में प्यारा अजब खेल दिखलावे ।।—

शेर- जिसकी चमक को पायकर यह चमकता संसार है।
सब रोशनी रोशन है उससे, यों कहत मस्त पुकार है ।।
उसकी रोशनी पाय के, फिरते सभी नर नार है।
सब के शामिल मिल रहा, सब से जुदा यक तार है ।।

वो मुझ में है मैं हूँ उसके चेहरे पै ।। ३ ।। दुनियां से धोकर हाथ सनम को पाया ।। वो मिला मुझे महबूब रंज बिसराया ।। इस विश्व में वोही विश्वंभर कहलाया ।। यह नाम रूप सत्र ही है उसकी माया ।।—

शेर- सर्व में सर्वज्ञ है, वो सर्व में भरपूर है।
ज्ञान दृष्टी से मिले, अज्ञान से वो दूर है ।।
आशिक होके हटता नहीं, मिलता उसे जरूर है।
सत्य आनंदकंद मेरा, गुप्त असली नूर है ।।

ध्रू रहता है हर वक्त तेरे सहारे पै ।। ४ ।।

२४१ लावनी (रंगत लंगड़ी)

इश्क आशिक पूरे करते, घर को कर बरबाद कदम माशूक की तरफ धरते ॥ टेक ॥ लौ माशूक से लगी रहती, चश्म से जलधारा बहती। इन्द्रिय नहिं और विषय गहती, तबियत माशूक को चहती

दोहा- दुनियाँ से हो तर्क, गर्क यक माशूक के माहीं।
दम पै दम यह निकला जाता, सूझत कछु नाहीं ॥

सनम क्यों अलग २ हटते ॥ १ ॥ इश्क का जोश हुआ भरपूर, दीखन लगा सनम का नूर ॥ जिसपै गिरा हूँ होकर चूर, उसी का रहता मुझे गरूर ।—

दोहा- मुझको मुसीबत देते हो, क्यों हँसते हो मुख फेर ॥
गले लगाकर मिलो आप अब, क्यों करते हो देर।

हुये दिन बहुत अलग रहते ॥ २ ॥ दयाकर दिया दरश मुझको, कहूँ मैं क्या क्या अब तुझको ॥ समझ आती है समझे को, पहुँचा अब तेरे दरजे को ॥—

दोहा- जब से माशूक मिला, शोच अब रहा न मिलने का।
दोनों की तबियत एक हुई, नहिं जिगर है हिलने का ॥

फेर अब उलटे नहिं फिरते ॥ ३ ॥ आशिक माशूक एक ही जान। जैसे घी चिकनाई ले गान ॥ इश्क यह हक्कानी पहिचान।
सीखले गुप्त गुरू से ज्ञान ॥—

दोहा- गोवर्धन घनश्याम कृष्ण की, दिल से रखियो याद।
जन्म धरेका सार यही है जगको कर बरबाद ॥

धुरूकर इश्क बिना सिरते ॥

२४२ लावनी

शिकारी हम हैं पूरे यार ॥ जिस तन के बन में चंचल मिरघा खेलत वही शिकार ॥ टेक ॥ चरै जहं मिरघन की टोली ॥ मारते बिन दारू गोली ॥ मिरघी दस एक मिरघा काला ॥ कि जिनके सिर पर दो भाला ॥—

दोहा- धरनी बिनु मिरघा चरे, बिन जामी खेती खाय ।
सूरदास को भासते, नेत्र से दीखे नाय ॥

खाते नहिं चारा न्यार । जगत सब तिनको किया ख्वार ॥ १ ॥ मिरघा के नहीं बदन नहिं गात ॥ खाने को खाता है दिन रात ॥ गिने नहिं संध्या अरु परभात । पैर बिन मारे सब के लात ॥

दोहा-बिनु अचरज की बात यह, करके देखो ख्याल ।
सोई पूरा पारधी, जिन गेरा मिरघ पर जाल ॥

बिन कर पकड़े दो सींग, पटकि बिनु धरनी दिया पछार ॥ २ ॥ बिना कर पकड़ी हमें कमान, खेंचि मिरघा के मारा बान । लगा बिन सरका जिसके तीर ॥ मिटी मिरघा की सगरी पीर ॥

दोहा-सुखी भया मिरघा चरे, ना कहिं राग न दोष ।
मारे ते सो अमर भया है, करिके देखो होस ॥

अजर अमर अब भया, तिसे नहीं सकता कोई मार ॥ ३ ॥ गुप्त का ऐसा ही परभाव, चले नहिं जिस पर कोई दाव ॥ कही मृग मारन की युक्ती, इसी से पावत है मुक्ती ॥—

दोहा- बेदरदी व्हे मिरघा मारे, जब होवे आनन्द ।
जो कोइ रक्षा करे जीव की, सो पड़े काल के फंद ॥
इस विधि सुधरे सब काज, आज हम कहते यही पुकार ॥ ४ ॥

२४३ लावनी

मान कही तजिदे भरम विकार। इस नरके तन को पाय कीजिये, इस से कछू विचार ॥ टेक ॥ कि यह तन ऐसा है नीका ॥ देव ब्रह्मादिक का टीका ॥ यही उद्धारन है जीका ॥ भक्ति बिनु क्यों रखता फीका ॥—

शेर-यह मानुष तन तोको मिला, कुछ करके देख विचार जी ।
यक पलक माहीं नाश हो, पछतायगा फिर यार जी ॥
दिल अन्दर करो विचार, फेर तुझे मिले न दूजी बार ॥ १ ॥
करो अब अब इसमें कछू विचार, कौन मैं को यह सब संसार॥
किसके यह रहता है आधार ॥ यही है सब सारन का सार ॥—

शेर-माला में मनका रहे, सब सूत्र के आधार जी ॥
सूत्र तिनमें एक है, सब मनिकों का व्यभिचार जी ॥
ऐसेई जाग्रत् अरु सुषुपती, आतम के आधार ॥ २ ॥ सोई है व्यापक ब्रह्म स्वरूप, फेर नहीं पड़ते हैं भव कूप ॥—

शेर-अगर जोतू चाहै एकताई, तो जुदाई तोड़दे ॥
यक आव दिल में समझ के, सब बुद बुदाई छोड़दे ॥
अब पंच-कोष अरु तीन-देह का, पटको शिर तें भार ॥३॥ रोग

की औषधि बतलाई, सेवन पथ से कीजै भाई ॥ दूर हो मन की सब काई, बात यह वेदों ने गाई ॥—

शेर-यह वक्त बीता जात है, कर लीजिये इस काज को ।

अब गुप्तसागर मार गोता, छोड़ जगकी लाज को ॥

इस तन का तज हंकार, चपरि के मत ना बने चमार ॥ ४ ॥

२४४ लावनी

पड़ा क्या गफलत मैं सोवे ॥ काया का काचा कोट काल की पड़े चोट रोवे ॥ टेक ॥ काल का जग में माचा शोर, किसी का चले न उस पर जोर ॥ गिने नहिं साहूकार अरु चोर, आपना पर का गिनता और—

शेर-इस काल ने खाली किये, सब लोक अरु लोकपती ।

निर्भय होकर मारता, बचता नहीं योगी यती ॥

कछु घालि रहा मुख माहिं, कछुक तो रांधे कछु पोवे ॥१॥ तजै जो अधिमौतिक हंकार, काल की पड़े न उस पर मार ॥ सोई है सब कालन का काल, काल का पड़े न उस पर जाल ॥—

शेर-अग्नि से वह जलता नहीं, जल नहिं सकता गाल वे ।

हवा से सूखे नहीं, क्या करे तिसका काल वे ॥

कर देखो दिल में ख्याल, लाल को क्यों विरथा खोवे ॥ २ ॥ लीजिये सत संगति की ओट, दूर होवे सब तेरे खोट । पहिर ले ज्ञान कवच का कोट, वहां पर चले न यम की चोट—

शेर-चारों कहें पुकार के, ज्ञान बिनु मुक्ती नहीं ।
तू समझ अपने जहन में यह बात हम तोसों कही ॥
मन तागा कर बारीक, ब्रह्म में क्यों ना अब पोंवे ॥३॥ ज्ञान के सुन लीजे साधन, विवेक वैराग होय सम्पन्न ॥ विषय तें रोके इन्द्रिय मन, यही है सब पुन्यन का पुन ॥—

शेर-जब साफ अन्तःकरण हो, नहिं रहे मल विक्षेप को ।
साधन कहे यह ज्ञान के, फिर पावे तिस से मोक्ष को ॥
यह पाया तुझ को वक्त, गुप्त को पाय मैल धोवे ॥ ४ ॥

२४५ लावनी

नीर बिनु चले कूप दिन रात, बिनु बैल चर्स बिनु लाव नहीं कोई, हाकनवाला साथ ॥ टेक ॥ कुवे पर पनघट लागे चार, नीर भरने को चली है नार । मार्ग में पड़ते विघन अपार, कूप पै पहुँचे कोई पनिहार ॥—

शेर-जिस मारग में विषयर सर्प है, दन्त बिनु सब को डसे ।
जहर सब तन में चढ़े, प्राण काया से नसे ॥
बिनु जल नहिं जावे प्यास, पास कुवे के कैसे जात ॥ १ ॥ मिले कोई बाजीगर सूरा, सर्प का मन्त्र दे पूरा ॥ करै जब उस मन्तर का जाप, फेर नहिं चढ़ता विष का ताप ॥—

शेर-यह मन्त्र जिस के पास है, फिर सर्प का कुछ डर नहीं।
उसको कछू संशा नहीं, वह कूप पर पहुँचे सही ॥

दूजा नहिं सकता जाय, समझ हम कहते सच्ची बात ॥ २ ॥
कोई नर आवे नार के पास, देखकर मिट जावे सब प्यास ॥ पिवे से होवे जीव का नाश, झूठ जाने बुद्धी चिदाभास—

शेर-ऐसा जो अद्भुद नीर है, पीवे सोई मरजात है ॥
जिसने न पीया नीर वह, सो जग में गोता खात है ॥

कोइ मूरख समझे रमज, वचन वानी से कही नहिं जात ॥ ३ ॥
कूप है बिना धरणी आकाश, जहां पर कोई नहिं संताप ॥
सदा रहता है गुप्त प्रकाश, जगत से होकर देखा उदास ॥—

शेर-कूप अपने पास है, सतगुरु बिना समझे नहीं ॥
सब कहते सन्त पुकार के, यह बात वेदों में कही ॥

अब करो वतन का यतन, नीर यों वही उमर सब जात ॥ ४ ॥

२४६ कवित्त (अलौकिक)

पायो नरतन यार यामें कीजिये बिचार कछू, सार औ असार कहा देखिये बिचार के ॥ वृथा मत खोवे मूढ अन्त माहिं रोवे कैसे, भ्रम माहिं सोवे तुझे कहत पुकार के ॥ बार बार तोसों कही आयु जात सब वही, मानिलीजे मेरी कही टुक बात को निहार के ॥ जब पावेगा गुप्त तब होवेगा मुक्त, झूंठा जानिये जगत चित लीजे यही धार के ॥

२४७ कवित्त

काल विकराल सो तो करत है बुरो हाल, काहू से न करे

टाल सोचिये विचार के ॥ गज चींटी पर्यन्त करे सबहू को अन्त, ऐसे कहें सब सन्त काल गेरत है मार के ॥ यह काल भलो पायो नरतन यामे आयो, तज मोह और माया वैराग धार लीजिये ॥ जबलों नाहीं निरवेद तब लों पावत है खेद, यों पुकार कहे वेद गुप्तरूप जान लीजिये ॥

२४८ कवित्त

कछू कीजिये विचार नरतन को यह सार, आप रूप को संभारकर अमिय रस पीजिये ॥ तत्वमशि को विचार देख सार वा असार, सार को विचार वा असार दूर कीजिये ॥ पावे वस्तू अनूप ताकी दीजिये न ऊप कोई, आपनो स्वरूप सोई और ना पतीजिये ॥ द्वैत मन धरे सो तो गर्भ माहिं जरे, द्वैत दूर करे सो तो परमपद पाइये ॥

२४९ कवित्त

जामें हाड़ और चाम ऐसो वस्यो है यह गांम, करना जो काम सो तो याही माहिं कीजिये ॥ सुत दारा परिवार सब जानिये असार, तोसों कही बार बार छिन एकही में छीजिये ॥ कीजे काम कोउ ऐसा जामें लागत न पैसा, छोड़ दीजे ऐसां वैसा एक ईश चित्त दीजिये ॥ कहे गुप्त जो पुकार ऐसा निश्चय धुरू धार, एक वा हजार वार यही सुन लीजिये ॥

२५० कवित्त

पांव से चलत वस्तु कर से गहत, मुख से कहत शब्द श्रवण

सुनत है ॥ रूप नयन से लखत रस रसना चखत, त्वचा शीत को सहत मन राग को धरत है ॥ देह को संघात कृत्य देह से करत आप, देही तो असंग रंग और ना लहत है ॥ दृश्य तो असत्य आपही को जाने सत, विचार यों करत जग-कूप ना परत है ॥ आस जो तजत गुप्त रूप को मिलत, होके निजानन्द बन्ध बिनु विचरत है ॥ वेद यों भनत स्वरूप माहिं होय गत, धुरु लक्ष पाय चुप आपही रहत है ॥

२५१ कवित्त

मान महिमान रूप आपनो पिछान, दृश्य नाशवान जान हाट केसो मेला है ॥ कर्म ही के योग आप बनो है संयोग, कर्म के वियोग भोग त्याग लेत गेला है ॥ यातें तूतो निष्कर्म सब देह धर्म, स्व कर्म पाय के करत नाहिं हेला है ॥ ऐसो तत्व ज्ञान गुप्त जामें नाहीं बंध मुक्त, धुरु निश्चय युक्त जहां अंध ना उजेला है ॥

२५२ कवित्त

ज्ञान सागर में न्हावो माया मलको बहावो, ऐसा दाव नहीं पावो यह बात सुन लीजिये ॥ ऐसे जल माहीं न्हावे जब शांति चित्त आवे, तब और ना सुहावे कछु आपने में रीझिये ॥ जान्या आपने को आप जब मिटे तीनों ताप, जपै कौनहू का जाप कहो काज कौन कीजिये ॥ करना भयो सब दूर गुप्त रूप है भरपूर, सोई आपना है नूर समझ यह लीजिये ॥

२५३ कवित्त

चित्र यह विचित्र चित्र-मैन सैन संग लिये, तानके सुमनवान जन उर मारे है ॥ मतीमान जो महान मति ताकी करैहान, मूरख अज्ञान को बखान कौन करै है ॥ ललना को लोभ देय तन धन हरिलेय, मनको संताप आप पाप माहिं डारे है ॥ ऐसो है अनंग अंग बिन संग जाय करै, मारके सुचेत मार मरेहुये मारे है ॥ गुप्त शिवको सरूप महिमा जाकी है अनूप, मार मारे चूप शिव भक्त ना निहारे है ॥ ध्रुवशिवरूप जान तासे होवे काम हान शिवके स्वरुप बिन सबको पछारे है ॥

२५४ कवित्त

देखिये सुजन जन देखने के योग्य आप, आपको निहार जाप देवका मिटाइये ॥ जाग्रत सुपन सुषोपति क्षीन मन, तिनको जो साक्षी सो तो तुरिया कहाइये ॥ ऐसा तुरिया स्वरूप तुहीं तुझ बिन और नहीं, वेद महावाक्य सही संत अनुभव से गाइये ॥ गुप्त रूप को पिछान कीजे माया मल हान, ध्रुव लक्ष जानि कहां जाइये न आइये ॥

२५५ सवैया

रूप अरूप सरूप हो भासत, देखिये चित्र विचित्र बने हैं ॥ पुत्र कलत्र मित्र आदि बहु, आंख से देखत शास्त्र सुने हैं ॥ देह से आदि क्रिया जितनी, उतनी सबही पल माहिं हने हैं ॥ बांझ

को पूत अकाश को पुष्प, इनी सबही यह वेदभने हैं ॥ चित्त चित्तेरे रच्यो यह कौतुक, स्वप्न समान यह चित्त जने हैं। गुप्त है सार असार सभी, ध्रुवडर डारि के ज्ञानगुने हैं ॥

२५६ सवैया

संत शिरोमणि जे जगमें, जिन पूरण ब्रह्महि आप पिछाना ॥ हूँ परिपूरण एक सदा, द्वैत अद्वैत नहीं कछु नाना ॥ ईश्वर जीवका भेद नहीं कछु भेद उपाधिहि कृत्त बखाना ॥ उपाधि उपाधी के धर्म सभी, मुझ गुप्त सरूप में नाहिं समाना ॥

२५७ सवैया

तन, के बन में तृष्णा हिरनो, जेहि मारन हरिजन चित्त लुभायो ॥ गमकी बंदूक भरी घट में, शीतल बैन पलीत लगाओ ॥ ज्ञानकी गोली लगी तत्काल, मरी मिरघी मन में हरषायो ॥ करनी की करद से छील बनाई, वैष्णव होत कवाब के खायो ॥

२५८ सवैया

काम-कबूतर तामस-तीतर, ज्ञान के खड़ग से मारि गिराये ॥ पंख परपंच के दूरि किये, मोह के अस्थि निकारि डराये ॥ संयम कूट विचार मसाला, साधु की संगति सीक लगाये ॥ ब्रह्म हुतासन सेंकि बावरे, वैष्णव होत कवाब के खाये ॥

२५९ झूलना

भरम की भंग पी बावला हो रहा, वकत है औरते और बानी,

पुन्य अरु पाप करि ॥ सुख दुख भोगता, जन्मूं अरू मरूंहूं जीव अज्ञानी ॥ होश कर देख तू आपने आपको, तू कछु औरते और जानी ॥ शेरतूं केहरी भेड़ क्यों हो रहा, आपनी सुधतैं नाहिं आनी ॥ आपको भूल कर दुख भुगते सदा, रोबता फिरैगा चारि खानी ॥ नाकछु हुया ना है कछु हो गया, दीखे सुने सो भर्म मरु थल पानी ॥ जीव अरु ब्रह्म का भेद कहुँ है नहीं, सिंधू के माहिं ज़ब बूंद सानी ॥ कहे गुप्त आनन्द सत चित आनन्द तू, गुरु औ वेद से हम यह जानी ॥

२६० झूला

यह पाया मनुष शरीर, मास यह सावन का आया ॥टेक॥ दया धरम का रस्सा करिये झूला घलवाया ॥ प्रेम पटरिया रखि के जिस पर झूलन को आया ॥ १ ॥ पांच सहेली संग में लेकर मंगल को गाया, मनुवा मगन भया डोलत है जब आप रूप पाया ॥ २ ॥ ब्रह्म राग को गाने लाग्या, आनन्द झड़ लाया ॥ सब भरम करम मिटि गये, जहाँ पर रही नहीं माया ॥ ३ ॥ ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर गुप्त रूप पाया, ध्रू अब मरना दूरि हुआ नहिं फेर जन्म पाया ॥ ४ ॥

२६१ झूला

झूलत है सन्त सुजान, देखि झूले की अजब बहार ॥टेक॥ ऐसा झूला संत झूलि कर हो गये पल्ले पार ॥ भवसागर की

नदियाँ गहेरीं, वह गये मूढ़ गंवार ॥ १ ॥ गगन मंडल में झूला घाला, पवन चले यक तार ॥ इड़ा पिंगला सुषुम्नाद्वारा, चढ़ गये दसवें द्वार ॥ २ ॥ निर्भय होकर रहे जहाँ पर पड़े न काल की मार, अजपा ताली लगी गगन में टूटत नाहीं तार ॥ ३ ॥ गुप्त गुफा में बाजे बाजे ब्रह्मानन्द झंकार ॥ ढोलक झाँझ बजे हरमुनियाँ बाजत धुरू सितार ॥ ४ ॥

२६२ झूला

ना जानों कल क्या होय, आज कर लीजे यारो काज ॥टेक॥ नर-नारायणी देह मिली है, सब शोभा का साज ॥ इसमें कछु गफलत नहिं करनी, झूठा सभी समाज ॥ १ ॥ काल सभी के सिर पर खेले, क्या रइयत क्या राज ॥ पल में तोकों पकड़ि पछारे, ज्यों तीतर को बाज ॥ २ ॥ सत संगति नौका में बैठो, छोड़ जगत की लाज ॥ वेद टेर कर कहता तोको, सब प्रमाण सिरताज ॥३॥ गुप्त रूप को जबही पावे, मिटै विषय की खाज ॥ ब्रह्मानन्द मगन भये मन में, ध्रुव निश्चय भयो आज ॥ ४ ॥

२६३ झूला

कहूँ तोहि समुझाय, देख टुक झूले का आनंद ॥ टेक ॥ इस झूले पर जो नर झूले, कटि जाय यम के फन्द ॥ आशा तृष्णा राग द्वेष जहाँ, कोई नहीं दुख द्वंद ॥ १ ॥ जिन झूले पर झोंटा खाया, पार भयेभवसिंध ॥ जानत हैं कोई जानन हारे, क्या जाने

मति मंद ॥२॥ झूला झूलत मिला पियारा, आनन्दन का कंद ॥ सभी जगह में व्यापक ऐसे, जैसे गुलों में गंध ॥ ३ ॥ ब्रह्मानन्द भरा है सब में सोई गुप्तानन्द ॥ ध्रुव यह बात समझ के विचरत, ज्यों पूनम का चन्द ॥ ४ ॥

२६४ झूला

जग में सोई बड़ भाग, सुजन जन झूलि रहे झूला ॥ टेक॥ सुख दुख सभी एक सम जाने, ना कोइ प्रतिकूला ॥ सब कर्म भये जल छार, जल्या जब ज्ञान अगिन चूला ॥ १ ॥ हुआ ज्ञान अगिन परकाश, अविद्या नाश-गई मूला ॥ हम रहते हैं वे खौफ कहा अब कर सकती तूला ॥ २ ॥ सुख के सागर गोता मारा मिटि गई सब सूला । जब उघड़े ज्ञान कपाट, मोक्ष का दरवाजा खूला ॥ ३ ॥ उड़ी गुप्त खुसबोय, फूल यक ब्रह्मानन्द फूला ॥ ध्रुव निश्चय भयो अगाध नहीं कुछ जान्या नहिं भूला ॥ ४ ॥

२६५ झूला

रही सुरत हिंडोले झूल, मूल में भूल नहीं पाई ॥ टेक ॥ धुन सुन मनवा मगन भया है, सुरता मुसकाई ॥ एक अखंडित ब्रह्म सुन्या जब, आप रूप पाई ॥ १ ॥ द्वैत अद्वैत भूल गई सब ही, जहां कोइ जीव नहीं माई ॥ ज्यों लोन पुतरिया जाय समुद्र में उलट नहीं आई ॥ २ ॥ शुद्ध रूप को जिसने पाया, मिटि गई सब काई ॥ कहन सुनन में कछु नहिं आवै, बात यह समझन

की भाई ॥ ब्रह्मानन्द में मगन भई जब, आनन्द अधिकाई ॥ ध्रुव पाया है गुप्त जहाँ पर, भेद नहीं राई ॥ ४ ॥

२६६ झूला (रसिया)

आयो सावन ये मन भावन, चालो गुप्तेश्वर दरबार ॥टेक॥ चित्त का चंदन प्रेम की पाती; सुरत पुष्प ले लार ॥ अगर कपूर दधी और माखन; छुटत दूध की धार ॥ १ ॥ संयम का कर थाल लिया है ज्ञान दीपलियो जार ॥ गुप्तेश्वर की पूजा करके पाया आतम दीदार ॥ २ ॥ ज्ञान घटा जब चढ़ी उमड़ के, पड़ने लगी फोहार ॥ मन चातक जब करने लाग्या, ब्रह्मानन्द पुकार ॥ ३ ॥ काया-घन में चेतन-बिजली, चमक रही चमकार ॥ ब्रह्मानन्द गुप्त भयो परघट, कहता धुरू पुकार ॥ ४ ॥

२६७ झूला

कर दिल में देखो ख्याल लाल को क्यों विरथा खोवे ॥टेक॥ लख चौरासी भरमत आया, फेर क्या गफलत में सोवे ॥ यह मानुष तन छुटि जाय, मूढ़ फ़ेर सुबुक सुबुक रोवे ॥ १ ॥ धन धाम तनय और बाम, देखिके इनको क्यों मोहे ॥ अन्त समय के माहिं, तेरा यहाँ कोई नहिं होवे ॥ २ ॥ भज परमातम देव, तेरे वह सब दुख को खोवे ॥ जनम मरन का छुटि जाय चक्कर, आनंद जब होवे ॥३॥ कर ब्रह्मानंद विचार, गुप्त में क्यों न मन मोवे ॥ घुरु निश्चय कर कीजै सुधरे, जब एक ब्रह्म जोवे ॥४॥

२६८ झूला (रसिया)

तुझे कहता गुप्त पुकार, बखत यह तुझको पाया है ॥टेक॥ जगत शहर में जीव वेपारी, सौदे आया है ॥ अब सौदा कीजे समझ बहुत टोटे ने खाया है ॥ १ ॥ जो सौदागर सौदे आया, रहने न पाया है ॥ यह काल शेर विकाराल, जिसे सब कोई खाया है ॥ २ ॥ ज्ञान कवच को पहिर, सभी यह झूठी माया है ॥ लिया तत् का तेग बनाय, काल नियरे नहिं आया है ॥ ३ ॥ जिस को पाया है नफा, सोई ब्रह्मानन्द न्हाया है ॥ गोता गुप्त लगाय, धुर फिर उलट न आया है ॥ ४ ॥

२६९ झूला (रसिया)

रंग बरसै ब्रह्मानन्द, चन्द जहां सूर नहीं तारा ॥ टेक ॥ ना कोई परकाश जहां पर, न कोइ अन्धियारा ॥ हम देखा तराजू तोल नहीं, कछु हलका नहीं भारा ॥ १ ॥ जहां नहीं पिंड नहिं प्राण, नहीं कोइ आधेय आधारा ॥ जहाँ सूक्ष्म स्थूल, तहाँ कोइ म्हारा नहिं थारा ॥ २ ॥ जहां एक नहिं दोय, वहाँ कोइ मिला नाहिं न्यारा ॥ सब माया गई बिलाय, छूटि रही है चेतन धारा ॥३॥ जहां नहिं गुप्त नहिं प्रगट, जीव अरु ब्रह्म सभी जारा ॥ जहां नहिं ध्रुव नहिं चले, जहाँ पर मधुर नहीं खारा ॥ ४ ॥

२७० झूला

घट में मचा ज्ञान का घोट, पीसि दिये बुद्धि और आभास ॥ टेक ॥ व्यापक ब्रह्म आपको जान्या, पूरण स्वतः प्रकाश ॥ जीब ईश की मिटी उपाधी, कैसे अब करिये कर्म उपास ॥१॥ स्वर्ग अरु नरक एक करि जान्या, रही न यम की त्रास ॥ भेद भरम सब दूर हुबा, सोई कुरड़ी सोई कैलास ॥ २ ॥ ब्रह्मपुरी अरु भंगी का घर, सबही होवे नास ॥ ऐसी बात समझ के प्यारे, सब छुटी जगत की आस ॥ ३ ॥ अन्धकार मिटि गया, दसहुँ दिशि हुवा ब्रह्म उजिआस ॥ गुप्त रूप भया परघट, ध्रुव जब करने लागे हास ॥ ४ ॥

२७१ झूला

जिसको समझी यह रमज तिनों की दूरि हुई शंका ॥टेक॥ उड़िगया कोट अज्ञान, टूटी जैसे रावन की लंका ॥ सब कर्म असुर हुये नाश, काल रावन का किया फंका ॥ १ ॥ चढ़ि उतरे ज्ञान के सेत, जिज्ञासू रामचन्द्र बंका ॥ जब पाई सीता मोक्ष, जीत का बाजा है डंका ॥२॥ ब्रह्मराज में अदल जमा सब, खुशी भई रंका ॥ चढि मुक्ती पुष्प विमान, अवध का आनि किया झंका ॥३॥ आनन्द में सब अवध बीतती, शोक सब दूरि हुया मन का ॥

ध्रुव गुप्त ब्रह्म को पाय, फेर कछु शोच नहीं तन का ॥ ४ ॥

—o—

२७२ ख्याल (मस्ती)

कोइ हाल मस्त कोइ माल मस्त, कोइ मैना तीतर सूये में ॥
कोइ खान मस्त पहिरान मस्त, कोइ राग रागनी धूहे में ॥
कोइ अमल मस्त कोइ रमल मस्त, कोइ सतरंज चौपड़ जूये में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब पड़े अविद्या कूवे में ॥ १ ॥
कोइ अकल मस्त कोइ शकल मस्त, कोइ चंचलताई हाँसी में ॥
कोइ वेद मस्त कत्तेव मस्त, कोइ सेवक में कोइ दासी में ॥
कोइ ग्राम मस्त कोई धाम मस्त, कोइ मक्के में कोइ काशी में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब फँसे अविद्या फाँसी में ॥२॥
कोइ हाट मस्त कोइ घाट मस्त, कोइ बन परवत उजियारा में ॥
कोइ जात मस्त कोइ पांति मस्त, कोइ तात भ्रात सुत दारा में ।
कोइ धरम मस्त कोइ करम मस्त, कोइ मजहब ठाकुर द्वारा में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब वहे अविद्या धारा में ॥ ३ ॥
कोइ पाठ मस्त कोइ ठाठ मस्त, कोइ भैरों में कोइ काली में ॥
कोइ ग्रन्थ मस्त कोइ पन्थ मस्त, कोइ खेत पीतरंग लाली में ॥
कोइ काव्य मस्त कोइ ख्वाब मस्त, कोइ पूरण में कोइ खाली में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब फँसे अविद्या जाली में ॥४॥
कोइ राज मस्त गज बाज मस्त, कोइ छपरे में कोइ पूले में ॥

कोइ युद्ध मस्त कोइ क्रुद्ध मस्त, कोइ खड्ग कुठार बसूले में ॥
कोइ प्रेम मस्त कोइ नेम मस्त, कोइ छींके में कोइ मूले में ॥
यक खुद मस्ती बिन, और मस्त सब पड़े अविद्या चूले में ॥ ५ ॥
कोइ साकि मस्त कोइ खाक मस्त, कोइ मल मल में कोइ खासे में ॥
कोइ योग मस्त कोइ भोग मस्त, कोइ स्थिर में कोइ चंचल में ॥
कोइ ऋद्धि मस्त कोइ सिद्धि मस्त, कोइ लेन देन की कलकल में ॥
यक खुद मस्ती बिन, और मस्त सब फँसे अविद्या दलदल में ॥६॥
कोई रदन मस्त कोइ बदन मस्त, कोइ पशु पक्षी के सावक में ॥
कोइ नैन मस्त कोइ बैन मस्त, कोइ लकड़ी में कोइ चाबुक में ॥
कोइ सैन मस्त कोइ चैन मस्त, कोइ नइया में कोइ बावक में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त सब पड़े अविद्या पावक में ॥ ७ ॥
कोइ इस्ट मस्त कोइ भ्रष्ट मस्त, कोइ नतिनी में कोइ नाते में ॥
कोइ नाम मस्त कोइ चाम मस्त, ईंटे में कोइ खाते में ॥
कोइ इलम मस्त कोइ चिलम मस्त, कोइ अक्षर में कोइ पाती में ॥
यक खुद मस्ती बिन, और मस्त सब कटे अविद्या कांती में ॥८॥
कोइ जीव मस्त कोइ सीव मस्त, कोइ पुस्तक में कोइ पानी में ॥
कोइ मूल मस्त कोइ तूल मस्त, कोइ साखा में कोइ डहने में ॥
कोइ लोक मस्त परलोक मस्त, कोइ ताने में कोइ बाने में ।
यक खुद मस्ती बिन, और मस्त सब कैद अविद्या खाने में ॥९॥
कोइ ऊर्ध मस्त कोइ अर्ध मस्त, कोइ बाहर में कोइ अन्तर में॥
कोइ देश मस्त परदेश मस्त, कोइ औषध में कोइ मन्तर में ॥

कोइ धाम मस्त कोइ बाम मस्त, कोइ नाटक चेटक तन्तर में ॥
यक खुद मस्ती बिन, और मस्त सब भ्रमें अविद्या जन्तर में ॥१०॥
कोइ पुष्ट मस्त कोइ तुष्ट मस्त, कोइ दीरघ में कोइ छोटे में ॥
कोइ गुफा मस्त कोइ सभा मस्त, कोइ तूंबे में कोइ लोटे में ॥
कोइ ज्ञान मस्त कोइ ध्यान मस्त, कोइ असली में कोइ खोटे में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब घुटैं अविद्या सोटे में ॥११॥
कोइ मजब मस्त कोइ गजब मस्त, कोइ कौड़ी में कोइ पैसे में ॥
कोइ एक मस्त कोइ दोय मस्त, कोइ गैया में कोइ भैंसे में ॥
कोइ मण्डल मस्त कोइ पण्डल मस्त, कोइ चेले में कोइ चेली में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब चले अविद्या गैली में ॥१२॥
कोइ टूक मस्त कोइ भूख मस्त, कोइ नंगे में कोइ चंगे में ॥
कोइ भवन मस्त कोइ गवन मस्त, कोइ मौन मस्त कोइ दंगे में ॥
कोइ नदी मस्त कोइ बदी मस्त, कोइ तीरथ में कोइ क्षेतर में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब जमे अविद्या खेतर में ॥१३॥
कोइ टिकट मस्त कोइ विकट मस्त, कोइ घंटी में कोइ सिंगल में ॥
कोइ तार मस्त पलगार मस्त, कोइ कसरत कुश्ती दंगल में ॥
कोइ बूंट मस्त कोइ कोट मस्त, कोइ टोपी में कोइ कुर्त्ते में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, कुटे अविद्या जूते में ॥ १४ ॥
कोइ राग मस्त कोइ बाग मस्त, कोइ ढोलक झांझ सितारे में ॥
कोइ शेल मस्त कोइ महल मस्त, कोइ करते शयन चौबारे में ॥
कोइ ताल मस्त कोइ ख्याल मस्त, कोइ सारंगी धोतारे में ॥

यक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, धसे अविद्या गारे में ॥१५॥
कोइ डंड मस्त कोइ संड मस्त, कोइ सन्यासी पन्थाई में ॥
कोइ कुंभ मस्त कोइ जंग मस्त, कोइ पटे मलेहेटी श्याही में ॥
कोइ हिन्दु मस्त कोइ मुसल मस्त, कोइ काजी पंडित मुल्ला में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्तसब, फँसे अविद्या गल्ला में ॥ १६ ॥
ये लौकिक मस्त कहां लग वरनों, है माया के दंगल में ॥
करै कौन इनकी गिनती, सब जकड़े है दृढ़ संगल में ॥
यक छिन में रुष्ट पुष्ट यक, छिन में स्थित लदा अमंगल में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, भूलि रहे अविद्या जंगल में ॥१७॥

दोहा—

वस्तु अनातम में फँसे, त्यागा आतम रूप ।
दुनियां में भटकत फिरे, ते मूढन के भूप ॥
आतम वस्तु त्यागि के, करें जगत् की आस ।
मृग तृष्णा के नीर से, दूर न होवे प्यास ॥

२७३ छप्पय छन्द

सो नर जानो संत अंत जिन जगका कीना, करी अविद्या नाश आप परिपूरण चीना ॥ १ ॥ रह्यो न भेद को मूल शूल अज्ञान हिराना, अद्वय अमल अपार रूप जिन निश्चय जाना ॥ २ ॥ शंका रहीन कोय मोह व्यापै नहिं माया, ना कोई तात न भ्रात नहीं कोइ जन्मी जाया ॥ ३ ॥

सदा अखंडित आतमा, चेतन पूरण शुद्ध।
गुप्त गली में बैठ कर, कोइ लखे संत पर बुद्ध ॥ ४ ॥

२७४ छप्पय छन्द

जग तजे न माया मोह, नाम अतीत कहावे। घर में लेहि कुसीद भीख पुनि माँगन जावे ॥ १ ॥ कहें एकांत वनवास संग बहु द्वंद तचावें, सोवे निरंतर रात दिन, कहे हम ध्यान लगावे ॥२॥ सो धन मध मलीन मुख, भूप सेज कर पौल पर ॥ धन लिपस्या ब्याकुल महा, सरमा पति समाहत पर ॥३॥ हर का पंथ सो दूर पंथ वह आप चलावें, रही फकीरी दूर मांगिकर पेट अघावें ॥४॥ रैनि करैं रति भोग दिने पुनि भस्म रमावै ॥ आप करें सब पाप और को धर्म सुनावें ॥ ५ ॥

इस भांति अतीत जो मैं लखे नख शिष तें अभिमान अति।
निशि वासर दमड़े चहें कबहुं न होवें राम रति ॥ ६ ॥

दोहा—

चाम चिरड़ सब जगत है, चक चूंधर पढ़ी पुरान।
षट शास्त्री पागल भये, वेदांती को उल्लू जान ॥
ये चारिहु अन्धे भये, बिना स्वरूप के ज्ञान ॥
गुप्त रूप में घट लखो, नित्य अनित्य को छान ॥

२७५ मराठी छन्द

जब तू भूला अपने आपको तब से पाप लगा भारी, जन्म

मरन का अन्त न आया, बहुत धरी सिर पर ख्वारी ॥ कभी भया तू पुरुष नपुंसक, कभी भया है बल धारी ॥ बड़े बड़े योधा रण में जीते, युद्ध किया है अति भारी ॥ कभी भया तू राजा राना, कभी भया आज्ञाकारी ॥ कभी तो दर दर फिरै माँगता, व्है सन्यासी अरु ब्रह्मचारी ॥ कभी तू ब्रह्मा कभी तू विष्णू, कभी वना है त्रिपु-रारी ॥ देव पुरीका अधिपति होकर, भोगे भोग बहुत भारी ॥ जब लग अपना आप न जाना, तब लग विपति सही भारी ॥ अब तो कहूँ समझले प्यारे, मार अविद्या मंजारी ॥ खाकी मनको पकड़ि पछारो, वश कीजै पांचो नारी ॥ तत्वमसीका अर्थ विचारो, छोड़ि जगत को सब यारी ॥ गुरु वेद का आशय समझो, श्रद्धा करिके अति भारी ॥ तत्त्वमसिका अर्थ बतावें, ऐसे गुरु पर बलिहारी ॥ वाच्य अर्थ का त्याग करा, अरु लक्ष्य अर्थ की कर त्यारी ॥ गुप्त रूप घट मांहि विचारो, बात कही तो सों सारी ॥

२७६ मराठी छन्द

जो तू सचा राम सनेही फेर जगत से नेह कहा ॥ जो तुजने घरबार तजा तब, फेर दुबारे में काम कहा ॥ १ ॥ दुख रूप जान कर कुटुम्ब तजा फिर, सेवक सती में अराम कहा ॥ जति वरण सब छोड़ि दिया, तब फेर मजब की दूकान कहा ॥ २ ॥ सो है झूंठा रामसनेही, जो इन बातों में अटकाया ॥ राम दुबारा में कथा सुनावे हाथ लिये वाणी गुटका ॥ ३ ॥ औरन को उपदेश बतावे आप फिरे जगमें भटका ॥ ज्ञान ध्यान की राह न पाई, कनक

कामिनी में अटका ॥४॥ गुप्त मते की खबर नहीं फिर, क्या फेरे कंठी माला ॥ चेला चेली फिरे मूंडता रामसनेही का साला ॥४॥

२७७ मराठी छन्द

पहलवान जग के बहु जीते, फते किये कुल ही सारे ॥ मद हंकार मान में धस गया, अन्दर लूट रहे सारे ॥ ये नित्य झपट रहे हैं तो पर, चशम खोल देखो प्यारे ॥ क्या मस्त हुवा तू फिरे जगत में, तेरे अन्दर पहलवान भारे ॥ यक पहलवान मन चालीसा है, जिसके ये चेले सारे, दस शागिर्द संग में रहते, पेंच करे न्यारे न्यारे ॥ जो कोई इन से कुश्ती जीते, पहलवान होवे पूरा ॥ कायर को ये पकड़ि पछारे, कोई जीतत है शूरा ॥ जिन गुप्तानन्द को पाय लिया, उन कुश्ती जीतो दंगल में ॥ हर्ष शोक सव मन के नाशे, अबध जात है मंगल में ॥

२७८ त्रोटक छन्द

आतम नितही परकासत है, तत्व वेत्तनकों यों भासत है ॥ जाग्रत में सबको जानत है, स्वप्ने के माहिं पिछानत है ॥ १ ॥ सुषुपति में सबका भोग करे, तुरिये में साक्षी रूप धरे ॥ यह आतम अनुगत एक रहे, सब देहन का व्यतिरेक रहे ॥ २ ॥ विश्व नहिं तेजस प्राज्ञ सभी, तुरिया तो कैसे होय जभी ॥ ऐसा निज आतम रूप तुही ॥ अस्ति भाति प्रिय रूप सही ॥ ३ ॥ सो व्यापक ब्रह्म अखंड सदा, तिसको नर जाने मूढ जुदा ॥ सत चेतन आनन्द शुद्ध तुही, धोखे महँ दुनियां जात वही ॥ ४ ॥

२७९ त्रोटक छन्द

सतसंगति नौका बैठत ना, सत्गुरु केवटिया जांचत ना ॥ कैसे उतरे भव पार जना, दिन रात लगे धन धाम मना ॥ १ ॥ तरने का सकल समाज बना, बृथा डूबत है मूढ जना ॥ सतगुरु के शब्दा लागत ना, ये मोह नींद से जागतना ॥ २ ॥ नित चौकीदार जगावत है, फिर आलस कर सोजावत है ॥ जब चोर निशा में लूटत है, जागे तब छाती कूटत है ॥ ३ ॥ जब चश्म खुली है अन्दर की, सब वस्तु भाषी मन्दिर की ॥ जब गुप्तरूप को पाया है, नहिं काल कर्म जहं माया है ॥ ४ ॥

२८० त्रोटक छन्द

जहां राम रहीम करीम नहीं । अल्ला ईश्वर की सीम नहीं ॥
जहं रंग रूप का भेद नहीं । कोई स्थिरता अरु खेद नहीं ॥१॥
जहं कागज स्याही कलम नहीं । लिखना पढ़ना कोइ इलम नहीं ।
जहं वेद कतेव कुरान नहीं । कोइ देवल देव निशान नहीं ॥ २ ॥
जहं चन्दन तारा भानु नहीं । कोइ साधन साध्य अरु ज्ञान नहीं ॥
अष्टाँग न योग समाधी है । क़ोइ सादी नाहिं अनादी है ॥ ३ ॥
चेतन चमकारा चमकत है । जहं ज्ञान ध्यान सब कल्पित है ॥
जो इन गलियन में आवेगा ॥ सो गुप्तरूप को पावेगा ॥ ४ ॥

दोहा—

जो दीखे सो है नहीं, नहिं दीखे सो जान ।
बृत्ति लक्षणा कीजिये, अरु अनुभव परमान ॥

२८१ बैत (वार)

आदित्यवार निवार सब, संभार अपने आप को ॥ और भरम सब छोड़िकर, नर जपो अस्मिजाप को ॥१॥ सोमवार अब धार समता, जार दूजा भाववे ॥ मनुष जन्म की मौज पाई, फेरन ऐसा दाववे ॥ २ ॥ मंगलवार निहार ले छवि चहूँ दिशि आनन्द भयो ॥ सत् चित्त आनन्द एक लखि, सब ताप त्रय मन के गये ॥ ३ ॥ बुद्धवार बिचार ले, अपार वार सरूप वे ॥ पारा-वारकी गम्य नाहीं, नहिं जहं छाया धूपवे ॥ ४ ॥ वृहस्पतिवार उच्चारता गुरु, गम्य लखि बेहद गये ॥ हदका दरजा छोड़ि कर, तुह देख आनन्द नित नये ॥ ५ ॥ शुक्रवार पुकारि कहता, पश्चिम को मत जाइवे ॥ पश्चिम दिशा को शूल है, नर आवे पैर फोडाय वे ॥ ६ ॥ शनिचरवार जोहार गुरु को, करत हजारन बार वे ॥ पकड़ि भुजा जिन काढ़िया, जन वहे जात मझधार वे ॥ ७ ॥ सात वार विचार ले, नर सार सब तोसों कहा ॥ तत्वं पद को शोधिले, फिर गुप्त असिपद तुहि भया ॥ ८ ॥

दोहा—

वार बैत के अर्थ का, मन में करै विंचार ॥
जीवन मुक्ति लहे वही, जन्म न दूजी वार ॥
साक्षी पूरन एक है, डोगर डहर दयाल ॥
अर्धऊर्ध अरु दसों दिशि, ना कहुं जोरा काल ॥
सो आतम कूटस्थ है, नहीं ब्रह्म से भेद ॥

भेद पाप को दूर कर, खड़ा पुकारे वेद ॥
भेद उपाधी कृत्त है, सो तू मिथ्या जान ॥
तू भूमा सुख रूप है, यही ब्रह्म का ज्ञान ॥
और ज्ञान सब ज्ञानडी, ब्रह्मज्ञान सोइ ज्ञान ॥
जैसे गोला तोप का, करता जाय मैदान ॥

२८२ बैत

बंदे जानि आतम सार बे, जो आवे देखन सुनन में सबहि को जान असार वे ॥१॥ नौखालिये हैं काल ने चौबीस पर पड़ी मारवे ॥ जो चक्रवर्ती राव थे, सब ही की उड़ि गई छारवे ॥२॥ अनगिनत विष्णू चतुरमुख थे, अनगिनत शंकर गये ॥ इनसे आदी और भी सब काल ने चटनी किये ॥३॥ आगे जो बाकी रहे, एक दिना सब को खायवे ॥ वारी धरा सुमेरू चारू, सव ही भस्म होय जाहि वे ॥४॥ यह समझ बात विचारले, इस देह की क्या आस वे ॥ फंसि कर अविद्या जाल में, झूंठ करे परलाप वे ॥५॥ वेद सतवादी कहें तिसकी भी माने नाहिं वे । सब झूंठा नाम अरु रूप है, क्यों उलझता तिस माहिं वे ॥६॥ जिमि नाम नामी भासते है, स्वप्न के मंझार वे ॥ पूज्य पूजक और पूजा द्दष्टा के आधार वे ॥७॥ खुद आप चेतन गुप्त परघट, करके देख संभाल वे ॥ सो समझ तेरा रूप है, सब कालहू का काल वे ॥८॥

२८३ सवैया छन्द

पिय से नाहिं मिली लड़की, तब गुड़ी के खेल सों खेलि रही

है ॥ जब साज सज्या तब खेल तज्या, वह बाप के ताख में मेलि गई है ॥ जैसे स्वप्ने में देव बनाय लिया, तिस देवकी सेब में आयु गई है ॥ जागि उठावत देखि रहा, तहाँ देवरु दास की गंध नहीं है ॥

सोरठा—

गुप्त गली के माहिं, ना कोई देव न दास है ॥
दीजो भर्म बहाय, एक अद्वितीय आप है ॥

२८४ वैत

बंदे जान आतम रूप वे, इस नर के तन को पाय कर क्यों पड़त है भव कूप वे ॥ भव तरन काया घाट है, सतसंग नौका बैठ वे ॥ मिलि कर गुरू मल्लाह से, इस भवके संकट काटिवे ॥१॥ जो काज करना कालि है, कर लीजिये तिसे आजवे ॥ नहिं खबर क्षण एक की, यह बिगड़ी जावे साजवे ॥ २ ॥ इस धोखे में बहुत गये हैं, आनि पकड़े कालवे ॥ माटी मिलाये भूप भारे लुटगये धन माल वे ॥ ३ ॥ भक्ती करम निष्काम के अब, साज को तुह साज वे ॥ जिस करके पावे ज्ञान को, इस जगत से मत लाजि वे ॥ ४ ॥ सब ही अविद्या जाल की, यह ईश ने भेषज रची ॥ 'अहं-ब्रह्म' मैं आप हूं, यह बात जिन के उर जची ॥ ५ ॥ जनम जिसका सफल है, पाया है अपना आप वे ॥ शांत होके बिचरते, छुटि गये हैं तीनों ताप वे ॥ ६ ॥ शंका न माने लोक की, कछु समझते नहिं वेद वे । गुरु वेद या भय मानते हैं, जिनके कुछ भेद वे ॥ ७ ॥ वह गुप्त गुप्तानन्द है, जिनको

नहीं दुख द्वंद वे ॥ वहि आप दिव्यानन्द है, नहिं पड़े यम के फंद वे ॥ ८ ॥

दोहा—

साबुन ज्ञान लगायकर, माया मल को धोय ॥
शील शिला फटकारि ले, फेर न मैला होय ॥

२८५ वैत तिथी

पूनम पूरण आतमा है,अस्ति भाति प्रिय सदा ॥ सत्चित् आनन्द एक है, सब से मिला सब से जुदा ॥ १ ॥ एकम् एक निहार ले, नर कहा देखे दूर वे ॥ झलके जलाबिम्व ज्यों सदा, सो समझ तेरा नूर वे ॥ २ ॥ दूज दुतिया दूरकर, तू सदा आपहि आप वे ॥ जन्मा न मूआ है कभी, कोइ नहीं माई बाप वे ॥३॥ तीज तीनों से जुदा, टुक खोल चश्मे जाग वे ॥ जाग्रत स्वपन सुषोपति, नहिं विश्व तेजस प्राज्ञ वे ॥ ४ ॥ चौथा चौथा पद है तुरिया, सब फूलन का फूल वे ॥ तुह सर्व में अनुस्यूत है, नहिं कारण सूक्ष्म स्थूलवे ॥ ५ ॥ पंचमी न पंचोकोष तू नर, सर्व का परकाश वे ॥ तू आप चेतन है सही, फिर करै किसकी आश वे ॥ ६ ॥ छट छान देखो दूध पानी, हंस होकर आप वे ॥ तू आप मालिक खुदखुदा, फिर करै किसका जाप वे ॥ ७ ॥ सातम सुख सरूप तेरा, दुःख का नहिं लेश वे ॥ तू कहा भूला भरम में, टुक देखना अपना देश वे ॥ ८ ॥ आठम आठों पुरी खोजो, आपन आप सँभाल वे ॥ भूत भाविष्यत् वर्तमान, तुहं सब कालन

का काल बे ॥ ९ ॥ नवमी नव द्वारन पुर्या यह, देही आतम आप वे ॥ करता नहीं करावता कछु, नहीं पुन्य न पाप वे ॥१०॥ दसमी दम का खोज करले, देख आप संभाल वे ॥ यह जड़ हवा नहिं रूप तेरा, तुहं लालन का लाल वे ॥११॥ एकादशी का व्रत आया, कीजे ताहीं संभाल वे ॥ दस इन्द्री मन रोकना, सब, छांडि जग जंजाल वे॥ १२ ॥ द्वादशी दसों दिशि आतमा है, व्यापक ज्यों नभ रूप वे ॥ दूजा हुया नहीं होयगा, किसकी दिये तहँ ऊप वे ॥ १३ ॥ त्रयोदशी जहँ त्याग नाहीं, ग्रहण भी कछु नाहिं वे ॥ कर्ता क्रिया कर्म नाहीं, नहिं न्यारा नहिं माहिं वे ॥१४॥ चौदश चतुर्दशभुवन नाहीं, नहीं तीनों लोक वे ॥ राग द्वेश की गन्ध नाहीं, नहीं हर्ष न शोक बे ॥ १५ ॥ पंचदशी पावन आत्मा जहं नहिं प्रकाशत चन्द वे ॥ बन्ध मोक्ष का भर्म तज, तुहं आप गुप्तानन्द वे ॥ १६ ॥

दोहा—

तिथी बैत के अर्थ का, चित दे करो विचार ।
जो याको धारन करै, पहुचे भव के पार ॥

२८६ बैत (नैष्ठिक)

जिस कारन फिरा बन परवत मंझार ॥ और देखे है हमको हजारों बजार ॥ पाया नहीं हमें उसका दिदार ॥ इस जग में हुया हूँ मैं अतिशय खुवार ॥ १ ॥ मिले मुरशद हमें जब कीना विचार ॥ इस तन में लखाया हमें वोही यार ॥ उस दिलवर को

देखी है दिल में बहार ॥ झलकें सूर चन्दा वहां लाखों हजार ॥२॥ नहिं तोल मोल नहिं हलका न भार ॥ नहीं दूर नेरे कछु नहीं बार पार ॥ सत् गुरु लखाया है सबका जो सार ॥ आपै में दिखाया है अपना दिदार ॥ ३ ॥ नहीं वार मोमें नहीं कछू पार॥ भीतर औ बाहर भरा एक सार ॥ घर में न देखे यह जावे बहार ॥ वस्तु गुप्त इस काया मंझार ॥ ४ ॥

२८७ बैत

पाया है हमको अमोलक जो लाल ॥ मिले सत्गुरु जो पूरे हमको दलाल ॥ काटा है तिनको सब माया का जाल ॥ कीनी मेंहर किया हमको निहाल ॥१॥ झूंठा लग्या यह माया का जाल॥ जेता जहाँ लग ये स्वर्ग अरु पताल ॥ तीनों बखत का जो जाने हैं हाल ॥ जो जानन में आवे सो झूंठा है ख्याल ॥२॥ दीन अरु दुनियां खजाना और माल ॥ सब रहजाय यहां हीं जब पड़ेगा काल ॥ देखै कवीला जो होवेगा हाल ॥ कोई चले ना बहां तेरी जो नाल ॥ ३ ॥ नहिं रिशवत को लेके वह करता है टाल ॥ करता बखत पर बह सब की परताल ॥ विवेक अरु वैराग की कीजिये नाल ॥ गुप्त ज्ञान गोली से मारो न काल ॥ ४ ॥

२८८ बैत

इस नफ़स को रोको यह करता सैतान ॥ नित उठके करता विषयों का जो पान ॥ इसे किया लुच गुड़ा और जो बेईमान ॥

कुछ देखो समझ के कर अपनी पिछान ॥ १ ॥ बन्दा नहीं अजव तेरी जो शान ॥ तुहीं खुद खुदा है क्यों होता हैरान ॥ टुक समझ के रमज को करदे मुकाम ॥ जिस करके मिलेगा अब तुमको आराम ॥ २ ॥ और कीजे नहीं कोइ दूजा जो काम ॥ खुद अहं खुद अहं कहो आठोहि याम ॥ सब पानी में गेरो कितावो कुरान ॥ कुछ इनते न होता है दिल में आराम ॥ ३ ॥ यक सच्चा अलिफ आप झूंठा जहान ॥ सब छोड़ो न यारो मजब की दुकान ॥ तुझे कहता गुप्त यह नुसखा पिछान ॥ करले दवाई होय रोगों की हान ॥ ४ ॥

२८९ बैत

जैसे तिलो में तेल है गुलो में सुगंध ॥ त्यों काया में आतम सदा है निरबंध ॥ जैसे जल में दरियाव और कल्पित है सिंध ॥ तैसे काया अरू आतम का जानो सम्बन्ध ॥ १ ॥ जैसे गुणा में होय पन्नग का भान ॥ तैसे आतम में करता कर्म ऐसे जान ॥ जैसे पुंबे के खींजे से छूटे है तार ॥ तैसेहि जानों सब जग का विस्तार ॥ २ ॥ वह तो परिणामी यह बिवर्त पिछान ॥ सुवर्ण और भूषण का एकहि मुकाम ॥ जैसे मृदू में मिथ्या घटादी असार ॥ मन्दिर औ मसजिद सब झूंठे वजार ॥ ३ ॥ जैसे गगन में नीले का व्है भान ॥ तैसे आतम में तूं काया पिछान ॥ जैसे लोहे में मिथ्या सभी हथियार ॥ गुप्त आतम में ऐसेहि जानों संसार ॥४॥

२९० बैत

जो समझे हमारे जिगर की जो वात ॥ इस दुनियां में गोता सो कबहूँ न खात। तुही ब्रह्म व्यापक तुही खुद खुदा। यही दुख भारी जो माने जुदा ॥१॥ दूजे से भय होकर देखो विचार ॥ यही कहते हैं छहूं और चारों पुकार ॥ इस मिथ्या पर दावा न कीजे रे यार ॥ सब झूंठे सौदागर और झूंठे बाजार ॥ २ ॥ यह आतम चेतन है सब का आधार ॥ दीखे सुने हैं सब झूंठे आकार ॥ तूही आप व्यापक है पूरण जो ब्रह्म ॥ जो सुनिये और कहिये सो झूंठा है भर्म ॥ ३ ॥ सत गुरु से जिसको यह पाया है मर्म ॥ तिसको न होता है जग में शरम ॥ गुप्त रूप का पाया है जिसको आनन्द ॥ सो सदा सुखी शांत जैसे पूरम का चन्द ॥ ४ ॥

२९१ शब्द

मन तू क्यों डूबे मझधारा, ले सतसंग सहारा ॥ टेक ॥ नर तन भब वारिधि के बेरे, ता चढि होऊ पारा ॥ १ ॥ कठिन समाज सुलभ सव पायो, फिर क्यों बहे गंवारा ॥ २ ॥ या नर तन को सुर वांछत है, सो तैं कियो खुवांरा ॥ ३ ॥ या तन माहिं गुप्त वृक्ष है, मूल फूल फल डारा ॥ ४ ॥

२९२ शब्द

मन तुम हरि भज उतरो पारा, और न कहूं गुजारा ॥टेक॥ भवसागर में सतसंग नैया, सतगुरु खेवन हारा ॥ १ ॥ जब सतगुरु

के शरने आवे होय अबिद्या छारा ॥ २ ॥ सतगुरु जाके बल्ली लगाबे पार करे भब धारा ॥ ३ ॥ गुप्त मते की बात जनावे देवे मूल सहारा ॥ ४ ॥

२९३ शब्द

जगत् में सोई नर जानो सूरा। अहंब्रह्म शमशेर से जिनने काटि दिया दल पूरा ॥टेक॥ महाबली अज्ञान राव का, दल साजा है पूरा ॥ सेनापति कामादिक भट हैं, बाजे जिनके तूरा ॥१॥ दुसरा दल है ज्ञान बली को, सो योधा रणधीरा ॥ सेनापति शील है जाके, सो वीरन का बीरा ॥२॥ होउ दल आनि जुड़े हैं सन्मुख, हो रही घूरम घूरा ॥ चली तेग तलवार अरु बरछी, शब्द हुया है पूरा ॥ ३ ॥ कायर होय सो भगे उलटि के, पग रोपे सो सूरा ॥ आगे ही को पैर धरत हैं, मार करे चक चूरा ॥ ४ ॥ कायर का मुख पीला पड़ गया, मन में धरे न धीरा ॥ सूरा अडिग लड़े रण माहीं, जा मुख बरसे नूरा ॥ ५ ॥ दोउ राजन का मन है मंत्री, काज करत है पूरा ॥ ताके दोय रूप तुम जानों, यक ख़ाकी यक नूरा ॥ ६ ॥ खाकी को जिन पकड़ि पछारा, वश कीना है नूरा ॥ पाँच पचीसों अफसर मारे, जब बजे ज्ञान का तूरा ॥ ७ ॥ गुप्त खजाना मिला मूल से, जब सतगुरु मिलिया पूरा ॥ ब्रह्मराज में अदल जमाया, जीत लिया तम कूरा ॥ ८ ॥

२९४ शब्द

जगत् में सोइ नर जानो सन्यासी ॥ वर्ण आश्रम मजब पन्थ

की काटि दई जिन फांसी ॥ टेक ॥ कबच काच एक कर जाना, ग्रहण त्याग बुधि नासी ॥ मन्दिर माल नहीं कछु जिनके, ना कोई दास अरु दासी ॥ १ ॥ विधि निषेध नहीं कछु जिनके, लोक वासना फांकी ॥ स्वयं इच्छा बिचरत जग माहीं, क्या मगहर क्या काशी ॥२॥ संपद का जब अर्थ विचारा, तब बुद्धि परकाशी ॥ काम क्रोध अरु आशा तृष्णा, कारण सहित विनाशी ॥३ ॥ न्यास पद का अर्थ यही है, हुये ब्रह्म के वासी ॥ गुप्त प्रकाश भयो घट अन्दर, हुये मूल अविनासी ॥ ४ ॥

२९५ छन्द सांगीत

अजी एजी देखो निज, आतम अजब अनूप । पंच कोष अरु तीन देह में व्यापक ब्रह्म सरूप ॥ टेक ॥ तुह तो भर्म माहिं भूला, कछु कीजिये संभाल ॥ धन घर माहीं दबि रह्यो, नहीं कछु ताकी भाल ॥ बिना खबर जैसे व्है रह्यो कंगाल जी ॥ अब कीजिये उपाब तोसो कहत हूँ हाल, काया घर माहिं तेरा गड़ि रह्यो धन माल ॥ गुरु अरु वेद कीजे बुद्धि कुदाल, फिर व्है भूपन का भूप ॥ पुकारि कहे वेद यामें नाहीं झूंठी बात ॥ धन है अखूट सो तो सदा रहे तेरी साथ ॥ लूटैं नाहीं चोधाड़ी खावो चहे दिन रात जी ॥ झूंठे धन काज मूढ़ लाखन उपाय करे। सच्चा धन खोजत नांहीं रण माहीं जाय मरे । औरहूं कठिन काम अतिशय अनेक करे ॥ सहे शीत अरु धूप ॥ २ ॥ सन्त जो सुजान तोसों कहत है टेरि टेरि, पैदा

सो नापैद काल मारत है घेरि घेरि ॥ समझे ना सैन तोकों कहे कौन बेर बेर जी । तत्वमसी वाक्य याको कीजिये बिचार । वाच्य अरु लक्ष याके दोनों लीजे निरधार ॥ लक्ष निज रूप लखि बाच्य ही को दीजे डार । फिर नहीं पड़ते भव कूप ॥ ३ ॥ सुनी यह बात जाके आय गयो एतवार । जाने पायो गुप्त ज्ञान सोई नर हुवे पार ॥ होती ना शरम कछु, लागे नाहीं यामें वार जी ॥ आत्मा अद्वैत लखि दूरी हुवा द्वैत ज्ञान' । जानि लई रज्जू, तब होत नासर्प भान । देह में अध्यास तैसा आतमा में अभिमान । यह अवधि ज्ञान सरूप ॥ ४ ॥

२१६ शब्द (चाल-डगरिया)

व्यापक ब्रह्म अचल अविनाशी, पूरण शुद्ध अनाम हो ॥टेक॥ जग इच्छित इच्छा जग रचियो, तन धरि धारत नाम हो ॥ ईश्वर जीवसीव सोइ बनिआ, संग माया करे काम हो ॥ १ ॥ यक बांधत यक छोड़त जग में, यक बंधे धन धाम हो ॥ यक त्यागी बनि वन वन डोलत, यक उच्छित सुत वाम हो ॥ २ ॥ यक भक्ती कर संग संतन के देखत आतम राम हो ॥ विषयासक्त विषयसंग बँधिया पेखत पामर चाम हो ॥ ३ ॥ सृष्टी प्रगट यह नष्ट हो जावे, आखिर गुप्त मुकाम हो ॥ ध्रुव सब रूप सरूप उसी का, जा बिन सबहि अकाम हो ॥ ४ ॥

२१७ शब्द

क्यों फिरता भटका, अब तू छोड़ जगत का खटका ॥टेक॥

या जग माहीं फिरे भरमता, ओढ़ि काम का पटका ॥ सिर से बोझा क्यों नहिं डारे, फोड़ि भरम का मटका ॥ १ ॥ नाना स्वांग धरेतें जग में, जैसे लड़का नटका ॥ कनक कामिनी को नित धावे, पीवे विषय रस गटका ॥ २ ॥ सतसंगति की सार न जानी, फिरता सटका सटका ॥ जब सतगुरु के शरने आवे, पावे ब्रह्म ज्ञान का लटका ॥३॥ बाहर से टुक भीतर होकर, खोज करो इस मठ का॥ गुप्त मूल की अजब मूरती, दरशन कर मोरमुकुट का ॥ ४ ॥

२९८ शब्द

मन तू सुख के सागर वसरे ॥ कहिं और न ऐसा यशरे ॥ टेक ॥ यह जग मृग तृष्णा को गारो, या में मत घसरे ॥ आतम नीर निकट बहे निर्मल, तू याको पचि चसरे ॥ १ ॥ यह संसार कीड़ा थोहर का, काटा नख और शिखरे ॥ बहुत वेर तोको समझाया ॥ तू यामें मत फँसरे ॥ २ ॥ तनक बढ़ाई पाय जगत में॥ मान लिया बड़ो यशरे ॥ यक घर छोड़ि दिया है अपना ॥ तै जा घेरे और दसरे ॥ ३ ॥ या सागर पर गुप्त घाट है ॥ जोति रही जहं चसरे ॥ मूलपैढ़ी पर पग धरि के ॥ तू गोता लगा हंस-हंसरे ॥ ४ ॥

दोहा—

इस सागर पर वे बसैं, जिनके विमल विवेक ।
डोभड़ियो में फिरत हैं, मच्छी चुगत अनेक ॥

२९९ (नवीन) होली

करलो सजन सिंगार अब, होली का दिन तो आगया ॥टेक॥ उस दिन से ये होली रचो, जिस दिन जनम को पा गया ॥ रंग देखिकर इकरार भूल्या, जग में गोता खा गया ॥ १ ॥ इकरार अपना अदा कर, धोखे में धोखा खा गया ॥ गफलत में कैसे सोवता, बाजे को काल बजा गया ॥ २ ॥ वय्म जात बाजे झांझ डफ, दम-दम पै मुरली सुना गया ॥ जागो भरम की नींद से, वोह राग मारू गा गया ॥३॥ होली उसी की सफल है, जो आतम तीर्थ न्हा गया ॥ गुप्त गोता लाय के, अज्ञान मैल बहा गया ॥४॥

दोहा—

होली सरि के नाम से, जलती होवे शान्त ।
जैसे जन प्रहलाद को, लगी न तत्ती आंच ॥
हरदम होली जलरही, समझत है कोई धीर ।
कारज अपना कीजिये, छानो नीर अरु क्षीर ॥

३०० धुलेटी

मौति होली फूंकि काया, धूल धूलेहटी मची ॥ टेक ॥ अब धाम वाम तजि कर चला, सब छोड़ि कर बच्चा बची ॥ हस्थी घोड़ा पालकी, दोलत रही दुख से सची ॥ १ ॥ मत्था हिलावे सैन लावे, नयन ले आंसू खिंची ॥ अब तो रहना ना बनैं, यह बात अंतर में जंची ॥२॥ खरचा न खाया पुत्र लाया, रोवता लेले

हिची ॥ कौड़ी न खाई सब बचाई, आज तो यह ना बची ॥३॥ तन धन को सच्चा जानता, मरने की नहिं जाने सची ॥ उस गुप्त गोविंद को भजो, जिसने यह सब माया रची ॥ ४ ॥

दोहा—

धुलेहटी जग धूलसम, जाने कोइक सन्त ।
धूल नाम अरूप का, सभी मिरद में अन्त ॥
आतम चेतन शुद्ध में, जगत् नाम है धूल ।
सो तिससे न्यारा नहीं, भिन्न लखै सोई भूल ॥

३०१ रसिया (ज्ञान घोड़ा)

अब तो चढ़ूं ज्ञान के घोड़े, तत्का तेग बनाऊँ गा ॥ टेक ॥ शुभ गुण बहुत बनाऊं शसतर, शील संतोष का धारूं बख्तर ॥ विवेक वैराग के पहिरूं वस्तर, सत् संगति रंग चढ़ाऊँगा ॥ १ ॥ प्रेम भक्ति की पाखर डारूं, शम, दम, दोय रकाब सुधारूं ॥ दया की दुमची निश्चल धारूं, लक्ष लगाम लगाऊँगा ॥ २ ॥ अज्ञान बली शत्रू को मारूं, युक्ति दृष्टान्त बनाऊं दारूं ॥ एक फैर में सब को मारूं, गुरु-गम तोप चलाऊंगा ॥ ३ ॥ गुप्त रूप स्वराज को पाऊँ, सब पर अपना हुक्म चलाऊँ ॥ एक कोस चलकर नहिं जाऊं, आप में आप समाऊंगा ॥

३०२ पद

वही यार है दिलदार मेरा, सार को बतलावता ॥ टेक ॥ पच्चीस तत्त का देह यह, स्थूल मरता जानता ॥ जाग्रत अवस्था

कोष अन्नमय, काहे में मन लावता ॥ १ ॥ सत्रह तत्व का देह सूक्षम, लीको में जाता आवता ॥ अवस्था है स्वप्न जाकी, कोष त्रयमय गावता ॥ २ ॥ अज्ञान कारण तीसरा, आनन्दमय समझावता ॥ अवस्था जाकी सुसोपति, तेरे में नहीं पावता ॥३॥ साक्षी है द्दष्टा तीन का, सो तेरा रूप लखावता । गुप्त परघट आप है, जाता नहीं कहीं आवता ॥ ४ ॥

३०३ पद

जान्या हैं अपने आप को, फिर जाप से क्या काम है ॥टेक॥ आतम विद्या जो पढ़ा, उसको क्या वेद पुराण है ॥ जो आनन्द ब्रह्मानन्द में, विषयों में कहाँ आराम है ॥ १ ॥ जो न्हाये निरमल ज्ञान से, उनको कहा असनान है ॥ मिथ्या लख्या परपंच को, उसको कहा धन धाम है ॥२॥ खुद मस्ती में जो मस्त है, उसको क्या मदिरा पान है ॥ व्यापक लख्या निज रूप को वह किसका धरता ध्यान है ॥३॥ जो आनि पकड्या काल ने, उसको क्या सुबह शाम है ॥ जो गुप्त आतम में जुड्या, उसको कहा सुत बाम है ॥ ४ ॥

३०४ पद (पूनम)

पूनम पुरुष तन पाय के, पूजन करो निज आपको ॥ टेक ॥ प्रीती के पुष्प चढ़ाय के, चन्दन लगावो जाप को ॥ करनी केसर घोलि के, कर तिलक हरदम हाथ को ॥ १ ॥ जग पूर्णिमा के बीच में, जो चन्द पूनम भाषतो ॥ त्यों काया में गुरु आत्मा,

परकाश है परकाश को ॥ २ ॥ जो ऐसी पूनम पूजता, सो खावे तीनों ताप को ॥ मैले को कैसे पूजता, जिसने पाया निज साफ को ॥ ३ ॥ गुप्त पूरण पूरि रहा, पूजन करो कोइ तासु को ॥ दृष्टी न मुष्टी आबता वह स्वास है सब स्वास को ॥ ४ ॥

३०५ पद

दीदार कर दिलदार का, काया दिवाली में सही ॥ टेक ॥ जिसे आंख से देखा चहे, वह आंखि से दीखे नहीं ॥ देखनबाला आप है, टुक मानि ले मेरी कहो ॥ १ ॥ जो स्वप्न माहीं देखता, जाग्रत में वह पाता नहीं ॥ दीखे सुने सो भर्म है, यह बात वेदों में कही ॥२॥ गोबर गऊ के उदर में, अरु दूध भी रहता वहीं ॥ ईश्वर ने कीना भिन्न वह, जिस माहिं तू गेरे दही ॥ ३ ॥ वह गुप्त गोवर्द्धन तुही, उसकी खबर तुझ को नहीं ॥ फिरता है भेड्या चाल में कछु सोचता मन में नहीं ॥ ४ ॥

३०६ पद

देव तेरा कौन ही है, जिसकी तू आशा करे ॥टेक॥ जो दान देवे हाथ से मुख से भजन हरि का करे ॥ ईश्वर की ऐसी नीति है, यह काम करता सो तिरे ॥१॥ अपने पुन्य-पाप का फल, सुख अरु दुख को धरे ॥ दूजा नहीं कोइ देव है, अपना कर्‍या आपहि भरे ॥ २ ॥ कोइ काज तेरा आय के, वह देव कबहूँ ना करे ॥ जो आस करता देव की, वह मनुष गर्दभ से परे ॥३॥ खुद आप

चेतन देव है, अपनी खबर कुछ न करे ॥ उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, बुत्त की पूजा करे ॥

३०७ पद

लक्षण कहो उस धर्म का, जिसका कथन करने लगे ॥टेक॥ सरूप कारण कौन है, विरधी को कैसे पावता ॥ स्थिती कहाँ पर रहता है, अरु नाश को धरने लगे ॥ १ ॥ विपाक तिसका कौन है, सब ही कहो समझाय के ॥ नाम मात्र वस्तु से, कुछ काज गहि सरने लगे ॥ २ ॥ लक्षण बिना परणाम के, कोई वस्तु की सिद्धी नहीं ॥ उत्तर सफाई से कहो, बिन मौत क्यों मरने लगे ॥३॥ धर्म के समूह की, दस बात हैं वह कौन सीं ॥ कहते धरम यक अंग को, यह काम क्या करने लगे ॥ ४ ॥ धर्म धर्मी से जुदा, उसकी खबर तुझको नहीं ॥ उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, धर्म में जलने लगे ॥ ५ ॥

३०८ पद

करलो जतन उस वतन का, जहं जाके नहीं आना पड़े ॥टेक॥ इस लोक की इच्छा तजो, परलोक नहीं जाना परे ॥ वह लोक अपना रूप है, भगवान गीता में पढ़े ॥ १ ॥ सोई पुरुष है शूरमा, इस मोरचे ऊपर डटे ॥ आना जाना भर्म तजि, निज रूप में नित ही लड़े ॥ २ ॥ खाना तो ऐसा चाहिये, कछु फेरि नहीं खाना परे ॥ न्हाना तो ऐसा चाहिये, कहिं फेरि नहीं न्हा पड़े ॥ ३ ॥

लेना तो ऐसा चाहिये, फेरि नहीं लेना पड़े ॥ जुड़ना उसी का सफल है, जो गुप्त आतम में जुड़े ॥ ४ ॥

३०९ राग-आरती (अष्टक)

भज शिव गुप्तानन्दे, जो कोइ भजन करे मन लाके ॥ कटि जाय यम फन्दे ॥ हर शिव गुप्तानन्दे ॥टेक॥ आरत जन की सुनों आरती, हे किरपा सिन्धे ॥ मोह जाल की फाँसी माहीं, जीव फिरे बन्धे ॥१॥ सभी कहो समझाय, कौन मैं को यह जग बन्धे ॥ अब करो अविद्या नाश, तभी हम होवें आनन्दे ॥ २ ॥ को ईश्वर को जीव, कौन रहता तिनके सन्धे ॥ क्या माया का रूप, कहो अब सत् चित् आनन्दे ॥३॥ आरति कैसे करूं तुम्हारी, तुम व्यापक जिन्दे ॥ जो कोई तुमरी करे आरती, वह बुद्धी के अन्धे ॥४॥ (उत्तर की आरती) मैं मेरा यहि मोह हुआ, अर्जुन को रण मध्ये ॥ उड़ा ज्ञान गीता, का सुन लख समधानी सन्धे ॥ ५ ॥ तुह चेतन भरपूर, दृश्य मन जगत जाल बन्धे ॥ जब होय अविद्या नाश, खिलें तब विद्या के चन्दे ॥ ६ ॥ करै शुभा शुभ कर्म, भोगता फल सुखदुख द्वन्दे ॥ शिव को कहते जीव, शिव कछु करे नहीं धन्धे ॥७॥ तत् त्वं पद में असि जो चेतन, दोनों का सन्धे ॥ त्रिगुणात्मक मिथ्या माया, गुप्तातम सत्चित् आनन्दे ॥ ८ ॥

दोहा—

पढ़े जो अष्टक आरती, सांझ समय चितलाय ॥
कोई काल अभ्यास तें, समुझे सहज सुभाय ॥

३१० स्तोत्राष्टक

मनुष्यो न देवो नहीं दैत्य यक्ष, पंडित न मूर्खो कवियो न दक्ष ॥ जाता न आता खोया न पाया, शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥ १ ॥ आश्रम न वर्णा न कुल जाति धर्मा, नहीं नाम गोत्रं शर्मा न वर्मा ॥ जाग्रत स्वप्न नहीं प्राण काया, शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥ २ ॥ देशो न कालो वृद्धो न बालो, तुरिया वितुरिया नहिं काल जालो ॥ जन्म्या न मूया जाता न आया, शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥ ३ ॥ जीवो न सीवो न अज्ञान मूलं, सुखं न दुखं नहि पाप शूलं ॥ कर्ता अकर्ता नहीं बिंब छाया, शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥ ४ ॥ मौनी न वक्ता बंधो न मुक्ता, रागं विरागं नहिं लक्ष लखता ॥ सब वाच्य अवाच्य का महल ढाया, शिवः केवलोहं निरमैल माया ॥ ५ ॥ सादी अनादी न च में समादी, स्वास्ता न शास्त्रं नहिं बाद बादी ॥ नहीं पक्ष पातं जनमी न जाया, शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥ ६ ॥ योगं वियोगं न च में समाधी, माया अविद्या न च में उपाधी ॥ शुद्धो स्वरूपं निरंजनं राया ॥ शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥ ७ ॥ गुप्ता न मुक्ता लिपता न छिपता ॥ लोका न वेदा तपता अतपता ॥ एको चिदातम् सब में समाया ॥ शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥ ८ ॥ पढ़े प्रात काले कटे यम जाले ॥ तजै आश तृष्णा संतोष पाले ॥ अष्ट स्तोत्रं में मन लगाया ॥ शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥

३११ राग-ब्रह्म अभ्यास

करो वृत्ती ब्रह्माकार, मजा कुछ जब पावे ॥ टेक ॥ अजी एजी ऊठत बैठत ब्रह्म, ब्रह्म चलिकर जावे ॥ सोवत जागत ब्रह्म, ब्रह्म पीवत खावे ॥ १ ॥ अजी एजी लेत देत है ब्रह्म, ब्रह्म झगड़ा ठावे ॥ देखत सुनता ब्रह्म, ब्रह्म नाचे गावे ॥ २ ॥ अजी एजी मन बुद्धि आदिक ब्रह्म, ब्रह्म तीरथ न्हावे ॥ उपवास करत है ब्रह्म, ब्रह्म पूजा लावे ॥ ३ ॥ अजी एजी कर्म उपासन ब्रह्म, ब्रह्म जावे आवे ॥ करत काज सब ब्रह्म, ब्रह्म की भरमावे ॥ ४ ॥ अजी एजी उपजन हारो ब्रह्म, ब्रह्म ही उपजावे ॥ पालन करता ब्रह्म, ब्रह्म ही खपि जावे ॥ ५ ॥ अजी एजी समझन हारो ब्रह्म, ब्रह्म की समझावे ॥ खोवन हारो ब्रह्म, ब्रह्म ढूंढे पावे ॥ ६ ॥ अजी एजी त्यागी रागी ब्रह्म, ब्रह्म सब करवावे ॥ जीव ईश सब ब्रह्म, ब्रह्महो भुगतावे ॥ ७ ॥ अजी एजी गुप्तरु परघट ब्रह्म, बह्म जहं मन जावे ॥ यों अभ्यास जो ब्रह्म, ब्रह्म ही हो जावे ॥ ८ ॥

दोहा—

कीट भिरंगी होत है, पुनः पुनः अभ्यास ॥
सुनि भ्रंगा के शब्द को, भ्रंग होय उड़ जात ॥

३१२ रंगति-मजेदार

कुछ मजा उसी को आया है, जो आप में आप समाया है ॥ टेक ॥ ब्रह्मानन्द किसकी तुल्य बरनों, नहिं तिसकी पटतर पाया

है ॥ १ ॥ ब्रह्मानन्द का कोई यक कतरा, सब तिरलोकी में छाया है ॥२॥ जो आनन्द चक्रवर्ती का, अरु ब्रह्मा के तक गाया है ॥३॥ ब्रह्मानन्द आनन्द के आगे, सब आनन्द-भास सुनाया है ॥ ४ ॥ ब्रह्मलोक बैकुण्ड पुरी लग, सभी काल ने खाया है ॥५॥ तन धन में आनन्द हो बैठे, यह स्वपने के सी माया है ॥ ६ ॥ जिस आनन्द को प्रापत होके, और न आनन्द चाहा है ॥ ७ ॥ गुप्तानन्द के गुप्तानन्द में जो नित उठि गोता लाया है ॥ ८ ॥

३१३ रंगति-मजेदार

सो मजा न महंगा सस्ता है, जहं संत लाड़िला बसता है ॥टेक॥ घाट वाट कुछ पावत नाहीं, वह बिकट महल का रस्ता है ॥१॥ नीम मंडेरन नाहीं महल के, कोई कैसे उसमें फंसता है ॥ २ ॥ जो करते निष्काम कर्म को, अरु मन इंद्रिय को सकता है ॥३॥ साघन चार चले रस्ते में, सत गुरु के संग धंसता है ॥ ४ ॥ अक्कल का बक्कल सब फूटा, बे अक्कल सौदा जंचता है ॥ ५ ॥ दूनी द्वैत पर आग लगी है, वह आशिक बैठे हंसता है ॥ ६ ॥ कहा कहूं शोभा अरु सुख की, लिया मुक्ति हाथ गुलदस्ता है ॥ ७ ॥ गुप्तानंद को परघट जाना, सो घट घट माहीं लसता है ॥ ८ ॥

३१४ रंगति-मजेदार

क्या मजा मिला जिन्दगानी में, सब खो दई उमर हरामी में ॥टेक॥

खेला खाया लाड़ लड़ाया, कुछ समझा नहीं नादानी में ॥ १ ॥ आई तरुनाई मस्ती छाई, लो गई काम अरु कामी में ॥ २ ॥ बच्चा बच्ची खान पान हित, फिर धन हित फंसा गुलामी में ॥३॥ आवे बुढ़ापा दे शिर थापा, हो गया अशक्त मलानी में ॥ ४ ॥ काल आय तत्काल बिनाशे, तुझे गेरे चारों खानी में ॥ ५ ॥ लाल अमोलक या नर तन को, खोय चला मैदानी में ॥ ६ ॥ ना कोई कर्म उपासन कीना, नहिं बैठा सत्संग ज्ञानी में ॥ ७ ॥ गुप्तरूप को जाना नाहीं, अतिशय हो गया हानी में ॥८॥

३१५ रंगति-मजेदार

कुछ मजा आप के जाने से, क्या है फकरानी बाने से ॥ टेक ॥ जो आनन्द सूखे टुकड़े से, सो नहीं गिजा माल के खाने से ॥ १ ॥ जो आनन्द हरि की भक्ती से, सो नहिं मोल खजाने से ॥ २ ॥ जो आनन्द वैराग में देखा, सो नहिं विषय कमाने से ॥ ३ ॥ जो आनन्द सन्तोष सवर में सो नहिं द्रव्य कमाने से ॥ ४ ॥ जो आनन्द अपने घर माहीं, सो नहिं परदेश डुलाने से ॥ ५ ॥ जो आनन्द अपने समझन में, सो नहिं लोक रिझाने से ॥ ६ ॥ जो आनन्द एकान्त देश में, सो नहिं मन के भरमाने से ॥ ७ ॥ सभी आनन्द गुप्तानन्द से, आप में आप समाने से ॥ ८ ॥

३१६ कुटुम्बजन्य दुःख; हरि-हर सम्वाद

दोहा—

मिले हरी हर परम्पर, हँसि पूंछी कुशलात ।
हरि ही हर से यों कह्यो, किस विधि माड़ो गात ॥

कुण्डलिया

सुनि के हरि के वचन को, हर हरषे उर माहिं ।
मोंसेती पूछन लगे, तुम क्या जानो नाहिं ॥
दिया बिरोधी कुटुम्ब, अहर्निशि उर को जारे ।
मेरा बाहन बैल, सती का शेर दहाड़े ॥
कार्तिक स्वामी के मारे, तुंडी को मूषक धारे ।
मोगल माहीं सर्प, डरें अरु बहुत फुंकारे ॥
कुटुम्ब बिरोधी देखि के, जलत रहूं दिन रात ।
हरही हरि सों यो कह्यो, इस विधि माड़ो गात ॥

३१७ पद-भजन

लखि नित आतम रूप अपारा, जिसमें मिथ्या संसारा ॥टेक॥ छोड़ि जगत परबाह समझ अब, न्हावो ज्ञान की धारा ॥ काल कर्म का छुटै मैल सब, जब होवे उद्धारा ॥ १ ॥ आतम सदा असंग रहत है, लिपै न देह विकारा ॥ ज्यों जल माहीं कमल रहत है, जल स्पर्श से न्यारा ॥२॥ पंच कोष अरु तीन देह में, व्याप रहा सारा ॥ कटे न सूखे जल से भींगे, अग्नि ने नहीं जारा ॥३॥ गुप्त

अरु परघट सभी ठोर में, सो है रूप तुम्हारा ॥ जैसे घृत दूध में रहता, सभी जगह यक सारा ॥ ४ ॥

३१८ पद-भजन

शास्त्र वेद सभी समझावे, यक आतम सत्य बतावे ॥टेक॥ सुनि गुरु मुख से ज्ञान आपने, मन में क्यों ना लावे ॥ भर्म जाल उड़ि जावे तेरा, पूरण पद को पावे ॥ १ ॥ बैठि एकांत विचार करो जो, सतगुरु बात बतावे ॥ तीरथ बरत धरम सब मन के, उलझि उलझि मरजावे ॥ २ ॥ तुहीं शुद्ध सच्चिदानन्द फिर, काहे को मन भटकावे। जिसको अमृत पान किया, वह काहे को खल खावे ॥३॥ बाहर अन्तर रूप आपना, खोजन किसको जावे। गुप्त रू परघट जड़ चेतन में, अपना आप लखावे ॥ ४ ॥

३१९ शब्द (धनासरी)

आतम जोती सब घट माहीं, विन सतगुरु वह सूजत नाहीं ॥ टेक ॥ जैसे द्रव्य गड़्या घर भीतर, विन भेदी वह पावत नाहीं ॥ जैसे घृत दूध में रहता, विन मंथन वह निकसत नाहीं ॥ १ ॥ ज्यों जल बृक्ष, बृक्ष में अलना, लाल धर्‍या तिस अलने माहीं ॥ ताकी दमक पड़ी जल भीतर, खोजि रहे वह पावत नाहीं ॥ २ ॥ कोई यक चतुर पुरुष को निरख्या, लाल बता दिया अलने ताहीं ॥ त्यों जग जल में तरु नर काया, अन्तःकरण अलना दिखलाया ॥ ३ ॥ तामें आतम लाल विराजत, दमक पड़ी

जग जलधि में साजत ॥ गुप्त भेद सतगुरु से पावत, घट में ही आतम लाल बतावत ॥ ४ ॥

३२० शब्ध (भर्म नाशक)

लखि आपके तांई, दीजो भरम बहाई ॥ टेक ॥ योगी भरमि रहे योगन में, भोगी जाय फँसे भोगन में ॥ रोगी नित रोवहि रोगन में, काल निरंतर खाई ॥ १ ॥ पंडित पंडिताई में भूले, काजी पड़े कजा के चूल्हे ॥ धारापती मान में फूले, मूरख मूरखताई ॥२॥ कोई विद्या वैराग त्याग में, कोई धूनीला जले आग में ॥ सार वस्तु के फिरे त्याग में, नाहक उमर गमाई ॥ ३ ॥ कोई कोई जन उभरे चौरासी, नेम नहीं गृही सन्यासी ॥ जिसको लख्या गुप्त अविनाशी, सभी ठौर के माहीं ॥ ४ ॥

३२१ पद (जैन धर्म प्रकाशक)

हुया मजहब दिवाना, करता फिरे व्याख्याना ॥ टेक ॥ सोई जैनी आप को जान्या, भेद भर्म सब खोया नाना ॥ पाप पुन्य का मूल उड़ाना, तीर लक्ष में ताना ॥ १ ॥ तन सराय में असंग रहत है, सोई सरावगी सार गहत है ॥ मुख से बात बनाय कहत है, छोड़े नहीं बेईमाना ॥ २ ॥ सोई ढुंडिया जानों सच्चा, जिसको घर ढूंढा है पक्का ॥ बाकी और हरामी के बच्चा, बाँधहिं थानिक थाना ॥ ३ ॥ सोई योगी यती सन्यासी, मजहब पंथ की काटी फाँसी ॥ गुप्त रूप पूरण अविनाशी, भेष पंथ को भाना ॥ ४ ॥

३२२ शब्द

अब तज मिथ्या हंकार, भार से तू क्यों बोझ मरे ॥ टेक ॥ कारण सूक्षम स्थूल तनरे, इनका तज हंकार ॥ तू चेतन भरपूर हैरे, लिपे न देह बिकार ॥ १ ॥ पंचकोष में मत फँसेरे, तेरा रूप अपार ॥ भर्म माहिं क्यों भरमतारे, अन्तर करो विचार ॥ २ ॥ सांचे सत्गुरु से मिलोरे, जब पावोगे सार ॥ झूंठे गुरु के आसरे रे, कबहुँ न होय उद्धार ॥ ३ ॥ गुप्त रूप परघट आप हैरे, जामें नहीं संसार ॥ दिल की दुई उठायदे रे, आशा तृष्णा मार ॥४॥

३२३ पद

दमकि रहा दम माहीं, रतन अमोली लाल ॥ टेक ॥ कटे न सूखे भींगता रे, करके देख सँभाल ॥ अग्नी से जलता नहीं रे, खावे न तिसको काल ॥ १ ॥ देखे क्यों ना खोज केरे, घर में है सब माल॥ जो पावे उस निधी कोरे, फेर न होय कंगाल॥२॥ मन मंजूर को लाय देरे, खोज करो संभाल ॥ चित की चकमक झाडि देरे, बुद्धि का करो कुदाल ॥ ३ ॥ सावधान इनको रखोरे, करता रहे रखवाल ॥ गुरू जौहरी, गुप्त खजाना बतलाबत ततकाल ॥ ४ ॥

३२४ पद

हमारे सतगुरु नजर निहाल, दारिद्र म्हारो दूर कियो ॥टेक॥ कोटि युगन युग भर्मियोरे, दुख नहिं दूरिहुयो ॥ एक पलक की

झलक में रे, मोहिं निहाल दियो ॥ १ ॥ झूंठे धन के कारनेरे, भटकि भटकि के मुयो ॥ सांची दौलत सतगुरु दीनी, जन्म सुफल म्हारो हुयो ॥ २ ॥ मैं निर्धन कंगाल कोरे, प्रेम प्रीति से लियो ॥ खरचा खाया बहुत लुटाया, पानी के ज्यों पियो ॥ ३ ॥ गुप्त आतमा लाल मिला जब, सुख साथी सोयो ॥ आवन जावन खेद मिट्यो सब, जीव आनन्दित हुयो ॥ ४ ॥

३२५ शब्द

काहे में करै अनुराग, मन तू मोह नींद से जाग ॥ टेक ॥ जिन के संग लाग्या तू डोले, वह सब जावे तोहिं त्याग ॥ १ ॥ सभी पदारथ दृष्ट है, अब इन से मत लाग ॥ २ ॥ परमेश्वर का शरणा पकड़ो, छुटैं करम के दाग ॥ ३ ॥ गुप्त गली में जो कोइ आवत, सुखभर खेलत फाग ॥ ४ ॥

३२६ शब्द

खोदई उमर अब सारी; नहिं सुमिरे करतार ॥ टेक ॥ जब गर्भवास में आया, नौ मास तहाँ दुख पाया ॥ किया भगती का करार ॥ १ ॥ फिर बाहर निकल के आया, योनि यन्तर में दुख पाया ॥ करन लग्या हाहाकार ॥ २ ॥ मूढ़ता में बालपन खोया, जब भूख लगी तब रोया ॥ करे माता प्यार ॥ ३ ॥ फिर तरुण अवस्था होवे, तरुणी के संग में खोवे ॥ काम की पड़गई मार ॥ ४ ॥ वह तरुण अवस्था जावै, जैसे बिजली छिप जावे

डोकरा भया गँबार ॥ ५ ॥ जब कफ बाई ने घेरा, कर दिया पौर में डेरा ॥ पड़ा यहां कूकर मार ॥ ६ ॥ अगड़ पड़ोसी सब दुखियारे, अब तुंह मर पापी हत्यारे ॥ तैने बड़े किये खुवार ॥७॥ तन में फैली बीमारी, चढ़ि आई काल असवारी ॥ सुने नहिं गुप्त पुकार ॥ ४ ॥

३२७ सवैया

पुत्र कलत्र सभी तुझे त्यागत, तूं जिन के संग लागहि डोले ॥
स्वारथ हेत से प्यार करै सब, बिन स्वारथ कोइ मुख से नहिं बोले ॥
तुह अपनी आयू सव खोवत, अन्तर बिचार कछू नहिं तोले ॥
देह दिया हरि को हरि सुमरन, ता हरि से पड़दा नहिं खोले ॥१॥

दोहा—

देखि रहा है आंखि से, सुनता है सब कान ।
तोभी नर चेते नहीं, मन ऐसा बेईमान ॥

३२८ राग तरंगा

सौदागर प्यारे, सौदा तो करिले हरी नाम का ॥ टेक ॥ नर तन पाया जग में आया, करले सुधर कमाई ॥ काल चपेटा मुख पर लागे, भूलि जावे चतुराई ॥ १ ॥ गर्भ माहिं इकरार किया था, क्यों भूलत है उसको ॥ जो उसको नहिं अदा करेगा, क्या जवाब देगा तिसको ॥ २ ॥ धन के काज साज बहु साजे, हरि से कबहुँ न लागे ॥ यहीं पै रहजाय माल खजाना, यम पकड़ि

करेगा आगे ॥ ३ ॥ अपने हाथ से करी कमाई, जोड़ि जमी में रखता ॥ नंगे हाथों चला मुसाफिर, खाख अन्त को चखता ॥४॥ लोक बढ़ाई में फूल्या, फिरता करे बहुत चतुराई ॥ काल कटारी पड़ी कंठ पर, भूलि गया लपराई ॥ ५ ॥ कैतो रहिजाय पड़ा जिमी में, कै खावेंगे भाई ॥ क्या तो जप्त राज में होवे, क्या ले जाहिं धोह जमाई ॥ ६ ॥ विद्या पढ़ी सार नहिं जान्या, जग में करी ठगाई ॥ बाँचि सरोदा स्वर को सीधा, वैदंग खूब फैलाई ॥७॥ सौदा किया नफे के कारण उलटा टोटे खाया ॥ गुप्त रूप को समझा नाहिं, पढ़ी रही सब माया ॥ ८ ॥

दोहा—

सौदा कीजे समझि के, फेर न ऐसा दाव ।
पुन्य पुंज करके मिल्या, वृथा नहीं गंवाय ॥

३२९ राग तरंगा

अरे रमिगया रमजानी, तोड़ गया है सब नाता ॥ टेक ॥ तन सराय से निकलि चल्या है, कोट किला नहिं ढाता ॥ किस मारग व्हे गया मुसाफिर, कौन ठिकाने जाता ॥ १ ॥ चाची ताई और भोजाई, बहन भानजी माता ॥ दादी भूवा मामी नानी, त्रिया कूटे माथा ॥ २ ॥ चाचा ताऊ दादा बाबा, जीजा फूफा भ्राता ॥ देह उठाय जभी में फूंक्या, सिर फोड़ दिया है ताता ॥३॥ आप किया स्नाना सभीने, करने लागे बांता ॥ दे तिलांजली चले

मगर को, तोड्या नींब का पाता ॥ ४ ॥ लंबा धोता कांख में पोथा, पंडित जी चलि आता ॥ कर्मकांड की बात सुनाके, अपनी ठीक लगाता ॥ ५ ॥ घाट ऊपर कट्टा आवे, वह भी फैल मचाता ॥ पांव दबावे भोजन खावे, सय्या पर सो जाता ॥ ६ ॥ उनके हाल की ख़बर नहीं, कुछ अपनी बात बनाता ॥ वेतो मत्था कूटिके रोवें, यह माल मजे में खाता ॥ ७ ॥ वहतो होयगया गुप्त, किसी को उसका पता न पाता ॥ ठगि ठगि माल पोपजी खाते, कैसे उसपास पहुंचाता ॥ ८ ॥

३३० सवैया

भेंड्यों की चाल में चालि रहे नर, नाहीं विचार करै घट अन्दर ॥ १ ॥ मूये का शोक पड्या अतिशय धन, लूटत पोप मचा दिया दुंदर ॥ २ ॥ स्वपने समान यह खेल वन्या, काहे पै चुनावत ऊँचे से मंदिर ॥ ३ ॥ गुप्त की बात न समझत मूरख, नाचि रह्यो ज्यों मदारी को बंदर ॥ ४ ॥

३३१ राग तरंगा

अरे गफलत के माते, बीत्या जात है यह वेला ॥ टेक ॥ कोई न तेरा संगी होगा, पकड्या जाय अकेला ॥ घड़ी पलक की खबर नहीं है, पड़रह्या काल का हेला ॥ १ ॥ यह नर देही भजन करन को पकड़ हरी का गेला ॥ हाथ न हिले पैर नहिं चलना, दाम लगे नहीं धेला ॥ २ ॥ सौदा तो नेकी का करले, छोड़ सकल

बद फैला ॥ अब तो हाट बजार लगे हैं, फिर विछुर जायगा मेला ॥ ३ ॥ घर से निकस्या भजन करन को, देखत डोलै मेला ॥ पुत्र भ्राता छोड़ि दिये हैं, अब गुरभाई अरु चेला ॥ ४ ॥ ज्ञान ध्यान अध्ययन को भूल्या, करने लग्या खेला ॥ उस दरगेह की खबर नहीं, यम पकड़ि निकालै तेला ॥ ५ ॥ माँगे माल उड़ाने लाग्या, बनि गया मोटा खेला ॥ तन पुष्टे मन पुष्ट हुया, करता कश्मीर का सैला ॥ ६ ॥ ब्रह्म ज्ञान का लक्षण करता, खावे सब के भेला ॥ मन माने जित तित सो जावे, क्या उत्तम क्या मैला ॥ ७ ॥ गुप्त भेद को समझत नाहीं, पड़्यो अविद्या झोला ॥ कभी तो मौन कभी लपराई, कभी बनि बैठत है भोला ॥ ८ ॥

३३२ कुण्डलिया

फक्कर के मक्कर नहीं, और नहीं धन माल ॥ राजी रहते उसी में, जो कुछ बीते हाल ॥ जो कुछ बीते हाल, ख्याल दूजा नहिं करते ॥ सब होय अदृष्ट आधीन मौज अपनी में चरते ॥ गुप्तानन्द में आनन्द, खावे चहे घी अरु शक्कर ॥ प्रारब्ध के वेग नहीं कुछ करते मक्कर ॥ १ ॥

३३३ भजन

नरपति चले काया कोट से, सजिगई जिसकी असवारी ॥टेक॥ हरती अरु घोड़ा सब छोड़े, काठ के तामजाम में पौढ़े ॥ कसिकर बांधि दिये दो गोड़े, अब कैसे बचे यम चोट से ॥ हुया

पुन्य पाप सब जारी ॥१॥ हाहाकार बाजते बाजे, साज सभी चलने के साजे॥ बहुत सम्बन्धी आये राजे, बह बात करे नहीं होठ से॥ हो गई पुरिअष्टक न्यारी ॥२॥ कहाँ से आय पालकी ठाई, पड़ी रही सबही ठकुराई ॥ जिनके वास्ते करी कमीई, शिर फोड़न लागे सोट से ॥ जो प्यार करते थे भारी ॥३॥ वह जीने के धोखे में रहता; काल आय ततकालहि गहता ॥ गुप्त भेद कछु नाहीं, लहता नहिं बचता यम की चोट से ॥ कर राम भजन की त्यारी ॥४॥

३३४ भजन (झगड़ा)

यह भी सब झगड़ा है, झगड़े से न्यारा दगड़ा है ॥ झगड़ा कैसे जान्या रे, हमें आतम ब्रह्म पिछानारे, ॥ झगड़ा ऐसे जान्या रे ॥ टेक ॥ पहिला झगड़ा तोहि सुनाऊँ, शास्त्रों की बात दिखाऊँ ॥ यह भी. ॥ कोई सात पदारथ गावत है, कोइ सोलह में समझावत है ॥ यह.॥ कोई पच्चीस तत्व बिवेक करे, कोइ कर्म योग में पाँव धरे, ॥ यह. ॥ कोइ ज्ञानहि ज्ञान पुकारे है, एकत्व का निश्चय धारे है ॥ यह.॥ इस विधि षट दरशन खटिक रहे ॥ अपना शिर पटकि रहे ॥ यह. ॥ घर छोंड़ि के आप फ़कीरी लुई ॥ बातें करता है अही बही ॥ यह. ॥ सेवगि शिषी लाबत है ॥ पैसे कलदार कमावत है ॥ यह. ॥ अंगमाहिंभभूती लावत है, शिर लंबे केश बढ़ावत है ॥ यह. ॥ कोइ घोटम घोट करावत है, दाढ़ी अरु मूंछ बढ़ावत है ॥ यह. ॥ गेरू का रंग लगावत है, लंबी गाती

लटकावत है ॥ यह. ॥ ऊंचे मकान बनाबे है, फीके पकबान करावे हैं ॥ यह. ॥ छापे अरु तिलक लगावत हैं; लंबीमाला लटकावत हैं ॥ यह. ॥ ठाकुर की पूजा राखत है, दिन भर परसाद ही चाखत है ॥ यह. ॥ नाना विधि के भोग लगावे, ठाकुर जी का नाम बतावे ॥ यह. ॥ दुकान लगावे टके कमावे, बैठि मजे में खाबे ॥ यह. ॥ दोने चट्टा करैं बड़ाई, बड़ा सिद्ध आया है भाई ॥ यह. ॥ कोइ पढ़े पढ़ावे ज्ञान सुनावे, दमड़ों के वह ढंग लगावे ॥ यह. ॥ गली बजारों करे व्याख्याना, विद्या पढ़ी मर्म नहीं जाना ॥ यह. ॥ लई फकीरी तत्तन जाना, खाने लगा विषों का खाना ॥ यह. ॥ टूक मांगिके भरते पेट, रहें गांव के गोरे लेट ॥ यह. ॥ पोखर ऊपर कुटी बनावे, तकिया और बिछौना लावे ॥ यह. ॥ मोर छड़ी से झाडू लावे । जानि का दूध मांगिकर लावे ॥ यह. ॥ तीरथ उपवास को करते फिरते, फिर आकर काशी में मरते ॥ यह. ॥ करते संथारा मूड गवाँरा, तन सुका सुका के मारा ॥ यह. ॥ घड़ छोड़ि बसाया रामदुवारा, माला बेचिकर करे गुजारा ॥ यह. ॥ मांगि मांगि कर कौडीलावे, ऋषी केंश में कुटी बनावे ॥ यह. ॥ गंगा के तट सिद्ध बिचरते, घाटों ऊपर आसन करते ॥ यह. ॥ कटी में बाँधे लाल लंगोटे, फिरे मुकेरे जंगल झोंटे ॥ कोई काशी में विद्या पढ़ि आवे, मंडली बाँधे शिष्य बनावे ॥ यह. ॥ कोई पढ़ै पड़ावे लोक रिझावे, कोइ कविता खूब बनावे ॥ यह. ॥ कोइ कानों माहीं डाट ठुकावे,

आंखि मींचकर ध्यान लगावे ॥ यह. ॥ कोइ २ करते योग समाधी कोई बने हैं आतम वादी ॥ यह. ॥ कोई २ नाचे कोई गावे, कोई मौन गहेरहि जावे ॥ यह. ॥ माँगहि माल करै भण्डारा, बनि गया महंत बड़ा भारया ॥ यह. ॥ काँख माहिं ले चल्या पोथा, छोडि कमर ते ढोला धोता ॥ यह. ॥ पंचांग बांचि के गिरे लगावे, माल सदा ठगि ठगि के खावे ॥ यह. ॥ शंख बजाय कूटते पीतल, कभी नहीं मन होवे शीतल ॥ यह. ॥ गंडा गोली मंतर जंतर, करै कीमिया पढ़ि पढ़ि तंतर ॥ यह. ॥ पूजन लागे देवी दुरगा, काटें बकरा मारे मुरगा ॥ यह ॥ कोई वाचन लागे सरोधा, रंग रूप तत्तन का सोधा ॥ यह. ॥ स्वर को सोधि बतावे परशन, मूरख का मन करे आकर्षन ॥ यह. ॥ जो कुछ होनहार सोइ होवे, भटकि भटकि के बृथा रोवे ॥ यह. ॥ कोई बने यती सन्यासी, घर को छोड़ हुए बनवासी ॥ यह. ॥ गले में है रुद्राक्ष को माला, खाक लगाय किया मुख काला ॥ यह. ॥ ब्रह्मचारी का भेष बनावे, कौड़ी ले लीलाम बतावे ॥ यह. ॥ जीव ईश की कहा उपाधी, माया अविद्या सादी अनादी ॥ यह. ॥ तातें यह दो भेद बताये, भिन्न भिन्न कर दोनों गाये ॥ यह. ॥ महावाक्य वेदों में भाखे, भेद उपाधी कृत जो नाखे ॥ यह. ॥ भाग-त्याग की सैन बताई, वृत्ति-लक्षणा कहि समुझाई ॥ यह. ॥ रचे व्यास इतिहास पुराना, साधन साध्य ज्ञान अरु ध्याना ॥ यह. ॥ अष्टादस प्रस्थान बनाये,

अज्ञानी के मन परचाये ॥ यह. ॥ नाम रूप माया की रचना, दीखे सुनिये गुनिये तितना ॥ यह. ॥ और तरह झगड़ा नहिं टूटे, यहाँ जाय तहं कूकस कूटे ॥ यह. ॥ झगड़ा गुप्त गली में गेरे, व्यापक एक आत्मा हेरे ॥ यह भी सब झगड़ा है, झगड़े से न्यारा दगड़ा है ॥ झगड़ा कैसे जान्या रे, हमें आतम ब्रह्म पिछान्या रे ॥ झगड़ा ऐसे जान्या रे ॥

३३५ तरज तान

मत लगे विषय की चाट, मन को डाट डाट डाट ॥ टेक ॥ मन हीं सब कारज सारे, बिषयों ते तोहिं निवारै ॥ निज बोध रूप में धारै, शुभ गुन का लावो ठाठ ठाठ ठाठ ॥ १ ॥ मनकी चलती रे दो धारा ॥ कैयक डूबे दूजी पारा ॥ कुमारग करो निवारा, सत् संगति नौका बाठि बाठि बाठि ॥ २ ॥ यही अनुष्ठान करवावो, निज ब्रह्मरूप में लावो, अब अपना काम बनावो, मन का दफ्तर जा फाटि फाटि फाटि ॥ ३ ॥ यह गुप्त भेद लख प्यारे, इस मनने बहुत उधारे, अब गिने कौन तें सारे, टुक मोह जाल को काट काट काट ॥ ४ ॥

३३६ शब्द

अब कीजेरे यारों ज्ञान गोष्टी, सब छांडों जगत की दोस्ती ॥टेक॥ बड़े भाग से नर तन पाया, याके पीछे फिर रही लोपटी ॥ १ ॥ ब्रह्म विचार करो इस तन में, बात तजो सब फोकटी ॥ २ ॥

खाते खाते बहुत दिन बीते, अब तोड़ो अविद्या जोषटी ॥ ३ ॥ ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर, दूर करो सब शोकटी ॥ ४ ॥ व्यापक रूप लखो निज आतम, फिर रहे न यम की खोपटी ॥ ५ ॥ गुप्त मूल के बैठ चौतरे, जब पावेगा पोसटी ॥ ६ ॥

३३७ शब्द

इस दुनिया में दो दीन, लगी है इन दोनों की बाजी ॥टेक॥ उनको नाम धरा है मंदिर, उनको मसजिद साजी ॥ उनको नाम धरा ठाकुरजी, उनको धरा खुदाजी ॥ १ ॥ उनको नाम धरा पंडितजी, उनको रख लिया काजी ॥ वो सन्ध्या गायत्री पढ़ते, वो हो गये नेमाजी ॥ २ ॥ वे लागे उपवास करन को, वे रोजे में राजी ॥ वे काशी गङ्ग को चाले, वे होन चले हैं हाजी ॥ अपनी अपनी बँधे पक्ष में, छूटें कौन उपाजी ॥ गुप्त मूल है, एक सभी का, जिन यह रचना साजी ॥ ४ ॥

३३८ शब्द

देखो देखो तमाशा दीदार का रे ॥ टेक ॥ सभी अनातम झगड़ा छोड़ो, सौदा करले निज आतम बजार का रे ॥ १ ॥ जासे प्यास बुझे तन मन की, पानी तू पीले बजार का रे ॥ २ ॥ सत संगति नौका में बैठो, सैला करले परलेपार का रे ॥ ३ ॥ भवसागर में फेरि न आवे, बान लगे नहीं मार का रे ॥ ४ ॥ निजानन्द को

प्रापत होके, झगड़ा मिटे संसार का रे ॥ ५ ॥ गुप्त गली में बाजे बाजे ध्रुव उठे झंकार का रे ॥ ६ ॥

३३९ शब्द

बाबा भोले ने रगड़ा लगा दिया रे ॥ टेक ॥ तन की कुंडी मन का सोटा ज्ञान का घोट मचा दिया रे ॥१॥ संशय सोंफ अरु कर्म कासनी, माया का मिर्च झुकाय दिया रे ॥ २ ॥ ममता मगज इलायची केशर, लुगदाघोट बनाय लिया रे ॥ ३ ॥ सत की साफी में भंगिया छानी, जग फोगट काढ़ि बगाय दिया रे ॥ ४ ॥ प्रेम के प्याले में बिजयापीके, अंखियों में जोश उगाय दियारे ॥५॥ गुप्त गली में शंकर घूमत, जग भर्म का भूत उड़ाय दियारे ॥६॥

३४० शब्द

यक वेर वंशी फेर बजाय, बंशी के बजाने हारे रे ॥ टेक ॥ तेरी वंशी ने मेरा मन मोहा, तुझे ऐसी बजाइदइ कारेरे ॥ १ ॥ तेरी बंशी ने सारा जग मोहा, मोहे चन्द्र सूर अरु तारेरे ॥ २ ॥ यक वेर वंशी बाजी ब्रज में, तुझे नख पर गिरवर धारेरे ॥ ३ ॥ यक बेर बंशी बाजी अवध में तू सन्तन सुख कारेरे ॥ ४ ॥ यक बेर वंशी बाजी जनकपुर, उस रंगभूमि के मन्झारेरे ॥ ५ ॥ यक बेर बंशी बाजी लंका में, तुझे असुर खपादिये सारेरे ॥ ६ ॥ गुप्त बसुरिया घट में ही बाजे, कोइ सुनते सुनते हारेरे ॥ ७ ॥

३४१ गुरु शिष्य सम्वाद, शिष्य प्रश्न

चौपाई—

कोउ यक शिष्य आयो गुरु शरना। हाथ जोड़ि मेल्यो शिर चरना॥
भो भगवन् तुम जानो मरमा। सो कछु करो मिटे जिसे मरना॥
मैं आयो तुम्हरी शरनाई। प्रभु कीजे अब मोर सहाई॥
जन्म मरन का काटो फन्दा। जाकर पावहुँ परमानन्दा॥
देखि डरयो मैं यह संसारा। ताते अब मोहि कीजे पारा॥
या जग माहीं दुःख अनेका। सुख सुपने कबहूँ नहिं एका॥
आशा तृष्णा चिन्ता खावें। काम क्रोध मद मोह डरावें॥
कुमति सुमति नित करैं लड़ाई। ममता डाकिन नित उठ खाई॥
दंभ कपट ठग रहे लुभाई। मद मत्सर अरु मान बड़ाई॥
मोपर नित गेरत ये फन्दा। बिन सत्गुरु क्या जानूं मैं अन्धा॥
अब इनसे कीजे उद्धारा। भवसागर ते कीजो पारा॥
हेतु मुक्ति का हो सो कहिये। तुम्हरी कृपा परम पद लहिये॥
तुम बिन और न करै सहाई। डूबत हों भवसागर माहीं॥
माता पिता भ्राता सुत दारा। ये सब स्वारथ के हैं सारा॥
जिन के दंभ कपट नहिं माया। सो करते दीनन पर दाया॥
अब मोहिं कीजे यह उपदेशा। जासों छूठे सकल कलेशा॥

दोहा—

शिष्य ने सकल संदेह कहि, दीन्ही बात सुनाय।
अब गुरु ऐसा कीजिये, सकल भरम मिटि जाय॥

भरम बराबर जगत में, नाहीं दूसर खेद ।
सब कहते सन्त पुकार के, यों कहें शास्त्र अरु वेद ॥

३४२ गुरु उत्तर

चौपाई—

सुन आरत की गिरा विनीता । सुनहु शिष्य अब होहु अभीता ॥
जो तुम कही सकल मैं जानी । सुन शिष हो जाते दुख हानी ॥
दुख नाशन का कारण एहू । याते मिटे सकल संदेहू ॥
तत्व मसी का अर्थ सुनीजे । भाग त्याग लक्षणा यक कीजे ॥
जीव ईश की मिटे उपाधी । चेतन शुद्ध सरूप अनादी ॥
तामें भेद गंध ना होई । अपना रूप जानिये सोई ॥
यह गुरु मुख से सरवन करिके । मनन करो युक्ती चित धरके ॥
काल पाय व्है दृढ़ अभ्यासा । फिर छूटे मन की सब आसा ॥
निश्चल होय भयो मन थीरा । जैसे मिल्यो नीर में नीरा ॥
आतम ब्रह्म रूप यक जाना ॥ अभेद निश्चय यह ज्ञान बखाना ॥
सो जानो मुक्ती का हेतू । जैसे जल पारन को सेतू ॥
या विधि उतरे बहुते पारा । ले सेतू सत संग सहारा ॥
बिन सत संग तर्‌या नहिं कोई । हुये अरुहैं अरु आगे होई ॥
सत संगति महिमा सब वरनीं । अज्ञान नाश इमि पाबक अरनीं ॥
सुन शिष हो याते दुख नासा । यह आप रूप का अजब तमासा ॥
जो तुम पूछा सो हम भाखा । आगे कहो संशय जो राखा ॥

दोहा—

जो भाख्यो उपदेश यह, ताको सुन चित लाय ।
संशय शोक रहे नहीं, भरम विलय हो जाय ।।
हमहीं नाहीं कहत हैं, वो कहें सयाने संत ।
निगमागम यों कहत हैं, इमि होय भरम का अन्त ।।

३४३ संध्या आरती

दोहा—

जेती संध्या आरती, लिखते सबका सार ।
सांझ समय याको पढ़े, समुझे सार असार ।।
पढ़ै सुनै अति प्रीति युत, अरु पुनि करै विचार ।
ज्ञान भानु छिन २ उदय, व्है आतम दीदार ।।

चौपाई—

ऐसी आरती तोहि सुनाऊं । जन्म मरन को धोय बहाऊं ।।
ऐसी आरती कीजे हंसा । छूटे जाति वरण कुल वंसा ।।
काया माहिं देव है ऐसा । दूजा और नहीं कोई तैसा ।।
काया देवल आतम देवा । बिन सतगुरु नहिं पावे भेवा ।।
पहिले गुरु सेवा चित लावे । तासे सकल विधी को पावे ।।
जो युक्ती गुरु देव बतावे । तामें अपना मन ठहरावे ।।
माया का सब झूंठ पसारा । सत् है चैतन रूप तुम्हारा ।।
पांच अंश सबही में जानों । अस्ति भाति प्रिय सत्य बखानों ।।

नाम रूप झूंठे व्यभिचारी । तिनसे भूलि न कीजे यारी ॥
तीन सच्चिदानन्द पिछानों । तिनकों ब्रह्म रूप करि मानों ॥
सो है ब्रह्म आपना रूपा । ऐसे वेद कहत मुनि भूपा ॥
दो झूंठे माया कृत देखै । तिनको सत्य कबहुं नहिं पेखै ॥
माया नाम कहत मुनि उसका । परमारथ से रूप न जिसका ॥
अचिन्त्य शक्ति कर ताहि बनावे । युक्ती आगे रहन न पावे ॥
सो युक्ती अब कहूँ बताई । जाते माया रहन न पाई ॥
सत्य असत्य नहीं कछु भाई । नहिं दोनों पद मिलकर गाई ॥
नहिं वह कहिये भिन्न अभिन्ना नहिं दोनों पद मिलि उत्पन्ना ॥
नहिं सावेव नहीं निरवेवा । दोनों मिलि नहिं होय अवेबा ॥
यह नव युवती जिसने जानी । तिनके माया भरती पानी ॥
यह सब युक्ती गुरु से जानें । किर कीजे निज आतम ध्यानें ॥
आतम पूजा बहु विधि कीजे । जातें सकल अविद्या छीजे ॥
सोहं थाल बहुत विधि साजे । स्वास स्वास पर घंटी बाजे ॥
संयम ओट करे दिन राती । ज्ञान दीप वाले बिन वाती ॥
जस दापंक का होय उजाला । अन्धकार नशिजाय तत्काला ॥
झांझ झनक चेतन की झनकी । मूल अविद्या सारी छिनकी ॥
मन मिरदंग तान कर कूटा । धृक् धृक् कहन लगा मैं झूंठा ॥
चित का चन्दन घसि कर लाया । तब हीं देव निरंजन पाया ॥
बुद्धी ताल बजाबन लागी । क्रोढ़ जन्म की सूती जानी ॥

अहंकार का बाजा घंटा । बहुत काल का टूटा टंटा ॥
चिदाभास ने शंख बजाया । अपना रूप हमें अब पाया ॥
चिदाभास का कीना त्याग । कूटस्थ रूप में कीना राग ॥
आभास रूप को त्यागा जब ही । रूप अक्रिय पाया तबही ॥
ता साक्षीकर सदा अभेदा । ब्रह्म रूप यह गावत वेदा ।.
जिमि जलाकाश अरु घटाकाशा । महाकाश में सबका बासा ॥
यह दृष्टान्त विचारे मन में । ब्रह्म रूप पावे या तन में ॥
ऐसी कीजे आतम सन्ध्या । याते जीव छुटे यह बन्ध्या ॥
ऐसी सन्ध्या आरती कीजे । जाते देव निरंजन रीझे ॥
इंद्रिय अरु तिनके सब देवा । करन लगे हैं आतम सेवा ॥
भये मुदित सब करें विचारा । आतम अपना रूप निहारा ॥
कोई नाचे कोई गावे । कोई मौन गहे रहि जावे ॥
कोई ताल बजावन लागे । आतम-माहिं हुये अनुरागे ॥
प्रीती-पुष्प चढ़ावन लागे । ध्यान-धूप को लावन लागे ॥
वृत्ती करे ब्रह्म का गाना । और नहीं कछु भाखत आना ॥
ऐसे कहि के ब्रह्मसमाई । भेद भरम सब दिया उड़ांई ॥
लौन पूतरी जावे नीरा । उलट बात कछु कहै न वीरा ॥
आप रूप सब दिया गँवाई । होय उदक दक माहिं समाई ॥
जो कुछ सूक्षम या स्थूला । औ कारण था तिनका मूला ॥
सबही चेतन व्है परकाशा । द्वैत अद्वैत सभी जहं नाशा ॥

सन्ध्या आरती करो विचारा । छूटे भरम करम संसार ॥
लोक वेद की छाँड़ो आशा । तब देखोगे ब्रह्म तमासा ॥
ऐसी सन्ध्या आरती गावे । बहुरचो जगत् जन्म नहिं आवे ॥
टूटे बन्धन होय खलासा । जन्म मरन का मिटिजाय सासा ॥
बन्ध मुक्त याते सब जानें । दोनों भरम कर मिथ्या मानें ॥
बन्ध विहीन एक नहिं दोई । ताकी मुक्ति कौन विधि होई ॥
बंध मुक्त माया कृत जानें । आतम शुद्ध रूप पहिचानें ॥
ध्यान अरु ज्ञान नहीं कोई जामें । साधन साध्य नहीं कोई तामें ॥
द्वैत अद्वैत नहीं कछु झगड़ा । ना कछु बन्या नहीं कछु बिगड़ा ॥
अजर अमर आतम अविनाशी । चेतन शुद्ध रूप परकाशी ॥
सजाती विजाती न ता में कोई । स्वगत भेद फिर कैसे होई ॥
नहिं वह बृद्ध नहीं वह बाला । स्वेत पीत हरता नहिं काला ॥
नहिं वह पुरुष नहीं वह नारी । नहिं सन्यासी नहिं ब्रह्मचारी ॥
लक्ष अलक्ष नहीं कछु तामें । वाच्य अवाच्य बने नहिं जामें ॥
सब कछु है अरु कुछ भी नाहीं । तन विकार कुछ परसत नाहीं ॥
नहिं वह हलका नहिं वह भारा । ना कछु मधुर नहीं कछु खारां ॥
रूप रंग जामें कछु नाहीं । ऐसा आतम सबके माहीं ॥
सम रस रहे गगन की नाईं । काल कर्म की पड़े न छाईं ॥
सदा अक्रिय निरभय देवा । कहा करै को तिसको सेवा ॥
ना कछु मौन नहीं कुछ बोले । ना कहीं स्थिर ना कहिं डोले ॥

निश्चल सदा अक्रिय देवा । बिन सत् गुरु नहीं पावे भेवा ॥
नहिं परिच्छेद तासु में कोई । देश काल वस्तू नहिं होई ॥
सन्ध्या आरती की लिखी चौपाई । जग को मिथ्या कहे जनाई ॥
आतम ब्रह्म रूप करि भासे । सत् चित् आनन्द एक परकासै ॥
जैसे गुन में भासत भोगी । त्यों आतम में जग प्रति योगी ॥
शुक्ती में रूपा भ्रम होई । त्यों आतम में जग है सोई ॥
स्थाणू माहिं पुरुष कहे जैसे । रबि किरनन में नीर कहे तैसे ॥
आकाश माहि ज्यों गंधर्व गामा । त्यों आतम में जगत् अभिरामा ॥
मिरची में तीक्षणता जैसे । जलके माहिं क्षारता तैसे ॥
फूलन माहिं गंध जिमि होई । आतम में ऐसे जग सोई ॥

दोहा—

सभी भरम कर भासता, करता किरिया कर्म ।
आत्मा सदा असंग है, कोई जानत विरला मर्म ॥

३४४ छन्द

सत्गुरु बिना नहिं भेद पावे, कहत वेद पुकारि के ॥
लाचार नहिं चारा चला, हम चारों बैठे हारिके ॥
षट् मान जेती सिमरती वस्तु अनातम को कहे ॥
कौन शक्ती तासुकी, जो आतमा को वह लहे ॥
निरबेब चेतन शुद्ध निरमल, एक दो की गम नहीं ॥
ऐसे शब्द करके वेद कहता, और कछु जाने नहीं ॥

दैसिक कही यह शिष्य को, तुहि ब्रह्म व्यापक रूप है ॥
जो समझता इस रमज को, पड़ता नहीं भव कूप है ॥
मत खाय भटका भरम में, तुहीं आप चेतन है सही ॥
टुक समझ अपने ज़ेहन में, यह बात हम तोसों कही ॥
तत्वमसि आदि महा वाक्य, कीजे ताहि विचार को ॥
मत फंसे किरिया कीच में, सब छांड़ि जग आचार को ॥
यह पढ़े संध्या आरती, चारों पदारथ जो लहे ॥
जो धारे इसके अर्थ को, फिर बात उसकी को कहे ॥
चाहे अमोलक रतन को, बैठे गुप्त दरियाव में ॥
यह वक्त बीता जाता है, फिर रोउगे इस दाब में ॥

दोहा—

तम नाशत परकाश तें, कहों तोहि समुझाय ।
और न काहू से नशै, चहें लाखों करो उपाय ॥
अज्ञान विरोधी ज्ञान है, लीजे बात विचार ।
नाश न होवे और-ते, चाहें धारो बृत्त हजार ॥
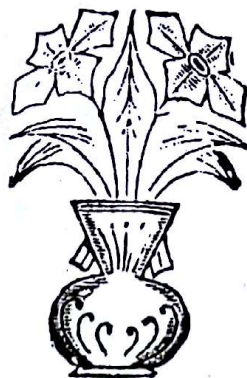
दोहा—

नथू भैया प्रागदत्त, गोवर्द्धन यशवन्त ।
मिश्र मैयादास है, सब मण्डली महन्त ॥
कृष्ण धुरू औ शिवरतन, बाबू ओंकार ।
गुप्त ज्ञान गुटका बना, तिन आज्ञा अनुसार ॥
सारदूलसिंह वंशीधर, तीजे गंगाराम ।
इनसे आदि और जो, भक्त मण्डली नाम ॥
साधू जिते समाज में, तिनके लिखते नाम ।
ब्रह्मानन्द केसरपुरी, गौरीशंकर जान ॥
सम्वत की संख्या लिखें, सुनियो करके कान ।
ग्रह लगी है ब्रह्म पै, मुनिशिर मुकुट पिछान ॥
पक्ष प्रकाशित भादवा, तीज तिथी बुधवार ।
मन्दसोर पूरा हुवा, विशनपुरी दरबार ॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❁ नवीन अनुभवी छन्द ❁

३४५ शब्द-भजन

मन की बात रहे सब मन में। तेरा साज बिगड़ जाय छिन में ॥ टेक ॥ एक तिहाई खेल गवाँई। भूल्या बालापन में ॥ आई जबानी चढ़ी मस्तानी। मुख देखै दर्पन में ॥ १ ॥ मूछ मरारे टेढ़ी पगड़ी। बाँधत सो बेर दिन में ॥ तेल फुलेल लगावत तन में बात करत पंचन में ॥ २ ॥ आया बुढ़ापा सब तन काँप्या। मन पुत्तर अरु धन में ॥ पड़्या खाट में मसके मारे। बीमारी सब तन में ॥ ३ ॥ हरि की भक्ती कबहुं न कीनी। भूल्या तीनों पन में ॥ गुप्त रूप को जान्या नाहीं। पड़्या अविद्या वन में ॥४॥

दोहा—

लोक बड़ाई में फंसे, करते बहुत विख्यान ॥
जासे भव सागर तिरे, बिसरे गया वह काम ॥

३४६ शब्द-भजन

मन तू कैसा भया दिवाना। नहिं अपना रूप पिछाना ॥टेक॥ काल अनादि का बिगड़्या पापी। सूझत ना निज धामा ॥ सुत दारा धन प्यारे लागे। इनमें फंसि लपटाना ॥ १ ॥ जगत माहिं नित भाग्या डोले। बनता ताना वाना ॥ नाम धनी का कबहु न

लीना । भूल्या लक्ष निशाना ॥ २ ॥ अब तो चेतन रूप लखो निज जब होवे कल्याना ॥ मैल जनम के धोय बहावो । पावो पद निरबाना ॥ ३ ॥ गुप्तरू परगट तुही विराजे । भेद तजो अब नाना ॥ ज्ञान गलीचे सुख से पौढ़ो मिटि जाय आना जाना ॥४॥

दोहा—

सुख हित बाहर भरमता, करता बहुत अचार ॥
सुख सरूप तुंहि आप है, करके देख विचार ॥

३४७ शब्द-भजन

पीले राम नाम रस प्याला । तेरा मनुवा होय मतवाला ॥टेक॥ जो कोई पीवे युग युग जीवे । वृद्ध होय नहिं बाला ॥ चौरासी के वचे फेरते । कटिजाय यम का जाला ॥ १ ॥ इस प्याले के मोल न लागे । पकड़ हरी की माला ॥ जन्म जन्म के दाग छुटें सब नेक रहे नहिं काला ॥२॥ सत संगति में सौदा करले । वहाँ मिले सब हाला । गुरु वेद का शस्तर पकड़ो । तोड़ भरम का ताला ॥३॥ गुप्त ज्ञान का दीपक बालो । जब होवे उंजियाला ॥ सब ही शत्रु मारि गिरावो । कर पकड़ि ज्ञान का भाला ॥ ४ ॥

दोहा—

शत्रू बसि किये राव ने, खुला मचाया जंग ॥
निरभय होकर सोवता, भूपति सुख के संग ॥

३४८ शब्द-भजन

जो कोइ सुख के सागर न्हावे । वह फेरि जन्म नहिं पावे ।।टेका।। चंचल मनुवा अचल होय जब, एक ब्रह्म में लावे । लोकरु वेद लगे सब झूंठे, भरम जाल उड़ि जावे ।।१।। 'अहं ब्रह्म' यह जाप करे सो, यम की चोट बचावे । काल बली का जोर न चलता, जो यह ध्यान लगावे ।।२।। अस्ति भाति प्रिय सत्य रूप है नामरूप छिटकावे ।। जब यह रमज समझ में आवे, सच्चा सत् गुरु बतलावे ।। ३ ।। गुप्तरू परघट आप रूप है । भेद भरम मिटि जावे ।। अब के औसर मत ना चूके । फेर दाव नहिं आवे ।। ४ ।।

३४९ शब्द-भजन

कर मन पुरुषोत्तम असनाना ।। सब मिटिजाय आना जाना ।। टेक ।। तीरथ बरत करे बहुतेरे, खोया बहुत जमाना । अब की बार समझ मन मूरख । फिर पीछे होय पछताना ।। १ ।। ब्रह्म रूप निज आत्मा जानो । पकड़ो ठीक ठिकाना ।। अब के औसर चूकि जायगा । चौरासी को जाना ।। २ ।। वाच्य अर्थ का त्याग करो अब, येही मैल छुटाना ।। ब्रह्माकार करो अब विरती । लावो लक्ष निसाना ।। ३ ।। गुप्त गलीचे सुख से बैठो ।। खावो ब्रह्म रस खाना ।। अखण्ड की ज्योति पिंड के माहीं । आप में आप समाना ।। ४ ।।

३५० शब्द भजन

तुहं तो चेतन है अविनाशी। अब तोड़ भरम की फांसी ॥टेक॥ कारण, सूक्ष्म, स्थूल, देह इन सब ही का परकाशी ॥ पंच कोष अरु देश काल में घट घट माहिं निवाशी ॥ १ ॥ बद्रीनाथ केदारनाथ में, मथुरा में और काशी ॥ रामेश्वर अरु जगन्नाथ में तुही द्वारिका वासी ॥ २ ॥ स्वर्ग नरक वैकुण्ठपुरी में तुंहि इन्दर यम फाँसी ॥ तूही ब्रह्मा तूही विष्णु, तुही ईश कैलाशी ॥ ३ ॥ तूही गुप्तरु तूही परघट, तुही रोवे तुही हांसी ॥ तुझसे बिना नहीं कछु खाली, कर के देख तलाशी ॥ ४ ॥

३५१ शब्द भजन

भला जो कुछ है सो आपै आप। आपहि जन्मे आपै मरता आपहि तपता तीनों ताप ॥ टेक ॥ आपै पंच भूत दस इन्द्री, मन बुद्धि चित हंकारहि आप ॥ आपहि पंचभूत की रचना, आपहि है सब थाप अथाप ॥ १ ॥ आपही देव आपही पूजा, आप आपका करता जाप ॥ आपहि नेम वरत को धारे, आपहि करै पुन्य और पाप ॥२॥ आपहि संपद् आपहि तत् पद, आपहि असि पद पूरन आप। आपहि वाच्यरु आप लक्ष है, आपहिं जापे अजपा जाप ॥३॥ आपहि गुप्त आपही परघट, सब की खेल खिलारी आप॥ आप बिना कोइ दूजानाहीं, आप ही वेद बतावें आप ॥ ४ ॥

३५२ शब्द भजन

अब राम भजन की कर तैयारी ॥ क्या भूल्या दुनियां के सुख में, अन्त समय होगी ख्वारी ॥ टेक ॥ क्या जवाब देगा साहब को, जब होगी पेशी थारी ॥ सुबुक सुबुक कर रोवे मूरख, जब होवे डिगरी जारी ॥ १ ॥ यहाँ तो भोग बिलास किये थे, वहां विपत भुगते भारी ॥ यम दूतन से आनि छुटावे, सुमिरे क्यों ना गिरधारी ॥२॥ धोखे में मत भूले मूरख, क्यों खोवे आयू सारी ॥ हरि की भक्ती क्यों नहिं करता, बिगड़ी बात सुधारे सारी ॥३॥ गुप्त गली में जल्दी आवो खोज करो सब नर नारी ॥ अब के औसर चूकि जायगा, पूजा होय अतिशय भारी ॥ ४ ॥

३५३ शब्द भजन

भला मुक्त दुबारे पर आया ॥ अब तो चेत मुसाफिर प्यारे, क्यों फसता झूंठी माया ॥ टेक ॥ काल बली का बजे नगारा, राजा रैयत सब खाया ॥ घड़ी पलक की खबर नहीं है, अमर नहीं तेरी काया ॥ १ ॥ मुट्ठी भीचे जगत् में आया, अपने संग कछु नहीं लाया ॥ यहां पै देख्या माल पराया, हक नाहक को अपनाया ॥ २ ॥ सौदा करो समुझि सौदागर, जिस सौदे को तू आया ॥ सुकृत करले राम सुमिर ले, भला वखत तुझको पाया ॥ ३ ॥ सभी जगत से नाता तोड़ो, ईश्वर में मन को लाया ॥ लोक वेद सब झूंठे लागे, गुप्त रूप जब ही पाया ॥ ४ ॥

३५४ शब्द भजन

भला ब्रह्म ज्ञान की सुनी बानी ॥ पंच कोश में व्यापक आतम, ब्रह्म रूप है निरबानी ॥ टेक ॥ सो है व्यापक रूप आपना, खोज करो ना सब प्रानी ॥ जो कोई आतम विद्या पढ़ता, पड़ता नहीं चारों खानी ॥१॥ वेद शास्त्र कथन करत हैं, समझत नाहीं अज्ञानी ॥ पोथे वांचत कथा सुनावे, भरमि रहा पुष्पित सानी ॥ २ ॥ भेद बाद की फिरे गली में, पूजत है पत्थर पानी ॥ लोभ मोंह के फस्या फन्द में, नहीं मूर्ख नहिं तत् ज्ञानी ॥ ३ ॥ जो नर गुप्त ज्ञान पाता है, विषय वासना सब भानी ॥ पद्म पत्र ज्यों जग में रहते, तिनकी नहीं होवे हानीं ॥ ४ ॥

दोहा—

ब्रह्म ज्ञान यहि जानना, आतम ब्रह्म सरूप ॥
वेद कहे नित टेरि के, सब भूपन का भूप ॥

३५५ शब्द भजन

हंसा भूल्या निज ताल को, जब से भटकत डोले है ॥टेक॥ मान सरोबर छूट गया न्हाना, भूल गया मोती का खाना ॥ वुगल्यों में मिलि हुया दिबाना खाता है मच्छी माल को, बुगली बोली बोले है ॥ १ ॥ छूटि गये निज आतम धर्मा, भूमि गया कुल के सब कर्मा ॥ बनता डोले शर्मा वर्मा, करना नहिं आप संभाल को, कुछ और और बोले है ॥ २ ॥ पगलों में मिलि हो गया पगला,

है तो हंस बोलता बगला ॥ पराक्रम भूलि गया है सगला, भूल्या है देश अरु काल को, जड़ ग्रंथी नहीं खोले है ॥ ६ ॥ गुप्त रूप पूरन है ज्योती, बात तजो बुगलों की थोथी ॥ अहं ब्रह्म यह खावो मोती, दूरि करो यम काल को, परवत तृण के ओल्हे है ॥४॥

३५६ शब्द भजन

तुहिं हाजिर सदा हजूर है, फिर किसका जाप करे है ॥टेक॥ सब के शामिल सब से न्यारा, जाग्रत स्वप्न खेल विस्तारा ॥ सुषपती में है यक तारा, तुरिये में भर पूर है, क्यों झूठा नाच नचे है ॥ १ ॥ तीन अवस्था जाननहारा, ऐसे है तीनों से न्यारा ॥ क्यों फिरता है मारया मारा, नहीं नेरे नहीं दूर है ॥ फिर किसका ताप तपे है ॥ २ ॥ व्यापक है सो रूपतुम्हारा, ना कछु हलका ना कछु भारया ॥ ना वह मधुर नहीं वह खारया, ज्यों का त्यों भरपूर है ॥ यह क्यों ना जाँच जंचे है ॥ ३ ॥ गुप्त भेद को नहिं लहता है, कछू और और हि कहता है ॥ याही से भवसागर बहता है, तुझको कछु नहीं सहूर है ॥ भवसागर नहीं तिरे है ॥ ४ ॥

३५७ भजन

बात यह कहते वेद पुरान, ब्राह्मण सोई ब्रह्म पिछाने ॥टेक॥ सम दम शौचरु तप को करता, हिंसा रहित शांति को धरता ॥ ज्ञान विज्ञान आस्तिक चरता, यहि ब्राह्मण का लक्षण जाने ॥ निज आतम रूप को जाने ॥ १ ॥ सोई क्षत्री छहँ को जाने दिनकर

तेज धीर्जता ठाने ॥ युद्ध से उल्टा हटि नहीं जाने ॥ अस्तिक होवे चतुर सुजान ॥ सब दान विधी को जाने ॥ २ ॥ वैश्य सोई जो बनिज बढ़ावे, खेत्ती करता गऊ चरावे ॥ ईश्वर में अपना मन लावे, जब होवे कल्यान ॥ निज तीन धर्म को ठाने ॥ ३ ॥ एक धर्म शूद्र का वरन्या, तीन बर्ण की सेवा करना ॥ गुप्त ध्यान ईश्वर का धरना, सेवे धर्म आपना जान ॥ गीता में कृष्ण बखाने ॥४॥

३५८ भजन

जग नहीं खपुष्प समान है, फिर ईश कौन का करता ॥टेक॥ साक्षय बिना साक्षी नहिं होवे, दृष्य नहीं नेत्तर क्या जोवे ॥ भरम नींद में कैसे सोवे ॥ नहीं रूप नहीं नाम है ॥ फिर को जन्मे को मरता ॥१॥ होय अज्ञान तो ज्ञान नसावे, बंध होयतो मुक्ती पावे ॥ वेद शास्त्र नितही गावे, झूंठे हम झूंठ जहान है, क्यों झूंठा झगड़ा धरता ॥ २ ॥ वेद वृक्ष का जो फल चखते, सो करता बुद्धी नहिं रखते ॥ निश्चल व्है निजरूप में जंचते, इसमें अनुभव परमान है, तुह निश्चय सदा अकरता ॥ ३ ॥ गुप्त भेद कोई लखे वेद का, तिसके लेश नहीं रहे खेद का ॥ झूंठा झगड़ा विधि निषेध का, मूर्ख का बिलवान है ॥ ज्ञानी इन सबसे तरता ॥ ४ ॥

३५९ भजन

जो कछु भासत है विस्तार ॥ विरती का खेल है सारा ॥टेक॥ अंतःकरण अविद्या दोई, तिनका मिलि परिणाम जो होई, विषयन

का परकाश सोई ॥ रूप समान विचार, सोई सब जग का आधारा ॥ १ ॥ ईश-ज्ञान माया की विरती, ताते सर्वज्ञता को धरती ॥ जीव-ज्ञान अन्तःकरन विरती, अविद्या रूप सर्प निहारी, सो सत्य असत्य मंझारा ॥ २ ॥ भरम यथार्थ ज्ञान कहावे, दोनों संस्कार उपजावे ॥ जिसतें ज्ञान सिमिरती पाबे, अन्दर करो विचार, अनुमान ज्ञान से न्यारा ॥ ३ ॥ गुप्त ज्ञान है सबसे न्यारा, बिरती ज्ञान को देत सहारा ॥ परमारथ अरु होय बेवहारा, यहि फल है तिसका सार, कर देखो ज्ञान विचारा ॥ ४ ॥

३६० कब्वाली

यक भूप सैया पर सोये, स्वप्ने में चिल्लाने लगे ॥ टेक ॥ पैर पकडया स्यारनी को, तिससे घबराने लगे ॥ योधा खड़े चौफेर को वह उनको बुलवाने लगे ॥ १ ॥ योधारु हथियार सब कछू, काम नहीं आने लगे । स्वप्ने का डंडा हाथ ले, वह उससे छुटवाने लगे ॥ २ ॥ पग छूटि कर लंगड़े हुये, जर्रार को जाने लगे ॥ फोहा न दीना तासु को, फिर लहचते आने लगे ॥ ३ ॥ मिल गये मुनि यक स्वप्न में, वह जड़ी को लाने लगे ॥ नहीं राज धन कछु काज आया, गुप्त समझाने लगे ॥ ४ ॥

दोहा—

राज विभूति नृप के, कोऊ न आई काम ।
स्वप्ने के मुनि दंड ने, सभी संवारयो काम ॥

३६१ कव्वाली

मैं तो विषयों के सुख में सोया पर्‍या, गुरु ज्ञान के बान जगाय दिया ॥ जब जागि उठ्या तब देखि रह्या मेरा मानरु मोह चुराय लिया ॥ टेक ॥ गुरु ज्ञान कलेजा फोड़ि गया, ईश्वर से नाता जोड़ि गया ॥ सब जग से यारी तोड़ि गया, निज आतम माहिं लगाय दिया ॥ १ ॥ जब जानि लिया निज रूप सही, मेरी करोड़ जन्म की भूल वही ॥ ज्ञानाग्नि से सबहि अविद्या दही मेरा आतम तत्व दिखाय दिया ॥ २ ॥ जैसे निद्रा गये से गया स्वप्ना, तैसे आतम ज्ञान से जगत् हन्या ॥ नभ नील समान जहान भन्या, मेरे दिल का दाग धोवाय दिया ॥ ३ ॥ गुरुदेव ने फन्दा तोड़ि दिया, मेरा टूट्या नाता जोड़ि दिया ॥ अब सफल हुआ है जन्म जिया, सब झगड़्या गुप्त चुकाय दिया ॥ ४ ॥

३६२ राग तरंगा

रे मुसाफिर प्यारे, कारे पर भया है दीवाना ॥ टेक ॥ झूंठा ही यह ख्याल रचा है, झूंठे राजा राना ॥ झूंठा है सब लावरु लश्कर, झूठे घुरे निशाना ॥ १ ॥ पंचभूत की झूंठी रचना, स्वर्ग पताल जहाना ॥ झूठे ही सब स्वर्ग नर्क हैं, झूंठे ही तिनका जाना ॥ २ ॥ झूठी काया झूठी माया, झूठे पिंडरू प्राना ॥ जीव ईश दोऊ हैं झूठे, सोइ सच्चा जिन जाना ॥ ३ ॥ सोई चेतन रूप तुम्हारा, यही ज्ञान यही ध्याना ॥ तासे भिन्न जो दीखे सुनिये, मिथ्या सकल जहाना ॥ ४ ॥

दोहा—

जो पावे सत् रूप को, मिटि जावे सब शोक ॥
सब कहते वेदरु शास्तर, और महाजन लोक ॥

३६३ शब्द

सब झूठे गुरु और चेला, वेद गुरु कहे पुकार ॥ टेक ॥ झूठ्यों का झूठा नाता, क्यों कूटे भरम में माथा ॥ करो आतम में निरधार ॥ १ ॥ गुरु वेद सत्य जो कहते, सो द्वैत माहि बँध रहते,— नहीं अद्वैत संभार ॥ २ ॥ भव दुख मिथ्या गुरु वेदा, यों करे वेद गुरु छेदा ॥ मिथ्या जग का परिहार ॥ ३ ॥ यह ज्ञान लखो गुप्ताई, झूंठे की धूलि उढ़ाई ॥ तजो तिसका हंकार ॥ ४ ॥

३६४ शब्द

गुरु वेद कहे समझा के, जगत् सब स्वप्न समान ॥ टेक ॥ यह जगत जाल छिटकावो, झूंठे झगड़े क्यों ठावो । बात तिनकी तो मान ॥ १ ॥ तुह कहता हम सन्यासी, फिर क्यों फंसे लोभ की फांसीं ॥ धर्म अपने को पिछान ॥ २ ॥ तीरथ पर चढ़े भण्डारा, दमड्यों का ढंग है सारा ॥ बाचते कथा पुरान ॥ ३ ॥ नहीं गुप्त भेद को जान्या, काहे को लगावत बाना । लोभ हित करै विख्यान ॥ ४ ॥

३६५ शब्द

कम तौले झूंठ को बोले, रहे कैसे धर्माचार ॥ टेक ॥ तकड़ी का खेंचे काना, तेरा सभी कपट हम जाना । लेवे पासंग

को मार ॥ १ ॥ तुंह झूंठी देत गवाही, गंगाजी सभा में ठाई ॥ डूब दिया कुल परिवार ॥ २ ॥ तीजी करे अधिक कमाई, हम देखे महाजन भाई ॥ लेवे पच्चीस हजार ॥ ३ ॥ सुन गुप्त बात को भाई, तुम सच्ची करो कमाई जबी होवे उद्धार ॥ ४ ॥

दोहा—

नाम महाजन कहत हैं, करते बड़े अकाज ।
मोल करें बाज़ार में, नेक न आवे लाज ॥
कन्या बेच धन खाहिंगे, सांभर ज्यों गलि जाहिं ।
भोजन नाहीं समझना, खून मांस को खाहिं ॥

३६६ ग़ज़ल

चड्या लौकिक बढ़ाई पर, पड़ी गल मज़व की फांसी ॥ करे बाज़ार व्याख्याना छूटती कुत्त्यों की हाँसी ॥ टेक ॥ मजब की जाल फैलावे, जानवर आनि फंस जावे ॥ लाबनी ग़ज़ल को गावे, बुद्धि निज रूप ते नासी ॥ १ ॥ सभा बह बहुत सी लावे, नेम अरु बरत करवाने ॥ कमती तोलना ना छुटवावे, झूंठ बोलना न छुटवासी ॥ २ ॥ छोड़ते लीलवी खाना, तजें नहीं कन्या विकराना, बहुत सुनते है व्याख्याना । करें नहिं धर्म तल्लासी ॥ ३ ॥ काव्य कथनी करे आछी, तीस हजार के डांकी ॥ रही नहिं भक्ती में बाकी, गुप्त कहता है कैलासी ॥ ४ ॥

दोहा—

भगत वही है जगत् में, पर धन करते घात ।
बात बतावें धर्म की, लोगों को दरसात ।।

३६७ ग़ज़ल

लगे हैं लोभ के मारे, यहाँ पंडित वहां काजी ।। नीर नहीं क्षीर को छाने डोब दई दोनों की बाजी ।। टेक ।। गला वह रूह का काटें, खून और मांस को चाटें ।। कैसे उस खुदा के नाटें, जिसने यह रचना सब साजी ।। १ ।। पत्थर पानी को पुजवाते, मन्दिर में रंडी नचबाते ।। राग रसिकों के वे गाते ।। वने हैं लोभ के पाजी ।। २ ।। राखते ग्यारस और रोजा, दावते मजब का बोझा ।। नहीं सब घट खुदा सूझा, कौन करनी से है राजी ।।३।। वेद कुरान को जाने, लोभ वश तिनकी नहीं मानें ।। गला चेतन का बह भानें, गुप्त गावे गजल ताजी ।। ४ ।।

३६८ ग़ज़ल

अंत में होय पछिताना, हाथ दोऊ जायगा खाली ।। कहा गफलत में सोता है, गये बड़े मुल्क के वाली ।। टेक ।। जिनों के चले थे चक्कर, तिनों की कोई नहीं सरवर ।। काल जिन राख्या अपने घर, लगाकर कैद में ताली ।। १ ।। हरी की भक्ति नहीं पाई, मार उन सब ही को खाई ।। खोज जिनका नहीं राई, रह्या नहीं मूल अरु डाली ।। २ ।। चेत अब छोड़ि के हंकार, हरी की भक्ति कर

होय पार ॥ साजि ले येही अब सिंगार, रहेगी इससे कुछ लाली ॥ ३ ॥ गुप्त गलियारे में आवे, कहीं फिड़ धोखा नहिं खावे ॥ रूप जो अपने को पावे, करहिं क्या काल और काली ॥ ४ ॥

३६९ शब्द

जिन आतम का जिलवा, यह छाय रह्यारे ॥ टेक ॥ नेत्र देश इड़ा नाड़ी में, जाग्रत के रंग दिखाय रहारे ॥ १ ॥ कंठ देश हेता नाड़ी में, स्वप्ने दृष्टी बताय रहारे ॥ २ ॥ हिरदा देश पुरी तत् नाड़ी, सुषुपति का सुख दरशाय रहारे ॥ ३ ॥ तुरिये में तीनों का दृष्टा, गुप्त ही जोति जगाय रहारे ॥ ४ ॥

३७० शब्द

इस काया में अजब जहूरा है ॥ टेक ॥ क्षितिजल पावक पवन अकासा, पांचों गुण गंभीरा है ॥ १ ॥ पिंड प्रान का योग भया है, मन बुद्धि चित हंकारा है ॥ २ ॥ दस इन्द्रिय पच्चीस प्रकृती, मन के सदा हजूरा है ॥ ३ ॥ बुद्धि बेसवा नृत्य करत है, गुप्त अचल निज नूरा है ॥ ४ ॥

दोहा—

गुप्त अक्रिये नूर तें, घुटि रह्या सभी जहूर ॥
देखत हैं कोई धीर जन, क्या देखे मति कूर ॥

३७१ शब्द

काया गुल में दो दिन की यह लाली है ॥ टेक ॥ मौत मलनियां फिरती बाग में, संत काल बली माली है ॥ १ ॥ डाल पात को

तकते डोलें, हाथ तिना के डाली है ॥ २ ॥ तोड़हि फूल मूल से फाढ़े, करते बहुत कुचाली है ॥ ३ ॥ गुप्त ताब फूलन के लावे, खैचि फुलेल करे खाली है ॥ ४ ॥

३७२ शब्द

गुल सूखा हरा नहिं होता है ॥ टेक ॥ पिंड प्रान का योग है जब लग, क्यों न पाप को धोता है ॥ १ ॥ कोटी जनम जग भरमत हो गये, क्यों ना मूल अविद्या खोता है ॥ २ ॥ काल आय तत् काल विनासे, क्या गफलत में सोता है ॥ ३ ॥ गुप्त उपाय कियो नहिं पहिले, अन्त काल क्या रोता है ॥ ४ ॥

३७३ शब्द

इस दम का कुछ नहीं ठिकाना है ॥ टेक ॥ भूलि रह्या धन धाम बाम में, तिनके हाथ बिकाना है ॥ १ ॥ घड़ी पलक की खबर नहीं है, कब कर चले पयाना है ॥ २ ॥ खानपान विषयों के सुख में, होय रहा मस्ताना है ॥ ३ ॥ गुप्त गली में कबहुँ न आया, अंत रसातल जाना है ॥ ४ ॥

३७४ शब्द

रंग लाग्या है सतसंग रेनों का ॥ टेक ॥ घट ही भीतर देव दरसता, दरशन माधोवेनी का ॥ १ ॥ अलख की झलक नैन बिच छाई, घाट न्हाये तिरवेनी का ॥ २ ॥ कहना और करै कछु औरा, क्या फल होवत कहनी का ॥ ३ ॥ गुप्त भेद का फंदा टूट्या, जब घर पाया रहनी का ॥ ४ ॥

३७५ शब्द

कायागढ़ में कचहरी लागि रही ॥ टेक ॥ आतम राजा राज करत है, तिसकी जोति जागि रही ॥ १ ॥ मन दीबान जहँ हुकुम सुनावे, सेना अनुचर भागि रही ॥ २ ॥ प्रान पवन दिन रात चलत है, काल डुग डुगी बाजि रही ॥ ३ ॥ गुप्त आत्म अकर्ता वेद कहत है, यह माया सब रचना को राचि रही ॥ ४ ॥

—०—

श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य अबधूत

श्री १०८ श्री

श्रीगुप्तानन्दजी महाराज कृत

गुप्तज्ञान गुटका

॥ समाप्तः ॥

हरिः ॐ तत्सत्

ॐ

तत्वज्ञान-गुटका

द्वितीयावृत्ति की प्रस्तावना

श्रीमत्परहंस परिब्राजकाचार्य, ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ट, अवधूत श्रीकेशवानन्द जी महाराज (ब्राह्मीभूत श्री केशव भगवान्) रचित इस ''तत्वज्ञान-गुटका'' का द्वितीयावृत्ति प्रकाशित करते हुए परमहर्ष हो रहा है।

प्रथमावृत्ति ''श्री भुवनेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस-रतलाम'' से सं. १९८२ में रा. रा. पं. कान्तिचन्द्रजी श्री निवासजी पाठक द्वारा प्रकाशित हुई थी; जो कि छोटे आकार (२० X ३०=३२) में थी, परन्तु इस आवृत्ति में आकार परिवर्तन के साथ ही अनन्त श्री गुप्तानन्द जी महाराज रचित ''गुप्तज्ञान-गुटका'' के पीछे इसे आवद्ध कर दिया गया है। एवं श्री गुप्तानन्द जी महाराज रचित कुछ भजन और कवित्त जोकि इसकी प्रथमावृत्ति में संयुक्त हो गये थे; वह सब यथास्थान ''गुप्तज्ञान गुटका'' में ही रख दिये हैं।

यद्यपि— इस आवृत्ति में संशोधन पर विशेष ध्यान दिया गया है; तथापि—जो त्रुटियाँ रह गयीं; वा—हो गयी हों; वह सब आगे श्री केशव भगवान् उसी प्रकार सुधारने का अनुग्रह करें;— जिस प्रकार कि-इस आबृत्ति में ॐ ॥

प्रथमावृत्ति की प्रस्तावना

श्रीमत् परमहंस परिब्राजकाचार्य ब्रह्मश्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अवधूत स्वामी श्री केशवानन्दजी महाराज (श्री केशव भगवान्) विरचित यह पद संग्रह रूपी "तत्वज्ञान-गुटका" विवेकी जनों के हितार्थ उनकी आज्ञा से प्रकाशित करने में आया है। इसके अन्त में परम पूज्यपाद महात्मा श्री १०८ श्री स्वामी गुप्तानन्दजी महाराज कृत कवित्त पच्चीसी आदि कुछ अति उत्तम भजन भी सम्मिलित किये गये हैं।

तत्त्वज्ञान तथा आत्मज्ञान सम्बन्धी उपदेश-जनक-पद संगीत-शृंखला में होने के कारण जनता के अन्तःकरण को उत्तम सिद्धान्तों की ओर आकर्षित करने में विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं। इस गुटके में नीति, धर्म और सदाचार के भाव भी इस प्रकार प्रगट हैं; जिनकी ओर श्रद्धा पूर्वक मन लगाने से "गूढ़-तत्त्वों का बोध" सहज ही हो सकता है।

सच्चे सन्तों की इस प्रकार प्रेममय और मनोहारिणी-वाणीरूपी-अमृत से भली-भाँति भरा हुआ, यह "तत्त्व-ज्ञान-गुटका" यथार्थ स्वाद लेने वाले धर्म प्रेमी तथा जिज्ञासु-जनों को सदा के लिये सुखी करने में समर्थ है।

❁ ॐ तत्सत् ❁

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ तत्व ज्ञान गुटका प्रारम्भः

मङ्गलाचरण ।

ग्रन्थ के आदि में मङ्गला चरण लिखते हैं। सो मङ्गला चरण तीन प्रकार का होता है। एक "वस्तु-निर्देशरूप" दूसरा "नमस्कार रूप" तीसरा "आशीर्वाद रूप" मङ्गला चरण होता है।

—०—

अथ "वस्तु-निर्देशरूप" मङ्गलाचरण ।

दोहा—

निर्गुण सगुण परमात्मा, वस्तु ताहि पिछान।
भिन्न भिन्न कीर्तन का, निर्देशहि ले जान ॥

—०—

अथ 'नमस्कार रूप' मङ्गलाचरण ।

चौपाई—

असुरन को जो करै संहारा। तिनको नस्कार है म्हारा ॥
लक्ष्मी पारवती पति होई। भजतन को संतत भजै सोई ॥ १ ॥

—०—

अथ "आशीर्वाद रूप" मङ्गलाचरण ।

सोरठा—

शिष्य वांछित स्वयं वांछि, करत प्रार्थना जो नर ।
यासे दूर व्है भ्रान्ति, आशीर्वाद ताको कहत ॥ २ ॥

—o—

अथ "अनुबन्ध" ।

ग्रन्थ के आदि में अनुबन्ध होता है; तिस के जाने बिना जिज्ञासु पुरुष को ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है, इस कारण से अनुबन्ध कहते हैं:—

दोहा—

१ २ ३ ४
अधिकारी सम्बन्ध ये, विषय प्रयोजन जान ।
कोविद कहत अनुबन्ध इन, ग्रन्थ आदि में ज्ञान ॥ ३ ॥
निज आतम अज्ञान ते, भूले थे बहु काल ।
कृपा भई गुरु गुप्त की, पाया घर में माल ॥ ४ ॥
विघन हरन मंगल करन, गणनायक श्री भूप ।
मम हिरदे वाणी वसो, तत्वं दरश अनूप ॥ ५ ॥

१ भैरवी

लागेछे म्हाने प्यारा गुरु जी ना बोल ॥ टेक ॥ जिनकी बानी से तपनी बुझानी, होत न कबहीं मन डोल ॥ १ ॥ 'अहं ब्रह्मास्मि'

मंत्र दियो है, उठ गई चित्त की पोल ॥ २ ॥ मिट गये काम, क्रोध, मद, ममता, बज गये दशो दिशि ढोल ॥ ३ ॥ पाचों को बस करि, पचीसों को दूर कर, होत न जग माँहि झोल ॥ ४ ॥ सत् गुरु किरपा भई केशव पर, पायो है रतन अमोल ॥ ५ ॥

२ भैरवी

गुरु जी मोहि प्यासो सुधा रस बैन ॥ टेक ॥ सत के पात्र धर्म के प्याला, अमृत रस सुख दैन ॥ १ ॥ मिटि गया तिमिर उदय भये भानु, मिलि गया ज्ञान रतन का ऐन ॥ २ ॥ मिलि गये माल दूरि भये दारिद्दर, हो गया चित्त को चैन ॥ ३ ॥ उठि गई चाह मिटि गयी तृष्णा, दूरि भये भव दुख भैन ॥ ४ ॥ कीन्ही कृपा गुरु जी केशव पर, लखायी है ब्रह्मानन्द सैन ॥ ५ ॥

३ भैरवी

लाग्यो म्हारो, चित्त गुरुजी की ओर ॥ टेक ॥ यह संसार फूल सीमर को, तासे दिल उठि गयो मोर ॥ १ ॥ सुन्दर तिरिया विष से भरिया, करती है मोक्ष मार्ग में खोर ॥ २ ॥ तात मात अरु सुत बनितादिक, अन्त चले कोई नहिं लोर ॥ ३ ॥ काम क्रोध और मद ममता, ज्ञान बिना फिरत जैसे ढोर ॥ ४ ॥ यह तनु है चौसर की बाजी, अब तो भूलो मत भोर ॥ ५ ॥ तीनों लोक भोग सब तज कर, केशवानन्द आवे शरनवामे तोर ॥ ६ ॥

४ ग़ज़ल

बलिहारी तुझे ईश्वर, अजब गाड़ी बनाई है। लगायीं कलें रँग रँग की, नित्य होती सफ़ाई है ॥ टेक ॥ बनाई पंच भूतों से, मिला गुण से सजाई है। है चलती ज़ोर से भारी, वेग जिसकी कठिनाई है ॥ १ ॥ शरीर सूक्षम बना इंजन, स्थूल डब्बा लगाई है। सड़क कर पाप पुण्यों की, कि जिस पर ला चलाई है ॥ २ ॥ शील संतोष लगी पहिया, सत्त नाभी जमाई है। क्षमा आर्जब बनी नाली, आन तिस पर चढ़ाई है ॥ ३ ॥ तार संकल्प विकल्प है, खबर जल्दी से आई है। समझकर के यूं मन मास्टर, दिया घण्टी बजाई है ॥ ४ ॥ छुटी संचित से गाड़ी, प्रारब्ध स्टेशन आई है। आगामी जाने को तैयार, मुसाफिर जीब बिठाई है ॥५॥ गार्ड हंकार दी झंडी, बुद्धि ड्रायवर चलाई है। श्वास धुवाँ चली जोर से शब्द सीटी बजाई है ॥ ६ ॥ टिकट ले कोई सुरपुर को, कोई बैकुण्ठ जाई है। है जिसके पास में पूरा, वहीं निज घर को जाई है ॥ ७ ॥ नहीं लेना नहीं देना, नहीं करनी कमाई है। केशवानन्द खुटी रस्ता, जहाँ जाकर न आई है ॥ ८ ॥

५ ग़ज़ल

आया कलियुग सुनो संतो, धर्म की राह भुलाई है। है त्यागा धर्म वर्णों ने, करें उल्टी कमाई है ॥ टेक ॥ भुलाकर बिद्या विप्रों ने, लोभ दिल माहिं छाई है। तजा निज कर्म सन्ध्यादिक, चाकरी

मन जमाई है ॥ १ ॥ कोई लिखते भरे पानी, कोई रोटी बनाई है। गले में धार जनेऊ बिप्र, दासी-पति कहाई है ॥ २ ॥ छत्र को छोड़कर क्षत्री, टोप माथे लगाई है। बदन में कोट पग में बूट, घड़ी पाकेट में आई है ॥ ३ ॥ छाँड़ कर नीति अरु तप को, स्वाद इन्द्रिय भ्रमाई है। न देखे दुःख परजा को, चोरलापन बढ़ाई है ॥ ४ ॥ है छोड़ा धर्म वैश्यों ने, अधिक तृष्णा समाई है। खरीदेरु बेचते दूना, करे लालच सवाई है ॥ ५ ॥ बेचें बेटी करें खोटी, जरा नहिं लाज आई है। हैं जलते चाल अति उजली, कृती जिनकी कसाई है ॥ ६ ॥ छाँड़ कर चाकरी को शूद्र, जप तप मन बसाई है। लगाते छाप तिलकादिक, सहज माला गटकाई है ॥ ७ ॥ भूले हैं साधना साधू, बहुत परपंच फँसाई है। कोई धाम कोई चाम, कोई दाम हाथ लफाई है ॥ ८ ॥ बनाये भेष रँग रँग के, कथे कथनी सफ़ाई है। निजातम रँग ना रँग कर, फकीरीयों गमाई है ॥ ९ ॥ मन्दिर में गुनी पति को छांड़, अन्य से करे यारी है। सास का कहा माने नहिं, करे पति से रिसाई है ॥ १० ॥ सुहागिनी हीन भूषण से, विधवा सिंगार रचाई है। भूलकर लोक अरु परलोक, करे हाँसी चोलाई है ॥ ११ ॥ त्याग के संग सज्जन का, नीच से प्रीति लगाई है। करे उपदेश जो सच्चा, उसी से मुंह फुलाई है ॥ १२ ॥ करे उपकार जो जिसका, उसी की करे बुराई है। समझ ऐसी पड़ी उलटी, होवे कैसे भलाई है ॥ १३ ॥ लिखे लक्षण यह थोड़े से, बहुत समझे चतुराई है।

बजाते बीना भैंसी पास, घास खावे पगुराई है ॥ १४ ॥ लिखा लक्षण कलिजुग का, नाम इसका तो कर जुग है । करे इस हाथ पावे उस हाथ, ऐसी वेदों ने गाई है ॥ १५ ॥ जो कोई करे रक्षा धरम, उसी से कली करे ये शरम । केशवानन्द वो पावे ब्रह्म, न इस में झूंठ राई है ॥ १६ ॥

६ ग़ज़ल

बिना सत संग सुन प्यारे, गती नहिं होयगी तेरी । भूला क्यों जाल माया में, छुटेगा पलक के फेरी ॥ टेक ॥ बड़े भागों से है पाया, मनुष के तन में जो आया । घड़ी पल छिन में है खोया, नाचता काल शिर नेरी ॥ १ ॥ छांड़ सब मैं और मेरी, विचारो ब्रह्म को सवेरी । ये हैं सब काल के चेरी, जरा टुक आप को हेरी ॥२॥ करो सत संग संतन से, मिटे सब भरम अन्दर से । लखो निज आप अपने को, कटे सब काल की वेरी ॥ ६ ॥ जब सत् गुरु मिले पूरे, खुले तब हीय के घूरे । पाया केशव गुप्त इसी तन में, बरे जगजाल की ढेरी ।

७ ग़ज़ल

लखा जब आप अविनाशी, कटी सब कर्म को फांसी । मिटा सब जन्म चौरासी, हुआ मन ब्रह्म में वासी ॥ टेक ॥ नहीं है जाल माया का, नहीं परलोक का आसी । है सब ही ठौर में बासी, भटकता क्यों मथुरा काशी ॥ १ ॥ करो दिल साफ अन्दर से,

होय तब ज्ञान परकाशी । मिटें सब ताप या मन के, छुटे सब भर्म की राशी ॥ २ ॥ जपो निज जाप शिवोहं का, यही है ज्ञान सुख राशी । यही है ध्यान अरु पूजा, यही अज्ञान का नाशी ॥३॥ छांड़ सब मैं अरु मेरा, विचारो कोई नहीं तेरा । मिटाया केशव सब खेड़ा, लखा निज आप को खासी ॥ ४ ॥

८ ग़ज़ल

भूलो मत काम धन्धे में, पड़ोगे जग के फन्दे में । जपो निज जाप अन्दर में, मिटे सब ताप पल भर में ॥ टेक ॥ भूले थे माया आसी में, लगाये गुरु निराशी में । लगा है मन उदासी में, कटा सब भर्म काशी में ॥ १ ॥ जिसे हम जानते बन में, बो पाया आपके घर में । छुटी सब आश या मन में, लगा है चित्त चिद्घन में ॥ २ ॥ यही है धर्म सन्तों में जमाया बुद्धि नूरों में । जराया कर्म या वपु में, न आवे फेर या भव में ॥ ३ ॥ वहो मत मृग तृष्णा में, मिथ्या ज्यों पुष्प गगनों में । गुप्त केशव मिला तन में, रहा नहिं काम इस जग में ॥ ४ ॥

९ ग़ज़ल

पिया है राम रस प्याला, करे क्या जम का भाला है । धरम के पात्र शान्ती रस, विचारों का पियाला है ॥ टेक ॥ झूमे निज नैन में आनन्द, ब्रह्मानन्द है मस्ताना । उठी वृत्ति प्रवाहों की, निजानन्द में समाला है ॥ १ ॥ यही है काम फक्कड़ों का, लकारों को

उठाया है। नकार है वार वार जिनको, दकारों से निराला है ॥२॥ गती है जिनकी हंसों की, ये नीरों को निकाला है। पिया है क्षीर ज्ञानों का, प्रपंचों को निकाला है ॥ ३ ॥ हैं बसते देश व्यंजन में, निरंजन एक समाला है। कहे केशव मिटा आना, यही ब्रह्म-ज्ञान-माला है ॥ ४ ॥

१० ग़ज़ल

घटहि में ढूंढ ले प्यारे, ये बाहर क्यों भटकता है। अखण्ड है ज्योति जिस मणि की, हमेशा वो दमकता है ॥ टेक ॥ जले बिन तेल बाती के, पवन से नाहिं बुझता है। पाइ जिनके सहारे से, वो सूरज भी चमकता है ॥ १ ॥ हुए तम नाश जब घट के, जहाँ पर दीप जरता है। विरोधी ज्ञान बाहर के, न अन्तर वृत्ति बरता है ॥२॥ मिटे अज्ञान से मूला, कार्य तूला में होता है। जरे संचित तथा क्रियमाण, एक प्रारब्ध रहता है ॥ ३ ॥ खुटे प्रारब्ध फूटे घट, तबहिं महाकाश मिलता है। कहे केशव लखे जब ही, गुरु की शरण बसता है ॥ ४ ॥

११ ग़ज़ल

अगर है ताप ईश्वर का, बुरे कर्मों से हर दम डर। उलट कर आस विषयों से, बहिर इन्द्रिय सदा दम कर ॥ टेक ॥ करो सत्संग सदा मन से, गुरु वाक्यों में श्रद्धा कर। तजो सब मान अपमाना, पियो ये ज्ञान रस भरकर ॥ १ ॥ दुनिया दुख रूप है

धन्धा, माया किरातिनी का फन्दा। फंसा है जीव मृग अन्धा, छुटे कोइ बीर ज़ोरावर ॥२॥ है बैठी मक्खि जब गुड़ पर, लिपट गये तबहि दोनों पर। रोती है शिर को धुन धुनकर, लालच में प्राण गये तड़ कर ॥३॥ कुटुम्ब परिवार सुत दारा, केतकी फूल सम प्यारा। मुवा ये छूतेही भौंरा, केशवानन्द छोड़ा सब झंगर ॥४॥

१२ ग़ज़ल

करम के भोग भोग बिन, कभी फ़ुरसत न होती है ॥टेक॥ गुरु वशिष्ट से ज्ञानी, धरा है राज का मुहूरत। सजा सब साज गादी के, लगन सब लोग जोता है ॥ १ ॥ तीनों लोकों के मालिक थे, देव जिनके हुकुम में थे। निमित्त जब आये भोगों के आख़िर बनवास भोक्ता है ॥ २ ॥ हुवे परीक्षित हरिश्चन्द, जिनो ने कलि को रोका था। निमित जब आया भोगों का, डोम घर पानी भरता है ॥ ३ ॥ किया है विचार जिस नर ने हुवा है पार या जग में। कहे केशव बिना धीरज, वो शिर धुन धुन के रोता है ॥ ४ ॥

१३ ग़ज़ल

सुनले ये बात प्यारे, दुनिया से होजा न्यारे। ये सब हैं झूठे व्यवहारे, जैसे मृगनीर सारे ॥ टेक ॥ अरूनी-फल देख पक्षी, धाता है माँस अच्छी। मारत है चोंच सम्हर कर टूटे दोऊ टोर हारे ॥ १ ॥ सेमर को देख सूबा, लगावे है आस जूबा। मारत

है चोंच सूवा, उड़ चला अंत पछतारे ॥ २ ॥ तैसे ही सुत अरु दारा, माने है बहुप्यारा । आखिर तो होगा न्यारा, क्यों ना अभी समारे ॥ ३ ॥ लालच को छोड़ भाई, करले तू कुछ कमाई । वहां चले न ज़ोर राई, केशव कहे विचारे ॥ ४ ॥

१४ ग़ज़ल

भरम की भंगा पीकर के, सत-चित-आनन्द भुलाया है ॥टेक॥ अज्ञान शिला अरु मोह की लोढ़ी, तृष्णा घोट मचाया है । राग सोंफ अरु द्वेष कासनी, ममता मिरच मिलाया है ॥ १ ॥ काम इलायची क्रोध की केसर, लोभ बदाम फुड़ाया है । भाव के लोटे में ईष्या जल, अहंकार से भर मंगवाया है ॥ २ ॥ चित्त की साफ़ी विषय का गोला, कुबुद्धि धर छनवाया है । अनात्म मलों की शकर मिलाकर, मन भँगड़ी को पिलाया है ॥ ३ ॥ हुआ अलमस्त भुलाया चेतन, सारी अक़्ल गमाया है । कहे केशबानन्द पड़ी नहीं गम, चौरासी यों भरमाया है ॥ ४ ॥

१५ ग़ज़ल

घटहि में गंगा है प्यारे, न्हिलाले मन को तू भाई । छुटें सब पाप या दिल के, होय अन्दर में उजलाई ॥ टेक ॥ लगी नहिं थाह या जल की, बहुत है यामे गहराई । नदी है ईश नाला जीव, सबी उस में मिलै जाई ॥ १ ॥ बना है घाट चतुष्टय का, हैं पैंड़ी जामें समताई । नहाते कोई बिरलेजन, वो पाते पद हैं

सुख दाहै ॥ २ ॥ करा जब दिल का अन्दर में दमकतानूर चमकाई । छुटे सब आस या जग से, हुवे सब दूर भरमाई ॥३॥ मिटा बन्ध-मोक्ष केशव का, लखा जग मिरग तृष्णाई दरीद्दर दुःख सब नाशे गुप्त ने जबहि अपनाई ॥ ४ ॥

१६ दादरा ग़ज़ल

विनाये ध्यान ज्ञान के जीना न काम का । जीना पिछाने ब्रह्म को, वो तन है स्वान का ॥ टेक ॥ भटकता द्वार २ को ये टूक के लिये । सहता है अपमान को, यक पेट लिये । भूला क्या अजार में निवार आपका ॥ १ ॥ छाँड भरम के फाँस को विचार कर हिया । वो हरदम है तेरे पास में, जरा दिल में कर दिया ॥ जराले कर्म ढेर को मिटाले ताप का ॥ २ ॥ जग है मृग नीर जैसे, जाल है नट का, मिथ्या है शश शृंग तैसे, पुष्प कास का ॥ उठाले हिर्स जग से, भूलना न नाम का ॥ ३ ॥ वोही है तनु धर्म लखा, जो है एक ब्रह्म । न साया काल जाल को, बहाया सर्व भ्रम कहे ताहे है केशवानन्द अब भयो समान का ॥ ४ ॥

१७ दादरा ग़ज़ल

मैं ही हूँ ब्रह्मानन्द मुझे वेद गाता है । मात तात भ्रात सभी झूठा नाता है ॥ टेक ॥ हूं अविनाशी नाश रहित, जहां काल नहीं है । पंच कोस शरीर त्रय स्वप्ने दिखाता है ॥ १ ॥ हूँ आकाश वत् व्यापक, भीतर अरु बाहर नित्य शुद्ध नित्य मुक्त तीनों, गुन

अतीता है ॥२॥ क्रिया-शक्ति नहीं जिस में ज्ञान शक्ति है ॥ द्रष्टी गोचर है नहीं, शैन लखाता है ॥ ३ ॥ ऐसे निश्चया पाय के करतव्य तजा है, कहता है केशवानन्द बाही साधू कहाता है ॥ ४ ॥

१८ दादरा

करले दया धर्म जो, पाना है निरवान । जोबतावे वेद गुरु, ताहि को फिछान ॥ टेक ॥ कहते हैं गुरु टेर के, सब घट में है भगवान । वो मिलता है सत्संग से, जो कथा लगावे कान ॥१॥ भटकता है जो बाहर को, वो होता है हेरान । जैसे मृगा नीर बिना देता है ये प्रान ॥ ६ ॥ दमक तेरी पाई के, चमकता है ये जहान । लखा है जब आप को, तब होता नहीं भान ॥ ६ ॥ गुप्त सागर गोता मारा, पायी रतन खान । कहें केशवानन्द अब भयो है समान ॥ ४ ॥

१९ दादरा

मुक्ती के द्वारे आके तू करता, है क्यों बिरान । औसर न ऐसा आयेगा फिर, हो जाय तू निरवान ॥टेक॥ लख चौरासी भरम के, अब आया है ठिकाना । और भरम सब छांड़ प्यारे, हिरदे माहीं जान ॥ १ ॥ वेद गुरु भी यही बतावे, व्यापक है एक समान । वोही है सब का आत्मा, फिर होता है क्यों हैरान ॥२॥ अन्दर से तू मन बस करले दे तू चतुष्टय ध्यान । अहं ब्रह्मास्मि जाप जपले, यह ही है ब्रह्म ज्ञान ॥ ३ ॥ विषय पांचो बस करले, येही हैं दुःख की खान । कहे केशवानन्द ये, वचन हैं परमान ॥४॥

२० दादरा

सोता है गाफिल क्यों मुसाफिर, जाग जागरे। होजा हुशियार माल बचानें लाग लागरे ॥ टेर ॥ इस नगरी में नो दरवाजे खुले पड़े हैं किवाड़े सारे, घुसे हैं पांचों चोर ताके भाग भागरे ॥१॥ स्वधर्म की तोप करले डाट वेराग की बारूद भरले, मारदे गोला ज्ञान के तू ताक ताकरे ॥ २ ॥ सोता सो खोता है प्यारे, बचता रे नहीं मालरे। अब तो कहूँ जागले प्यारे, छाँड़ विषय के राग रागरे ॥३॥ गुरु वेद के आशय समझो, छाँड़ भरम के फांसरे। कहें केशवानन्द मिटा जो जन्म की आग आगरे ॥ ४ ॥

२१ दादरा

उठ चलेगा पल में कोई, काम न आवेगा ॥ कुटुम्ब कबीला छूटेगा, एक जान जावेगा ॥टेक॥ लगावे नहीं देरी, कपड़ा मगावेगा। चढ़ावे घोड़ा काठके, सत नाम बुलावेगा ॥ १ ॥ धरे समान में जायके बंधन छुड़ावेगा, नीचे ऊपर से लकड़ी, फिर आग लगावेगा ॥ २ ॥ राख होयगा छिन में फिर, गंगा नहावेगा। देकर तिलांजलि जलकी, कोई नाम न लेवेगा ॥३॥ करले दया धर्म को, जम जाल मिटावेगा। कहता है केशवानन्द हरी का नाम बचावेगा ॥ ४ ॥

२२ दादरा

चामके इस गांव में, रहना किसी को नाहे ॥ टेक ॥ राज करते राजा गये, खेती करत किसान, बड़े २ जोधा राख हो गये,

स्थिर रहा कोई काहे ॥१॥ जाना है जरूर प्यारे, होता है क्यों अजान, दया धर्म हिरदे राखो, तनु मानुष के माहे ॥२॥ जब तक जिया पाप कमाया, भजन किया कछु नाहे। अंत में जमराज मूंडा कूटे चारा चलेगा क्या हे ॥३॥ कुटुंब कबीला खोंस के खाया, राम पिछाना नाहे। कहता है केशवानन्द तेरा, वृथा जमाना जाहे ॥४॥

२३ दादरा

जब से जाना है भेद, माया का कान काट दिया ॥ टेक ॥ बना कर छूरी ज्ञान की विचार हाथ से। सत्संग डोर बाँध के निपात कर दिया ॥ १ ॥ बिचरते मौज मैं सदा, निशंक होय कर, भरम का फंदा तोड़, कर्म को जला दिया ॥ २ ॥ जोनहिं जाना है भेद, उन के सिरमोर हो रहा नचाता है निशीदिन उन को, आधीन कर लिया ॥ ३ ॥ करले विचार बलका, तू ही सहजोर है। समझ कर केशवानन्द उस को बन्ध काट दिया ॥ ४ ॥

२४ दादरा

निकल जायेगा स्वास, जैसे पुष्प वास है ॥टेक॥ लागेगी नहीं बार, जैसे दीपक बात है। आव में बूंद २ तैसे, फेन नाश है ॥१॥ चार दिन की चाँदनी, पिड़ तो अंधारा है। भूला है क्यों संसार में तू स्वयं प्रकाश है ॥२॥ पंचकोष शरीर में, वृथा हंकार है। मात तात भ्रात सब स्वप्न खास है ॥ ३ ॥ देखले विचार करके, तूही आधार है ये सब ही नाश होयँगे, जैसे ये घास है ॥ ४ ॥

करले दया धर्म को, सम्हार खास है। कहता है केशवानन्द छांड़, जगत् आस है ॥ ५ ॥

२५ दादरा

राम नाम छाँड़ के, तें काम क्या किया। धन धाम काम बाम में अपना ये मन दिया ॥ टेक ॥ किया काम बेईमान तूने, विषयों में दिल दिया। पारस मनी को खोय के तू, दीन हो गया ॥१॥ पाया अमोल देह को, विचार कर हिया। बिना ये ध्यान ज्ञान के वृथा ही तू जिया ॥ २ ॥ दिया था मनुष देह को, एक भक्ति के लिये। फँस पंचकोष त्रम शरीर आपना किया ॥ ३ ॥ खायेगा बहुत मार तब, कोइ ना करे दया। हाय हाय करम को मार केशव ने है यूं किया ॥ ४ ॥

२६ आसावरी

काहे को सोच रहा रे। मूरखनर; काहे को सोच रहा रे ॥टेक॥ कीरी कुंजर सब को देत है, जिनके नहीं व्यापाररे। पशु अनेक को घास दियो है, कीट पतंग को सारे ॥ १ ॥ अजगर के तो खेत नहीं है, मीन के नहीं गौरारे। हंसन के तो वनिज नहीं है, चुगत मोती न्यारारे ॥ २ ॥ जिनके नाम है विष्णु विश्वंभर उनको क्यों न संभारारे। छाँड़ दे काम क्रोध मद ममता, मानले कहा हमरारे ॥३॥ निशदिन चिन्ता करत है मन में, सब धन होइ हमारा रे। भाग लिखा है उतने पईहै, यही केशवानन्द विचारारे ॥४॥

२७ आसावरी

भजन बिन कोइ करत है ख्वारी ॥ टेक ॥ आठमास रहे जब, उदर माहिं दुःख सहा अति भारी। ऊपर पग औधे मुखझूला, कीड़ा काटे हजारी ॥ १ ॥ जठरा आग से आँच लगत है, ओज से बंधी तनु सारी ॥ असंख्य जन्म को याद करत है, अब न भूलूं प्रभुवारी ॥ २ ॥ भीतर से जब बाहिर आये, रहा न एक विचारी । यह संसार की हवा लगी है, बस भये कामि नारी ॥ ३ ॥ मानुष तनको सुर बाँचत हैं, सुनो प्रभु अरज हमारी । यह तनु सबहीं साधन करके, हो जाय रूप तुम्हारी ॥ ४ ॥ गुरु वेद के आशय समझकर, हो जा जगत से न्यारी । कहे केशवानन्द अब भूलोमत, लीजे रूप निहारी ॥ ५ ॥

२८ आसावरी

मूरख नर, पाप करम से डरोरे ॥ टेक ॥ जैसे शरीर है अपनो प्यारो, तैसे पशू पक्षी रे । अपने-अपने भोग भोगन को बन्यो वपू न्यारोरे ॥ १ ॥ अपने तनु मक्खी न बैठन दे, दूजे को करे तिरस्कारो । चार अंगुल जिव्हा स्वाद के कारन, मारे बन्दूक समारोरे ॥ २ ॥ जैसे शरीर है अपने बून्द के, तैसे बकरा माछीरे, जरा विचार न करता गवाँरा, खात है मूढ़ चटोरोरे ॥ ३ ॥ जब तक जिया पाप कमाया, दया किया कछु नहिंरे । अब यमराज कंठ में घेरे, बाँध चले बग डोरोरे ॥ ४ ॥ जननी सम जाने परनारी,

परधन विषके समरे । दया धरम हिरदे में राखो, केशवानन्द वेद पुकारोरे ॥ ५ ॥

२९ आसावरी

फूल रही फुलबारी । इस तनु में, फूल रही फुलवारी ॥टेका॥ चारों साधन कोट खड़ी है, श्रवण मनन सम्हारी । निज निदिध्यास उत्तुंग चहुँ पासा, चारों द्वार किमारी ॥ १ ॥ नाभि कमल से सड़क बनी है, ताके बगल में क्यारी । रंग बिरंग के फूल खिले हैं, छबी अजब है न्यारी ॥ २ ॥ विचार विवेक की-खुरपी करके, विषय वासना उपारी । सुमन माली सनेह जलसे, सींचत लोचन चारी ॥ ३ ॥ कहीं मौगरा गुलाब खिली है, कहीं चमेली की झारी । कहे केशवानन्द चित्त भ्रमर कर, चूस गये रस सारी ॥ ४ ॥ इस तन में, फूलरही फुलवारी ॥

३० आसावरी

चेतन स्वयं प्रकासा । जानेंरे कोई चेतन स्वयं प्रकाशा ॥टेका॥ आगनी तोयाहि जराइ सके ना, पबन से नहीं उड़ेना ॥ जल तो याहि भिंगाइ सकेना, सूरज नाहीं सोसा ॥१॥ घटके जोग आकाश चल दीखे, जलधारा चन्द्र चलेला ॥ दंड जोगते घट फूटत है, आकाश का होइ न नासा ॥२॥ सत आधार से स्थूल खड़ा है, चेतन आसरे चलेला ॥ आनन्द से है प्रकाशित सबही ज्ञानिन को अस भासा ॥३॥ नाहीं कहीं से ये है आया, नाहीं कहीं है जाना। व्यापक रूप में आना न जाना, केशवानन्द झूठ तमाशा ॥ ४ ॥

३१ ग़ज़ल (ताल चलत)

तृष्णा को दीजे निकाल । निकाल मेरे प्यारे, तृष्णा को दीजे निकाल ॥ टेक ॥ तृष्णा ही तुझे दसो दिश भरमावे, तृष्णा ही कीनो बेहाल ॥ १ ॥ बेहाल ॥ दस जो होवे पचास को मांगे सतहजार न नाल ॥ २ ॥ नाल ॥ तीनों लोक में डोलत फिरहै कबहुँ न होता निहार ॥ ३ ॥ नीहाल मेरे ॥ कहता केशवानन्द एक संतोष बिन, कबहुँना मिटे जग जाल ॥ ४ ॥ जाल मेरे प्यारे ॥

३२ ग़ज़ल (ताल चलत)

निकाल-निकाल मेरे प्यारे भवजल में दीन्हो निकाल ॥टेक॥ डूबत रहे अगम की धारा, तासे यह लीन्हो संभाल ॥१॥ संभाल ॥ मोह की धार कठिन बहु चाले, सर्प कच्छ बहु व्याल ॥ २ ॥ व्याल ॥ ज्ञान को खड्ग दियो है दया करि, मार दियो जम काल ॥ ३ ॥ काल मेरे ॥ सत्संग नैया ऊपर बिठा के, पार किया किरपाल ॥ ४ ॥ पाल ॥ कहत केशवानन्द गुरु कीन्हा आनन्द ऐसे भक्त प्रतिपाल ॥ ५ ॥ पालमेरे ॥

३३ ग़ज़ल (ताल चलत)

जाल-जाल मेरे प्यारे, क्यों है फँसा जग जाल ॥ टेक ॥ जगत् की जाल बहुत ही झीनी तामे फसावे काल ॥१॥ काल॥ बड़े२ शूरबीर हैं फस गये, और फँसे नरपाल ॥२॥ पाल, इस जाली के पांच रूप हैं, तासे बचे कोई लाल ॥ ३ ॥ लाल ॥ केशवानन्द एकहि उपाय है, एक ही ब्रह्म संभाल ॥४॥ संभाल मेरे प्यारे ॥

३४ ग़ज़ल (ताल चलत)

काहे को होता बेहाल। बेहाल मेरे प्यारे ।।टेक।। घर में तेरो चित्त गडो है, बाहर ढूंडे क्या माल ॥ १ ॥ माल ॥ जैसे गले में होती ये माला, रोता फिरे बिल लाल ॥२॥ लाल ॥ तैसे विद्या, आदि जुगादि से, भुलाइ रह्यो जैसे बाल ॥ ३ ॥ बाल ॥ केशव अहंब्रह्म बिन जाने, कबहुँ न मिटे जगजाल ।।४।। जाल मेरे ॥

३५ प्रभाती

कहूँ लक्षण अवधूत साधो; कहूँ लक्षण अवधूतरे ।।टेका। दशों दिशा अम्बर हैं जिन के, आठो अंग विभूतरे। कर है पात्र उदर है झोली, दस इन्द्रिय पकड़ी मजबूतरे ॥ १ ॥ आशा पास दूर भये जिनके, बासना को किया निपूतरे। रहते मस्त स्वरूप आपने, दूर की कर्मों की करतूतरे ॥ २ ॥ दूर किया पांचों विषयों को, चेष्ठा बहिर अनूपरे। लखा जब भीतर बाहर एक रस, सोई योगी अवधूतरे ।।३।। तत्व ज्ञान में निश्चय करके, माया को दिया है जूतरे। कहे केशवानन्द सुनो भाई साधो, यह लक्षण गुप्तपूतरे ।।४।।

३६ कजरी

छाय-आये २ छाय आयेरे, देखो गगन मंडल में ॥ टेक ॥ काली बदलिया में चमके बिजुलिया, अमृत की झरना झराय रहेरे ।।१।। जाब ये मोर और दादुरिया, पाय अमृत मोटाय रहेरे ।।२।। जीव किसान खेती वोवाये, वाणी खाद दिबाय रहेरे ॥ ३ ॥ कहत केशवानन्द ऐसा है मति मंद, थोड़े कष्ट घबराय रहेरे ॥ ४ ॥

३७ पद पीलु

दास की आस, तजोरे गमारा। जड़ चेतन में, व्यापक है सारा ॥ टेक ॥ एक अकाश में भेद बहुत हैं, घट मठ मेघा काश है न्यारा ॥ १ ॥ चौथा जलाकाश तुम जानो। तैसे ही चेतन में, भेद सुन प्यारा ॥ २ ॥ एक कूटस्थ, जीव पुनि कहिये। ईश ब्रह्म ये, चारी परकारा ॥ ३ ॥ भाग त्याग से, भेद दूर कर। लीजिये एक, रूप निरधारा ॥ ४ ॥ मन के अनेक में, सूत्र एक है। केशवानन्द त्यों हीं आप विचारा ॥ ५ ॥

३८ पद

केशंदा आगे; नाचत आवे गोविंदा ॥ टेक ॥ सुर से गावे, ताल बजावे। फसावत है मतिमंदा ॥ १ ॥ जिन के गान से, छूटत माया। हानि होत जग-फंदा ॥२॥ हिरदे आकाश में होवे प्रकाश। उगि गये पूरन चन्दा ॥ ३ ॥ दूर हो गये तिमिर-अज्ञान। लख गये पूरन नन्दा ॥ ४ ॥ कहत केशन्दा, सुनोजी गोविंदा। रहियो सदा आनन्दा ॥ ५ ॥

३९ पद कव्वाली

मज़ा वोही लेते हैं यार, ज्ञान रस के जो पीने वाले ॥टेक॥
मन से कल्पना दीन्ही निकाल, दूर किया सब माया का जाल।
चित्त से चिन्ता दीन्ही टाल, लोभ मोह सब मार गिराने वाले ॥१॥
दूर हुआ सकल भरम का भूत, न बनते बाप किसी के पूत।

मारा अविद्या पर खासा जूत, सदा अलमस्त हैं रहने वाले ॥२॥ कोई मजा मानते धन्न, कोई पुत्र और दारा जन्न । कोई महल मकान बाबन, ये सब जमदण्ड के खाने वाले ॥ ३ ॥ अपना सरूप है आनन्द, उसी को कहते ब्रह्मानन्द । लखा निज पूर्ण केशवानन्द, जनम के दुःख मिटाने वाले ॥ ४ ॥

४० पद कव्वाली

फकीरी बोही कमाते यार, सदा मन को वश करने वाले ॥ टेक ॥ मन को लगाया परमानन्द, देखते हरदम पूनमचन्द । ताकर भयो प्रकाशानन्द, भरम तम के जो नसाने वाले ॥ १ ॥ फेकर फाक गये त्रीलोक, बाकी रखा न कोई ओक । लागे नाहीं फिर कोई झोक, ऐसे जनम मिटाने वाले ॥ २ ॥ की कृत कृत्य भया निज आप, लगाता नहीं जहाँ कोई छाप ॥ विद्या अविद्या हो गई माप, भेद का मेड उड़ाने वाले ॥ ३ ॥ रकर रमि रहा सब ही ठोर, वहाँ पर चले न किसी का जोर । मन बुद्धि सारी हो गये थोर, अगममे गमको लाने वाले ॥ ४ ॥ करते सदा एकान्त में बास, किया है वासना सारी नास । लखा चित पूरन चेतन खास केशवानन्द कर्म जराने वाले ॥ ५ ॥

४१ होली

काहे को, धन जोड़े होरे गोरी, देह जलेगा जैसे फागुन की होरी ॥टेक॥ बहुत कष्ट से धन है कमायो, जोड़त लाख करोरी॥

निशि दिन चिन्ता करत है मन में, माल लेय नहिं चोरी ॥ बन्यो चित आफत डोरी ॥ १ ॥ दिन में आतम बात सह्यो है रात में शीत सह्योरी । भूख-प्यास को द्वंद सह्यो है ॥ कष्ट सह्यो है भारी, अन्त कोई न चलोरी ॥ २ ॥ धर्म पुण्य नहिं एक कियोहै, साधु की करत ठठोरी । मात पिता को घर से निकाले, बस भये कामिनि नारी; आयु सब विरथा खोयोरी ॥ ३ ॥ जब जमरात दशों दिश घेरे, चले न किसी की जोरी । कहे केशवानन्द पकड़ जम कूटे, गले लगावत डोरी; यही है कर्म की खोरी ॥ ४ ॥

४२ होली

बिन ज्ञान मुक्ति नहिं हाई । लाख उपाय करो नर कोई ॥टेक॥ तन सुखाय के पिंजरा कियो है, नख शिख जटा बंधाई । अन्न को त्याग फलाहार कियो है, तो भी न चाह उठाई; वृथा सब उमर है खोई ॥ १ ॥ ऊपर से बहु त्याग कियो है, भीतर आश लगाई । आंखें मूँद ध्यान धर बैठे, भार के आग कमाई, देखो ऐसे मुरख लोई ॥ २ ॥ घर के माहिं अंधार रहत है, कोटिन करे उपाई । बिन प्रकाश के तम नहिं नसि है, चाहे दंड से मारि भगाई; देखो ऐसे भ्रम में खोई ॥ ३ ॥ मल बिक्षेप दूर सब कर के, गुरुशरण जो आई । अहं ब्रह्म केशव ने लख्यो है, ताही से तम है नसाई, कहे केशवानन्द जनोई ॥ ४ ॥

४३ होली

बिन सतगुरु के खुले न किमारी ॥ चाहे फिरो कोई जंगल झारी ॥टेक॥ तीन महल का मकान बना है, पाचों तत्व समारी।

दसो दिशा में खिरकी लगी हैं, ताही में चार अठारी; वहीं है श्यामबिहारी ॥ १ ॥ अज्ञान-किमाड़ मोह-जंजीर, माया का ताला है भारी। काम क्रोध बहु गूल जड़ी है , हंकार की चोकठ ठाड़ी, ताही से खुले नहिं जारी ॥ २ ॥ शम दम श्रद्धा समाधान हो, और उपरति धारी। चारों साधन सम्पन्न होयकर गुरुजी के ओर पधारी; चाहे जो मेटन ख्वारी ॥ ३ ॥ गुरु के प्रसाद साधु की संगत, खुलगये भाग हमारी। ज्ञान की कुंजी दी है दयाकरि, खुल गये गगन किमारी, केशवानंद आप समारी ॥ ४ ॥

४४ होली

लियो है उबारी, गुरुजी मोहिं लियो है उबारी ॥ टेक ॥ आशा नदिया मनोरथ जल है, राग को मगर रहोरी। तृष्णा चिंता की लहरें उठति हैं, मोह की धार है भारी; धीरज तरु दियो है उपारी ॥ १ ॥ भ्रम के भँबर दुर्वास दोउ तट, लोभ को मच्छ वडोरी। काम क्रोध बहुसर्प रहत हैं, तासे लियो है उबारी; ऐसे गुरु पर बलिहारी ॥ २ ॥ ज्ञान की नौका दया पवन से, दे सत्संग पतवारी, विचार विवेक की पंखा लगी है। जुक्ति सहारे उतारी, लगाजल सारेखारी ॥ ३ ॥ जो जो आय बैठे नौका पर, पार उतर गये सारी। जो यह नौका को त्याग कियो है, डूब गये मूढ़ अनारी, कहे केशवानन्द विचारी ॥ ४ ॥

४५ होली

ऐसी होली; खेलो मेरे भाई। जासे जनम मरन मिट जाई ।।टेक।। अज्ञान अरनी मोह छेना, भरमथंव रोपाई ॥ शमदम विवेक बहु पूजन करके, ज्ञान की आग लगाई; झार उट्ठे बहुताई ॥ १ ॥ संचित जर गये आगामी जरगये जर गये, काम समुदाई ॥ असंभावना विपरीत भावना, विचार पवन से उड़ाई; धूर सब गगन समाई ।।२।। शांती सरमे चुपकी लगा कर, विराग गुलाल मचाई ॥ सत्संगति पिचकारी भर कर, मार दिया गुरु आई; छुटे नहिं रंग छुड़ाई ।।३।। शुक खेले सनकादिक खेले, व्यास वशिष्ठ समुदाई ॥ सोइ होली केशवानन्द खेले, मिट गयी काम कमाई, सत् चित् आनन्द पाई।।४।।

४६ होली राग झुवर

मैंने अपने गुरु से खेली है होली, काट दई जिन काल की डोरी ॥ टेक ॥ धन करि अर्पण तनु से सेवा, वचन ये मन से गहोरी। शांति के जल वैराग पिचकारी, ज्ञान को रंग भरोरी ।।१।। संयम-गुलाल विचार-अवीर, सत्संग-रंग भिजोरी ॥ चढ़ गया रंग फिर नहीं पलटि है मिट गयी अविद्या करोरी ॥ २ ॥ बाहर से होली सब तजकर, अन्तर माहिं लगोरी। अन्तर मुख बिन सुख नहिं होइ है, येही सेन लखोरी ॥ ३ ॥ आशा तृष्णा अरु मद ममता ये सब दूर करोरी। कहे केशवानन्द गुरु के चरण बिन कैसे भव जल तरोरी ॥ ४ ॥

४७ होली राग ठुमरी

खोईरे, खोईरे, हरिके भजन बिन, उमरि सब खोईरे ॥टेक॥ बालापन सब खेलि बितायो, तृष्णा अधिक बढ़ीरे ॥ मात-पिता से हठ करते हैं, आकाश के चन्द्र मंगाई रे ॥ १ ॥ युवापन में काम के बस भये, सूझे न एक उपाई रे ॥ लोक वेद का कहा नहिं माने युवति के अंग लिपटाईरे ॥ २ ॥ बिरध भये तन कांपन लागे, होत न एक कमाई रे ॥ घर के लोग सब ताड़न करत हैं, जैसे बुढ़ा वैल बिलाई रे ॥ ३ ॥ तीनों पन सब बीत गये हैं, की तब करेगा सहाई रे ॥ मारि के सोटा प्रान निकासे, अन्त चला तू तो रोई रे ॥ ४ ॥ दंड देइके सवाल पूछत हैं, जवाब न एक बनि आई रे ॥ कहे केशवानन्द सुनो भाई साधो, आखिर दिन नर्क डूबोई रे ॥ ५ ॥

४८ कवित्त

संत हे सुजान जिन अन्त कियो काम सब, गुरु के प्रसाद से व्हायो काल जाल है। संकल्प बिकल्प सब दूर कियो श्रवण करि, मल को निवारि शुभ कर्म धर्म चाल है॥ अज्ञान को जराय दीन्ह मन को निर्मैल कीन्ह, भरम सब दूर कियो सरूप ज्ञाना नल है। अहं ब्रह्म आप जाने पंच कोसा तीत माने कहे केशवानंद ऐसे, संत को बहाल है ॥

४९ कवित्त

कोई बांछे धन जन कोइ वांछे स्वर्ग लोक, कोइ बांछे राज कोइ कुलवंती नारी है। जो-जो इच्छा आगे करे तृष्णाहू अधिक बढ़े, लेश सुख पावे न अविद्या कूप डारी है॥ मनुष जन्म पाये मुक्ति के द्वारे आये, गुरु के शरण होके छोड़ो जग खारी है। ये सब तो विनाशी सुख आप अविनाशी लख, कहे केशवानन्द सुख आत्मा विचारी है॥

५० कवित्त

जग मृग तृष्णा जान, एक ब्रह्म हृदय मान, द्वैत कों निवारि; दिल ब्रह्म में बसाइये। काम क्रोध लोभ मोह; तृष्णा से आदि लेके, जारि ज्ञान आगि कर; नाम रूप नसाइये॥ मिथ्या प्रपंच देखि; मन में न मोद मान, जान दुःख खान; अस्ति भांति प्रिय लखाइये। कहे केशव भयो चैन; गुरु के इसारा सैन, खुले जब दिव्य नैन, भरम सब खसाइये॥

५१ कवित्त

मारा है अज्ञान जिन; शूरवीर मानो तिन, दुःख को निवारि जो ब्रह्म में चरत है। क्षमा के कवच कीन; वैराग की तो ढाल लीन, ज्ञान के तरवार से तो; मारे मोह दल है॥ मारे काम क्रोध लोभ; अहंकार सब दूर किये; मन को पकड़ कर, कियो चक चूर है। पाया है अखंड राज, शांति के सुख समाज, कहे केशवानन्द यूं, आजाद होय रहत है॥

५२ कवित्त

भूल के अज्ञान से करत है हाय २; देखतो सँभार कर; दूसरो न कोई है । जैसे ताना पेटा सब, देखियत रूई रूई, पटके स्वरूप से तो, भिन्न नहीं जोई है ॥ घठ मठ देखिबे में, लागत है भिन्न २ उपाधि सब दूर किये; एक नभ होई है । जल में तरंग जैसे; बायु में वघुरा तैसे, ब्रह्म को विवर्त ऐसे, आप केशव सोई है ॥

५३ लावणी

हम रहते देश एकांत में सदा उदासा, हम काट दई सब जन्म मरन की फांसा ॥ टेक ॥ हम करते गिरि खोह नदी तट वासा, हम करते शयन शिला पर रैन उजासा ॥ बन भाग कभी अरु कभी मसान के मांही, हम खाते भिक्षा माँग उपाधी नाहीं ॥ हम करते गुप्त बिचार स्वयं परकाशा ॥ १ ॥ सुत भ्राता माता तात कुटुम्ब परिवारा, ये सब स्वप्ने का जाल माया विस्तारा । माया का जाना रूप भये हम जग से न्यारा, हम लियो ब्रह्म एक जान ढोते नहिं भारा ॥ उठाया मन से भेद दूर भयी आशा ॥ २ ॥ जब तीनों लोक के भोग त्याग सब कीन्हा । तब सत्गुरु शरन में आय जोग हम लीना ॥ उठ गयी चित से भीति रूप जब चीन्हा, तब मिट गये दीरघ रोग ज्ञान गुरु दीन्हा ॥ मिट गयी जनम की आस अविद्या भयो नाशा ॥ ३ ॥ हम रखते नहीं संसार से कुछ भी नाता ।

हम रहते मगन विचार ब्रह्म में माता ॥ नाहीं हम करते कपट दंभ नहिं माया । नहिं करते राग न द्रोह न जन्मी जाया ॥ केशबानन्द लखा जब आप नरखते माशा ॥ ४ ॥

५४ लावणी

करो देवी के पाठ है आया दशहरा ॥ करो सब देवी को प्रसन्न बांध शमशेरा ॥ टेक ॥ काया देवल के अन्दर हमेशा रहते, सिंहासन अंतःकरण के ऊपर वसते ॥ पृथ्वी-खप्पर हंकार-खड्ग लिये भारी, है पकड़-पकड़ कर जीव खा रही सारी ॥ कोई कच्चा कोई पक्का कोई डमरा ॥ १ ॥ दश इन्द्रिय का दमन पाठ नव जानो । श्रुति का सिद्धांत संतोष पुजारी मानो ॥ है सत्य पात्र श्रद्धा के हैं बहु फूला ॥ शांति का चन्दन चढ़ा करो अनुकूला ॥ दया जल से स्नान कराया, क्षेमा साफी से पोछ बहुरि बैठाया । निष्काम आरति करो उतारो लहरा ॥ २ ॥ वेद ज्ञान सुबिचार थार भरभर के । मन माहिं प्रेम-घन्टी को बजायी संभरि के । धर्म पुण्य की उड़ी है अवीर गुलाली, शीतल सुगन्ध आकाश भया है काली । शुद्ध तत्व जब देवी हुयी प्रसन्ना, तब दीया है हुकुम बली को हन्ना.॥ अज्ञान-पीड़ा बली ये नहरा ॥ ३ ॥ जो इस विधि से कोई भी करे दशहरा; वो पावे चारो राज और दश शहरा ॥ जो कोई नर मारे भूलि कभी भी बकरा । ऐसा नर करता नरक वास हमेशा ॥ है धर्म अहिंसा प्रथम हिं वेद बतावे, गीता अरु स्मृति उपनिसद् आदि भी गावे ॥ ले समझ केशवानन्द देखरे बहरा ॥ ४ ॥

५५ लावणी दोहावली

अब नहीं भावत किसी की बात। मार दिया भेद पाँच पर लात ॥टेक॥ कोई जीव ईश में बताते भेद, कोई जीव जीव परस्पर भेद। तीजे जीव को जड़ गावे, चौथे जड़ जड़ बतलावे ॥

दोहा—जड़ अरु ईसके भेद को, छेद करत कोइ शूर।
लखाजब व्यापक एक रस, किया जगत सब धूर ॥

उठ गये दिल से जगत् के नात, अब नहीं मानत किसी की बात ॥१॥ मैं ही हूं सकल जगत आधार, मेरे मांहि होत व्योहार ॥ न तो भी लिपते कोई विकार, जैसे आकास में नानाकार ॥

दोहा—जैसे एरन के ऊपरे, बनते नाना औजार।
तैसे कूटस्थ निज रूप में, होता है कारोबार ॥

लगावे नहीं अब दूजा हात, अब नहीं मानत किसी की बात ॥२॥ नहीं कोई वरन हमारा, हमने सब आश्रम को जारा। छुटी जब ज्ञान की धारा, वह गया वेद का मारा ॥

दोहा—जैसे स्फटिक स्वच्छ में, रक्त पुंष्प के जोग।
तैसे आतम शुद्ध में, कल्प रहे हैं लोग ॥

नहीं कोई है जात और पात, अब नहीं मानत किसी की बात ॥३॥ कोई यह लखते विरले बात, तजाजिन मात तात के नात ॥ हैं रहते मस्त औ मौज में, नहीं आवें फिर या भग में।

दोहा—कच्चा हीरा के वनिज, पर से तोलगि पूर ।
जोलगि मिले न पारखी, घन पर चड़े तो कूर ॥
केशवानंद लखा जो आप अजात, अब नहीं मानत किसी की बात ॥ ४ ॥

५६ लावणी दोहावली

मूरख नहिं मानत है दिन रात, करे अनीती खोटी बात ॥टेक॥
हरि के भजन से होत उदास, झूंठ निंदा में अति पियास ॥
सत्संगत में नहिं देता ध्यान, जुबा रंडी में बहुत है स्यान ॥

दोहा—बानी मधुरी बोले के, मोह लेत सब लोग ।
कपट गाँठ खोले नहीं, हुवा नरक के जोग ॥

कि जैसे मोर सर्प को खात, मूरख नहीं मानत है दिन रात ॥१॥
धर्म के माहिं न करत ख्याल, फँसाता जावे माया जाल। छिन २ पल-पल बीतता जाय, तो भी करता है हाय हाय ॥

दोहा—दिवस बिताया काम में, रात कामिनी संघ ।
आया काल जब दिया नगाड़ा, छूट जाय सब रंग ॥

तब तुझे क्या लगेगा हात, मूरख नहिं मानत है दिन रात ॥२॥
संत अरु गुरु से करे विरोध, जरा नहिं मन का करे निरोध ॥ बृथा करता है मैं मेरा, विचार कर कोइ नहीं तेरा ॥

दोहा—चाल दिखावे हंस की, करनी जैसे काग ।
देदिया है अनमोल हीरा, लेलिया तूने साग ॥

वृथा क्यों रटता मात और तात, मूरख नहिं मानत है दिन रात ॥३॥ यहाँ पर मचाया है बहु शोर, वहाँ पर नहीं चलेगा जोर ॥ यहाँ पर समझना है तुझे बात, तो कर ले सत् गुरुजी से नात ॥

दोहा—गुरु शरन में आइ के, लीजे राम पिछान ।
केशवानन्द मौका ना मिले अब, भूलो तो हरि की आन ॥

मारो भेद भरम पर लात, मूरख नहिं मानत है दिन रात ॥ ४ ॥

५७ लावणी दोहावली

सबेरे उठ महादेव कहना, जगत सब माया का स्वप्न ॥टेक॥ राग-द्वेष कर जग सब भासे, खींचे राग जगत तब नासे ॥ जैसे स्वप्न में देखे सृष्टी, जावे स्वप्न होवे नष्टी ॥

दोहा—देवन देव महादेव हैं, जाने चतुर सुजान ।
और देव सब कलपति जानो, रज्जू सर्प की भान ॥

उठायी मन से जगत् कल्पना, सबेरे उठ महादेव कहना ॥१॥ एक कूवा से निकली बेल, तासे भया असंख्या नेल ॥ ऐसा देखा अजबा खेल, सब मिल के हुईं एक ही मेल ॥

दोहा—एक ही से अनेक भये, नाम रूप बहु मान ।
न्यारे २ देख के ही, हो गये सुमति अजान ॥

जैसे बाजीगर खेलना ॥ सबेरे उठ महादेव कहना ॥ २ ॥ जब तलक देखेगा न्यारे, तब तलक ढोवेगा भारे ॥ अब तो भूल जा सारे, फिरे है क्यों मारे मारे ॥

दोहा—महादेव और देव को, एकहि जानो भेव ।
भेद भरम को त्याग के, एकहि देव को सेव ॥

तब तुझे मिटे जनम मरणा, सवेरे उठ महादेव कहना ॥३॥ यह सिद्धांत कहा भाई, वेद पुराण गुरु गाई ॥ केशवानन्द ने बुझाई, सज्जन सुनेंगे चितलाई ॥

दोहा—चित देकर के सुनेंगे, जिनके विमल विवेक ।
क्या सुनेंगे कपटी भरमी, उनके मती अनेक ॥

जैसा करना तैसा भरना, सवेरे उठ महादेव कहना ॥ ४ ॥

५८ भजन

राम मेरे मैंना कहीं जाऊंगा ॥ टेक ॥ नातो जाऊं काशी जी, नहीं हरिद्वाररे ॥ नहीं जाऊं बद्रीनाथ, नहीं भटकाऊँगा ॥ १ ॥ नहीं इच्छा है स्वर्ग की, नहीं बैकुण्ठ रे ॥ ना तो इच्छा राज साज की, वृथा न गमाऊँगा ॥ २ ॥ जैसे मिरग नाभि में, रहे कश्तूरीरे । जाने बिना भटकत फिरे, दशो दिश, नाजाऊँमा ॥३॥ व्याषक राम है नहीं, मेरे दूररे ॥ समझ करके केशवानन्द, उसी में समाऊँगा ॥ ४ ॥

५९ पद-वघावा

आज मेरे भाग जागे, साधू आये पाहुना । हरिष निरखि के, दर्शन करना ॥टेक॥ प्रेम की तौ झारी भरकर, शील विछौना ॥ धरम का तो आसन देके, शान्ति जल से धोवना ॥१॥ छः रस

के भोजन कर, छत्तीस रँग व्यजना ॥ सोने के तो थार भार के, आनन्द से जिमावना ॥ २ ॥ कंचन के तो गडुवा भर कर, मोद से अचाबना । लोंग सुपारी वास देकर, पान खिलावना ॥ ३ ॥ सुखद की तो आसन करके, तापर पौड़ावना । कहे केशवानन्द अपना मन, प्रभु में लगावना ॥ ४ ॥

६० पद-बरसाती

सत् संग बदरिया बरसे, होन लगी प्रेम कमाई हो राम ॥टेक॥ समदम बैल विवेक हराई, तनु मध क्षेत्र चलाई हो राम । जोत २ के कियो है निरमल, धर्म के बीज बोबाई हो राम ॥१॥ ऊग गयी बेल निशी दिन बाढ़े, सत् के टेकादिवाई हो राम ॥ श्रद्धा बसंत फुलेला-बहुरंग, ज्ञान के फल लगवाई हो राम ॥ २ ॥ पकि गये फल तपित हो गये दिल, मन से बासना उठाई हो राम ॥ जरि गये कर्म खूटि गये बीजे, तीनों लोक की चाह मिटाई हो राम ॥ ३ ॥ कहत केशवानन्द, पायो है आनन्द, ऐसी सत् सँग महिमा हो राम । भाग बिना नहिं मिलता सत् संग, जिसकी पूरबली कमाई हो राम ॥ ४ ॥

६१ भैरवी

मनारे तुझे, बिन पकड़े नाछाँड़ूँ ॥ टेक ॥ ना देखूं हाथ नाहिं देखूं पाँब, अनुभव ज्ञान से धारूँ ॥१॥ संकल्प विकल्प रूप तेरो है, प्रभु के नाम से पकड़ूं ॥२॥ ऊपर जाय तो राम मेरा है, नीचे

बिच सगँरूँ ॥ ३ ॥ सत् संगतिं की डोर से बांधू, ज्ञान अगिन से जारूँ ॥ ४ ॥ तेरो सब परिवार जार कर, (केशवानन्द) राज अखंड करूँ ॥ २ ॥

६२ भैरवी

उमर काहे बृथा खुटावत है ॥ टेक ॥ कबहीं तो काम, क्रोध में कबहीं ॥ कबहीं तो लोभ में गमावत है ॥१॥ कबहीं तो धन कबहीं तो जन में, पुत्र के लाड़ लड़ावत है ॥ २ ॥ झूठे इन्द्रिय स्वाद के कारन, प्रभु जी को नाम विसरावत है ॥ ३ ॥ वेद गुरु के उपदेश न माने, उलटे ये गाल फुलावत है ॥ ४ ॥ मानुष तन है राम मिलन को, (केशवानन्द) राम में राम समवात है ॥५॥

६३ दादरा-भैरवी

पाया है अनमोल लाल, दूसरा न जोई ॥ टेक ॥ जिनके मैं ढूंढन कारन, सकल जगत में भरमोई । बो तो अब मिलि गये प्रेम से, घटहि में बिलोई ॥ १ ॥ दुःख गये दारिद्र गये अरु चिन्ता सब खोई । ब्रह्म आनन्द में मगन होय के, पाटी पर सोई ॥२॥ काम गये क्रोध गये, लोभ को डुबोई । आशा तृष्णा गयी दशो दिशि, डंका बजबोई ॥३॥ जो नहिं पाया लाल को वो, रात दिना रोई ॥ केशवानन्द करो पुरुषारथ, आप रूप होई ॥४॥

६४ असावरी

साधो सहो न जाय दुख जग को ॥ टेक ॥ या संसार में सार नहीं है, जैसे मृग तृष्णा जल को । धावत २ प्राण तजत है, तैसे

अज्ञ मूर्खन को ॥ १ ॥ सुन्दर कामिनि काल नागिनि, स्पर्श करत बहु प्रेम को ॥ ध्यान हरत है प्राण खात है, मुबे भेजे नरकन को ॥ २ ॥ धन पुत्रन को मानत है प्यारो, जैसे घूघ रात्रिन को ॥ आखिर एक दिन छूट जायेंगे, लेय चलेगा उस बन को ॥ ३ ॥ कृपा-सिन्धु दया-निधि स्वामी, अब तो रोको मन को ॥ केशवानन्द शरन तेरी अब न, भूलूंगा भजन को ॥ ४ ॥

६५ दादरा

दुष्ट संग से सदा, रहना उदास रे ॥टेक॥ जैसे ओला खेत का, करता विनास रे ॥ आप विलय के फिर करता है, सकल धान का नास रे ॥ १ ॥ धन घाटे धरम घटे, पड़े भरम फास रे ॥ लोक परलोक दोऊ से जावे, करे नरक में वात रे ॥२॥ तेज घटे बुद्धि घटे, मिटे ज्ञान प्रकाश रे ॥ लख चौरासी से ना छूटे, पड़े दुःख के रासरे ॥३॥ सर्प काटे बिच्छू कटे, सो है दुःख खासरे। केशवानन्द दुष्ट से बचना, यही रहा है भाष रे ॥ ४ ॥

६६ बनजारा

अब निश्चय मेरा मन माना, कहीं मुझे नहीं है जाना ॥टेक॥ रज्जू जाने बिन सर्प सीप में रज्जत माने जी ॥ भ्रम करके भय को लाना ॥ १ ॥ तैसे ही ब्रह्म को न जानै, आप विषै दुख माने जी। शुभा-शुभ कर्म को ठाना ॥ २ ॥ मेरा स्वरूप है व्यापक, ज्ञान यही है दुख नाशकजी ॥ महा आकाश सम आना ॥ ३ ॥

यह दुनिया स्वप्न बत झूठी, ज्यों आकाश नीलवत् दीठा जी ॥
केशवानन्द करै ना सरूप की हानी ॥ ४ ॥

६७ बनजारा

सब तजो विषय को भाई, अब जपो शिवोहं मन लाई ॥टेक॥ कभी भोगा है राजा होके, कभी देव गण माहीं जी ॥ कभी गंधर्वों में जाई ॥ १ ॥ कभी भोगा है भेड़ बक्कर में, कभी ऊंट में आई जी ॥ असंख्य जन्मों का पता नहिं पाई ॥ २ ॥ जब लग विषयों को नहिं त्यागे, तब लग मुक्ती नहीं पावे जी ॥ अब देखो विचार कर भाई ॥ ३ ॥ बिन संतोष न काम नसाही, काम अछत सुख नाहीं जी ॥ केशवानन्द ने बात बताई ॥ ४ ॥

६८ ग़ज़ल

समझ कर झूंठ दुनिया को, ये फिर क्यों मन भटकता है ॥ तजो सब भर्म अन्दर से, ये बिरथा क्यों लिपटता है ॥टेक॥ मारा गुरु वाण ज्ञानों का, कलेजे में खटकता है ॥ तजा सब रागद्वेषों को, विषय से चित् सिमटता है ॥ १ ॥ बना हाड़ चाम का पुतला, मध्य मल मूत्र का ढगला, जानि दुःखरूप ये पुतला, नहीं मन अब चिपटता है ॥२॥ लगैं विषय-भोग सब खारी, जैसे विष लड्डू में डारी ॥ खाने में लगे बहुत प्यारी, आखिर को प्राण हरता है ॥३॥ जानि निजरूप को व्यापक, मिटा सब पाप के लापक ॥ जरा सब कर्म के नामक, केशवानन्द नहिं अटकता है ॥४॥

६९ ग़ज़ल

उगा आकाश में चन्दा, मिटा सब तिमिरका फंदा ॥ टेक ॥ शोभता है सदा आकाश, हैं तारागण भी सारे पास, हुवा है सारे तम का नाश; दीखता आप स्वच्छन्दा ॥ १ ॥ नहीं बंधा नहीं खूला, नहीं कभी भर्म में भूला ॥ नहीं कोई गर्भ से झूला, नहीं चोरयासी का धंधा ॥ २ ॥ है पाया सुख चरोरों ने, खिला है वन में कुमुंदा । हुवा है शोक चकवा को, चकइया दुःख में दुंदा ॥३॥ लगे नहीं दाव चोरों का, पड़ा पहरा सिपाही का ॥ रास्ता है न जाने का नहीं कोइ खिड़की रोसंदा ॥ ४ ॥ चले नहीं जोर है जिसका, जिन्होंने माल ले चसका ॥ केशवानन्द देखकर मुसका, लिया वैराग का कंदा ॥ ५ ॥

७० ग़ज़ल

फिदा हम उस पर हैं प्यारे, जिनों ने तत्व धारा है ॥ हैं बसते देश निर्जन में जगत सारे से न्यारा है ॥ टेक ॥ मार कर पाँच अरु पच्चीसा काम घर का निकारा है ॥१॥ राखते नाहीं कौड़ी पास, किया है वासना को नाश ॥ उठाया दिल से जमका त्रास, यही निश्चय विचारा है ॥२॥ दृष्टि है जिनकी समान, चाहते नहीं किसी से मान ॥ किया है ज्ञान रस का पान, जमको मार पछारा है ॥३॥ किया है तन मन धन कुरवान, लिया है ब्रह्म को पहिचान ॥ केशवानन्द जिनकी ऐसी वान, वोही आतम हमारा है ॥४॥

७१ ग़ज़ल

लखो उस धाम को प्यारे, जहाँ सब काम हो जावे ॥टेक॥ जभी से भूला उस शिव को, तभी से हुवा तू जीव को ॥ हुवा है भर्म जन्म भर को, अज्ञान निद्रा में सो जावे ॥१॥ है सोता क्या किसी आश्रे, भार हैं तुझी पर सारे ॥ भरम का बोझ पटक प्यारे, ब्रह्म एक क्यों न होजावे ॥२॥ होजा सद् गुरु की शरण, छोड़ कर जाति कुल वरन ॥ होवे मोहादि की हरन, तो मन से बंध खो जावे ॥३॥ खोया है बन्ध को जोई, पागया ब्रह्मानन्द सोई ॥ केशवानन्द जनम ना होई । ऐसा निश्चय जो हो जावे ॥४॥

७२ ठुमरी

देखो प्रेम तो लगाई, वो तो, सब घट घट में भाई ॥टेक॥ जैसे अगिन गुह्य काष्ट में, अतिशय रहे छिपाई ॥ प्रगट होत घर्षण करने से, तैसेहि सत् संग मन लाई ॥ १ ॥ रहत अगिन पत्थर के माहीं, उपर द्रष्टि से सूझत नाहीं ॥ अन्तर मुख विरजी हो जाई, तासे तम है नसाई ॥ २ ॥ होत प्रगट फिर छिपती नाहीं, लाखो घूघा कलपत माहीं, उठ गयी दुनिया काम कमाई, वह अजर अमर घर पाई ॥ ३ ॥ करत जतन कोई एक पावे, होत मस्त ना आवे जावे ॥ सत् चित् आनन्द एक के पाई, तामे केशवानन्द समाई ॥ ४ ॥

७३ ठुमरी

वो तो पर घट दीखे भाई ॥ कहां बाहर देखो जाई ॥टेक॥ जाग्रत स्वप्न सुषुप्ती माहीं; एक रस रहे सदाही ॥ अवस्था तीन व्यतिरेक हो जाई, आतम एक रहाई ॥ १ ॥ जिन के आनन्द से आनन्दित, ब्रह्मा आदिक अरु सब पंडित ॥ जैसे गुड़ में रहे मिठाई, चावल कल्पना लाई ॥ २ ॥ चेतन रूप से है प्रगटाई, जड़ देहन को रहा चेताई ॥ जिनके आसरे होत कमाई वोही निरंजन राई ॥ ३ ॥ मगन समझ कर रही लगन में, जनम मरण मिट जाबे जग में ॥ केशवानन्द भर्म सब खोई ऐसी कीनी कमाई ॥४॥

७४ माड

सुन सुनरे मनवा; काहे भूला परदेश ॥ टेक ॥ इस परदेश में कांटा खुवडा, पंथ न शुद्ध समेश ॥ नदी नाल जो अगम धार है, बड़े-बड़े शूर बहेश ॥ १ ॥ जंगल झाड़ बहुत हैं जिसमें, सिंह सर्प हमेश । भालू बन्दर राक्षस बहुतेरे, तासे बचावे रमेश ॥२॥ छांड देश यह हाट बाट को, धरले पंथ सुदेश ॥ या पंथा में अटक नहीं हैं, कहता मुनि वर वेश ॥ ३ ॥ सत् गुरु मिलि या राह बतायी, तामे रागन द्वेष ॥ केशवानन्द आनन्द में मिल गये, श्री गुरु के आदेश ॥ ४ ॥

७५ गुजराती माड

ऐ जन्टलमेनो मेरी मानो, सुनो केना लीजे तनिक विचार ॥ धरमों से करमों से निष्टा उठाकरके, मन को फँसाया विकार ॥टेक॥

दुनिया के धंधों में फंदों में फंस कर के भगवत को दीना विसार ॥ साईकल पर चढ़ कर के, घंटी बजा करके जाता है चाउड़ी वजार ॥ १ ॥ व्हिसकी की चुस्की की मुस्की लगाकर के मुख में दबाया सिगार ॥ आतम परमातम निरादर को करके, किया है जिन्दगी ख्वार ॥ २ ॥ होटल में जाकर के बोटल को भर कर के, रोटी पर लीना शिकार ॥ कोट पटलून बूट नहिं खोले खाता है मोड़ा चटार ॥ ३ ॥ वेद सिद्धांत निरादर करके, हेंड में हंटर हंकार ॥ लोक परलोक दोऊ से जावे; केशव है कहता पुकार ॥ ४ ॥

७६ गुजराती माड

सच्चिदानन्द है आनन्दकन्द, पूर्णानन्द जान रे ॥ टेक ॥ अस्ति भांति प्रिय रूप से, व्यापि रह्यो सब ठौर ॥ नाम रूप सब कल्पित जानो, ज्यों है ठूंठ का चोररे ॥ १ ॥ जैसे दूध में घृत रम्यो है, ज्यों है तिलन में तैल ॥ पुष्प के अन्दर 'गंध मिल्यो है, देह में आतम झेलरे ॥२॥ एक सुवर्ण में भूषण बन्या नाना अंग अनूप ॥ सोना विचार जबही कन्या, सब सोना का रूपरे ॥ ३ ॥ जाने बिन हानी बहुत, लख चौरासी जाय ॥ केशवानन्द जब ही तू जाने, आप में आप समायरे ॥ ४ ॥

७७ कस्तूरी

एक ब्रह्म को छोड़ दूजा कौन, ध्याऊंगा, आज मैं दूजा कौन ध्याऊंगा ॥ टेक ॥ भीतर बाहर एक रस है, रूप रंग से न्यारा,

अस्ति भांति प्रिय रूप ताहीं में, मन को लगाऊंगा ॥ १ ॥ कोई मानता देह प्राण को, कोइ इन्द्रिगगण सारा ॥ कोइ सूक्षम कारण स्थूल को, ये सब झूंठ लखाऊंगा ॥२॥ कोइ देवी कोइ देवल पूजे, कोई भूतगण लारा ॥ कोई मंत्र तंत्र मसान को साधे, मैं नहिं भ्रम में भुलाऊंगा ॥३॥ सब के मालिक सब के प्रेरक सबके साक्षी धारा, ऐसे सत् चित् आनन्द छोड़ के, केशवानन्द नहिं अटकाऊंगा ॥४॥

७८ कस्तूरी

आज इन्द्रिय-गण नाथूंगा, हरिनाम से पकड़ २ आतम में लगाऊंगा ॥ टेक ॥ सत्व गुण रूई शांति पूनी कर, शम दम बंट चढ़ाऊंगा ॥ विवेक विचार का चरखा कर के, शुद्ध मन से बटवाऊंगा ॥१॥ विराग सूवा सत्-संग घर के, सिघरे नाथ घलाऊंगा ॥ सत्यधर्म की डोर बांध कर, परमातम में रमाऊंगा ॥ २ ॥ चाहे तो सोऊं, चाहे तो जागूं, चाहे तो खेल खिलाऊंगा ॥ चाहे तो नाचूं, चाहे तो गाऊं, चाहे तो आनन्द समाऊंगा ॥ ३ ॥ वस भये मन फिर जीता जगत कूं, फिर न जगत् में आऊंगा ॥ केशवानन्द आनन्द में मिल कर, दूजा भाव न दिखाऊंगा ॥ ४ ॥

७९ जोगिया

राम नाम कह मैना, तूतो लख गुरु मुख की सेना ॥ टेक ॥ माया पारधी फंद लगायो, लाला फल धरेना ॥ लालच के बसतू जाइ बैठी, फँस गये दोऊ डेना ॥१॥ बंधे २ में मैना बोले, अब

गुरु मोहिं छोड़ेना, अब की बार छुड़ा मोहिं देना, मानूंगी आपका कहेना ॥२॥ राम नाम से फंद छुड़ाये, ज्ञान वैराग दोऊ देना ॥ उड़ी फंद से शरण में आयी, गुरु जी के चरण गहेना ॥ ३ ॥ निरभय होके ब्रह्म पिछाना, मिटि गये काल के ताना, केशवानन्द आनन्द कन्द मिल जग में अबना बहेना ॥ ४ ॥

८० भूप

बैल वाला सब दुनिया पालन वाला ॥ टेक ॥ दुःख में रहे बेहाला, जिन मार दिया हे भाला ॥१॥ तासे है भयो निहाला, जम का मुख किया काला ॥२॥ घर में है लखाया माला, अब दूर भया सब जाला ॥३॥ है फाँद गया जग नाला, विषयों से भया निराला ॥ ४ ॥ ऐसा है शंकर भोला, उड़ाया चित्त से पोला ॥५॥ गले पड़ी शेष की माला, है बैठन को मृगछाला ॥६॥ शिर वहे गंग का नाला, उठ्ठे तरंग बहु झाला ॥ ७ ॥ कंठ है जिनका नीला, भूत पिशाच हैं करते लीला ॥ ८ ॥ भंग धतूर पिये प्याला, फुंकार करे हैं व्याला ॥ ९ ॥ वामांग सुताहिमाला, गोद में गनपति वाला ॥ १० ॥ है केशवानन्द संभाला, ऐसा है डमरूवाला ॥ ११ ॥

८१ भूप

बाबा बैल बाले, अभै बरदान देने वाले ॥ टेक ॥ कर त्रिशूल त्रिफल वाले, मार त्रीताप निकालन वाले ॥ १ ॥ गले में सर्प हैं काले, पंच विषयों से छुड़ाने वाले ॥ २ ॥ जटा में गंग संभाले, तासे तृष्णा बुझाने वाले ॥ ३ ॥ शंकर त्रिनेत्र वाले, तिससे काम

जराने वाले ॥ ४ ॥ अब डमरू को बजाले, तन मन को रिझाने वाले ॥ ५ ॥ खुल गये दिल के ताले, झट प्रसन्न होने वाले ॥६॥ उर में हैं मुंड माले व्याघ्र-चर्म ओढ़ने वाले ॥७॥ केशव आनन्द संभाले, आतम-दरश कराने वाले ॥ ८ ॥

८२ रेखता

चढ़ा परवत के ऊपर है हाथ पग जिसके है नाहीं नहीं रस्ता है कोई दूजी, बिना पेड़ी चढ़े जाही ॥ टेक ॥ जमा कर आसन पर बैठे, रोककर दशो दिश दृष्टी। नेत्र भी है नहीं जिनके, लगायी एक लोताही ॥ १ ॥ लक्षणा तीन कहते वेद, जहति अजहति ओ भागही ॥ चौथी व्यंजन गावे, जहति अजहती तजो माही ॥२॥ लखो भाग त्याग से वृत्ती, बिना तान गान करे निरती ॥ तजो हर्ष शोक के झरती, सदा मन मोद में लाही ॥ ३ ॥ बिना अम्बर बिना भूषण नहीं तीनों गुण हैं ये दूषण। केशवानन्द वानी बिन प्रति दिन मोद में जाही ॥ ४ ॥

८३ रेखता

भरमना छाँड़कर देखो तुझे क्या पादशाही है। तुही नौकर तुही चाकर, हुकुम तेरा ही जारी है ॥ टेक ॥ हुकुम से तेरे सूरज ने तेज ज्योति पसारी है ॥ शीतल गुण चन्द्रमा ने की है सारी रात उजारी है ॥ १ ॥ तेरे भय से पवन चाले, सदा क्या सुख कारी है। कभी मीठा कभी मंदा, कभी सुगंध भारी है ॥ २ ॥ तुही

चक्रवर्ती है राजा, तेरे जय का बजे बाजा। चतुरंगी फौज है साजा, गावे गुण वेद सारी है ॥ ३ ॥ है ऐसा बोध शुभ जिनके, चोरयासी फेर क्यों अटके ॥ केशवानन्द अब नहीं भटके, एकता को संभारी है ॥ ४ ॥

८४ रासड़ा

विषय से भागना हो। चोर ठगों बत जान विषय से भागना हो ॥टेक॥ विषय पांच पसार्यो फन्दा, जीव मृग देखे नहीं अन्धा। अब तो छोड़ काम का धन्धा, प्रभु चरणन मन लावना हो ॥१॥ भोगत भोग काल बहु बीत्यो, तो भी भोग से रह गयो रीतो ॥ काम क्रोध को अब तो जीता, एक सन्तोष विन धापना हो ॥२॥ जनम मरन के बोझ उठायो, तो भी बोझ को ख्याल न पायो॥ उत्तम समय जात है बीता, जरा अब मानना हो ॥ ३ ॥ सत संगत से फन्दा काटो, काम क्रोध को अन्दर दाटो ॥ केशवानन्द भरम सब नाटो, एक ब्रह्म को जोबना हो ॥ ४ ॥

८५ रासड़ा

भरम में भूलना हो। जनम मरन के दुःख मिटावो, भरम में भूलना हो ॥टेक॥ अपनी भूल से ही सर्प भासे, जेवरी ज्ञान से सर्प नासे ॥ तब ही डर सब दूर हो भागे, दुख होवे नाशनाहो ॥ १ ॥ बाजीगर का झूठ तमाशा, जाने बिना सत हो भासा। विचार किये से होवे नाशा, अजर अमर अब जीवना हो ॥२॥

जैसे बालक लकड़ीं माहीं, घोड़ा मानि कुदावे ताही। दोड़त आप सड़क पर जाही, मन में माने मोद अधिक कुदावना हो ॥ ३ ॥ तैसे अपने आपको भूला। गर्भ वास में आपै भूला। नख शिख छाई अविद्या मूला, तासे छूटो कर साधना हो ॥ ४ ॥ चारों साधन सम्पन्न होय कर, ज्ञान सलाका अंजन लाकर। केशवानन्द भर्म सब खोकर, तान चादर अब सोवना हो ॥ २ ॥

८६ रासड़ा

मानुष जनम कठिन से पाया, जनम सुधारना रे ॥ टेक ॥ घट के अन्दर निरमल गंगा, तासे करो पाप की भंगा ॥ तब ही चढ़े ज्ञान की रंगा जनम मल काढ़ नारे ॥ १ ॥ निरभय होकर रहो जगत् में, संगत करले संत भगत में। मत कोइ फसो बुरे कर्म में, चित को विषय से छारना रे ॥ २ ॥ भोगत २ जनम बिताया, बिन सन्तोष शान्ती नहिं आया, चित्त को कर समाधान भरम को फारनारे ॥ ३ ॥ सबके अन्दर चेतन स्वामी, रंग रूप से रहित अनामा ॥ केशवानन्द सोई सुन्दर स्वामी, दिल का छाड़ गुवार, मिटे सब रारना रे ॥ ४ ॥

८७ जंगला

यह संसार पार होवन को, शीघ्र उपाय करो मेरे पियारे ॥टेक॥ यह नश्वर तनु थिर न रहत है, घड़ी पहर ठहराव पियारे। कंचन माया देखि लुभाया, जैसे नदी के आब पियारे ॥ १ ॥ छिन में

बढ़ जाय छिन में घट जाय, दीपक जोत परभाव पियारे। नीचे से निकसि ऊपर बिलात है, ता में न दिल लाओ मेरे पियारे ॥२॥ पार होवन को सत्संग नैया, विचार के कर पतवार पियारे। सत् गुरु दया अरु कृपा पवन से, सहसा पार लगाव मेरे पियारे ॥३॥ काल बली ने जाल पसारयो, छोड़त न राजा राव मेरे पियारे। कहे केशवानन्द छांड़ फन्द सब, गुरु के शरन महिं आव पियारे ॥४॥

८८ जंगला

जाके घट में ज्ञान प्रगट हो, ताको सुभाव रहे नहिं छाने ॥टेक॥ सूर्य प्रकाश भयो जब प्रात में, तारागण की जोत छिपाने ॥ काम घुघा सब बैठे खोडर में, मोह तस्कर ये सारे लुकाने ॥ १ ॥ तम फूटन से वस्तु प्रगट हो, भरम गये जिमि जेवरी जाने। तैसे ही भूल के जीव बने थे अज्ञान गये फिर ब्रह्महि माने ॥ २ ॥ कोऊक निंदत कोऊक बंदत, कोऊक मान करे सनमाने ॥ कोऊ कहत यह मूरख दीखे, कोऊक दिल में कामि पिछाने ॥ ३ ॥ केशवानन्द काहू से राग न द्वेष है, जैसे काच में प्रति बिबँ आने। साक्षी रूप से देखे तमाशा, समझ-समझ कर मन मुसकाने ॥ ४ ॥

८९ जंगला

ऊपर क्या बहु रूप दिखावे ॥ भीतर तो भंगार भरी है ॥टेक॥ अस्थी मांस त्वच मेदा मिलिके, वीर्य रूधिर पर कच्च खड़ी है ॥ मुख जिब्हा श्रुति नेत्र कर दोऊ, होऊ भुजा नख अग्र जड़ी है ॥१॥

देखन में बहु सुन्दर दीसे, इन्द्रिय महँनव द्वार झड़ी है ॥ मूरख देखि के बहुत लुभाने, जाने नहीं यह नरक जड़ी है ॥२॥ जेकर अज्ञबहु दुःख उठावे, तेकर भवजल नहीं तरी है ॥ तज्ञ ताको दुख रूपहि जाने, विषयन से मन खींच रही है ॥ ३ ॥ चार दिना के रंग तमाशा, आखिर तो वनवास खरी है ॥ कहे केशवानंद अब तो समझ प्राणी तेरे शिर पर काल बरी है ॥ ४ ॥

९० जंगला

जनम मरण के दुख मेटन को, पुरषारथ करे क्यों न पियारे ॥ टेक ॥ असंख्य जनम से फिरता भटकता, कभी भेड़ बकरा मेरे पियारे ॥ कबहीं हाथी कबहीं घोड़ा, कबहीं कच्छप में, परत मेरे पियारे ॥ १ ॥ चार लाख चोरयासी भरम के, मानुष तन में आया मेरे प्यारे । या तनु में ना जतन कियो तो, पुनि २ नरक भरे मेरे पियारे ॥ २ ॥ सत् शास्त्र अरु गुरु शरण में, आय वचन रत होवा मेरे पियारे ॥ छोड़ दे काम क्रोध मद ममता, काहे को तृष्णा में जरत पियारे ॥ ३ ॥ बिना ज्ञान के भरम न जावे, सीप ज्ञान बिन रजत है पियारे ॥ केशवानन्द जेवरी बिनु जाने, डरप-डरप कर भगत पियारे ॥ ४ ॥

९१ ग़ज़ल धुमाल

भरम ना दिल से जब छूटी और नहिं कोई दिखता है ॥टेक॥ जहां पर सूर्य ना चन्दा, वहाँ पर आप स्वच्छंदा ॥ नहीं कोई जालंऔ

फन्दा, अखंडित जोत जरता है ॥ १ ॥ नहीं है धूप वा छायाँ, नहीं कोइ काल ने जाया ॥ जगत सब झूंठ है माया, वेद इस भांति कहता है ॥ २ ॥ कर्म का जाल है फाँसी, यहीं से भूला अविनाशी ॥ भटकता मथुरा औ काशी, वृथा पच-पच के मरता है ॥ ३ ॥ जलाया कर्म केशवानन्द, जहाँ पर नहीं कोई बंध ॥ विचरते हैं सदा आनन्द, जमाना तैर करता है ॥ ४ ॥

१२ ग़ज़ल धुमाल

घुसा है चोर घर में यार, तुझे क्या नाहिं सुझता है ॥ सोया है नींद में गाफिल माल सारा ये मुस्ता है ॥ टेक ॥ तोड़ा नव-द्वार का ताला, चोर है पाँच जोर वाला ॥ लूटा है बित्तने नाला, जरा नहिं कान धरता है ॥ १ ॥ जगाते चार चौकीदार, तो भी नहिं जागता गँमार ॥ है सोया अनादि काल से नार, ज़रा नहिं टेर सुनता है ॥ २ ॥ सुनी है टेर कानों से, बचा है माल चोरों से ॥ दरिद्दर होता नहिं धन से, सदा आनन्द रहता है ॥ ३ ॥ लगाले ताला केशवानन्द, जहां पर चोर की नहिं सन्द ॥ सोले फिर हो करके निरद्वंद वृथा ही क्यों भरमता है ॥ ४ ॥

१३ ग़ज़ल धुमाल

हरि से प्रेम करने में, तुझे क्या बोझ आता है ॥ किया है नेह विषयों से समय सारा ये जाता है ॥ टेक ॥ बालपन खेल में खोया, जबानी काम वश होया ॥ बुढ़ापा खाट पर सोया, चिन्ता

तब आगिरस्ता है ॥ १ ॥ जिसे है मानता प्यारा, वो होता सारे से न्यारा ॥ कमाया पाप के भारा, एक ना साथ चलता है ॥२॥ जबै तू करता कमाई, तबै तुझे मिलते हैं आई ॥ न इसमें झूंठ है राई सभी मतलब का नाता है ॥ ३ ॥ छांड़ सब कपट चतुराई, प्रभु से नेह कर भाई ॥ केशवानन्द कहे समुझाई, तबहि आनँद माता है ॥ ४ ॥

९४ ग़ज़ल धुमाल

क्या है सुख विषयों में मूरुख ने आलिपटता है ॥ टेक ॥ हाड़ सूखा जभी श्वानो, धरा है मुख में मानो ॥ चावता जोर से जानो रुधिर मुख से टपकता है ॥ १ ॥ लगा है हाड़ में आई, मानता इसे सुखदाई ॥ न जाने कुछ भी अपनाई, ये चस-चस के चिपटता है ॥ २ ॥ मिटा सब तेज वो बुद्धी, भूला पर लोक की शुद्धी, विषय सुख मन में है लुब्द्धी, उमर सारी निपटता है ॥३॥ सहा शीतोष्ण अतिभारी, पड़ा है काम बेगारी ॥ है ऐसा मूढ़ अनारी, केशवानन्द यों भटकता है ॥ ४ ॥

९५ ग़ज़ल धुमाल

हमारा देश वोही है, जहाँ पर नहिं अन्धेरा है ॥ टेक ॥ नहीं चंदा नहीं सूरज, नहीं बिजली न तारा है ॥ नहीं मणि मोती की जोती, पंच भूतो से न्यारा है ॥ १ ॥ नहीं दिक् काल वो बारा, नहीं जग जाल है लारा ॥ नहीं कोइ गंग की धारा, नहीं संझा

सवेरा है ॥२॥ हैं चारों वेद यूं गाता, पार भी कोइ नहीं पाता ॥ शेष वो सारदा माता, यही बुद्धि विचारा है ॥ ३ ॥ लखा सोइ रूप केशवानन्द, तजा बन्ध मोक्ष का सब फन्द ॥ विचरते हैं सदा निरद्वंद, जाल सारा निवेरा है ॥ ४ ॥

१६ ग़ज़ल धुमाल

पड़ा था मोह के वश में, गुरु ने आसँभारा है ॥ टेक ॥ माया से रात दिन कहता, ये मेरा है ॥ २ ॥ नहिं कोइ मेरा वो तेरा, सभी भव-जाल सारा है ॥ १ ॥ यही भव दुःख है भारी, करे क्यों समय की ख्वारी ॥ अन्त में नहीं कोइ थारी, ये सब मिथ्या पसारा है ॥ २ ॥ दिया गुरुजी ने ऐसा माल, छुटा है सारा माया जाल ॥ मार दिया है सारा काल, दरिद्दर को निकारा है ॥ ३ ॥ सदा रहते हैं हम सत भान, लिया है मन विषय से छान ॥ लगाया लक्ष में ये ध्यान, केशवानन्द काम जारा है ॥ ४ ॥

१७ कुण्डलियां

पाँच विषय हैं जगत् में, याको करूं बखान । मरें पांच से पाँच ये, तिनको लेहु पिछान ॥ तिनको लेहु पिछान, शब्द से मृग को जानो । दीपक देखि पतङ्ग, स्पर्श से कुंजर मानो ॥ रस के वश है मीन, भ्रमर वश गंध के कहिये । इनसे बचते जो शूर, परमपद सोई लहिये ॥ कहे केशवानन्द काम, फक्कड़ों का यही है ॥ मारे जतन कर पाँच, सोइ फक्कड़ सही है ॥

९८ कुण्डलियां

हीरा-हीरा सब कोइ कहे, हीरा के तो तौल ॥ जो हीरा घट में वशे, सो हीरा अनमोल ॥ सो हीरा अनमोल याहि तू क्यों ना जोवे । काम क्रोध मद लोभ, विषय में विरथा खोवे ॥ कहे केशवानन्द, जोहरी खोजो पक्का । छोड़ जगत के जाल फिरे क्यों खावे धक्का ॥

९९ कुण्डलियां

आतमनदी जल संजम, बिवर्त सत्या को जान । तटदोई जहंशील है, दया उर्मि पहिचान ॥ दया उर्मि पहचान निहाले तिस में भाई, महाभारत में कृष्ण युधिष्ठिर का समुझाई ॥ कहे केशवानन्द जो न्हाते अन्दर माही ॥ वो पाते पद निर्वाण स्नान जल मलना जाही ॥

१०० कुण्डलियां

ब्रह्म माया का वाधक है साधक ताकूं ज्ञान । ज्ञान होत है विरति में कहते सन्त सुजान ॥ कहते सन्त सुजान विरती का काम यही है । दूर करे आवरण कुं मारे दंड सही है ॥ कहै केशवानन्द, है चेतन स्वयं प्रकाशा, तासे नरंचक भेद, हुआ अविद्या नाशा ॥

१०१ कुण्डलियां

तन बन में बहु सर्प हैं, और हैं सिंह सियार ॥ यासे वचना कठिन है, कहते संत पुकार ॥ कहते संत पुकार जतन कर बचना

प्यारे। ले वेराग की ढाल मार तू ज्ञान खड्ग से सारे ॥ कहे केशवानन्द तबहिं पावे सुखराशी । उठ गयी चित से भीति मिट गयी लख चोरासी ॥

१०२ कण्डलियां

प्रथमहि साधे चक्षु को विवेक गुरु से पाय । चक्षु की पूजा रूप है, कहें वेद में गाय ॥ कहें वेद में गाय ताको समझ असारा । नासिका इन्द्रिय सुवास करे सम तहाँ निरधारा ॥ कहे केशवानन्द श्रोत्र है शब्द अधीना । दोऊ बोल कुवोल करे सम कोइ प्रवीना ॥

१०३ कुण्डलियां

काम इन्द्रिय कुटिल है, बस किये सुर मुनि देव । तासे बचता शूर कोइ, जो लागे गुरु सेव ॥ जो लागे गुरु सेव लिया एक ज्ञान सहारा । ब्रह्म आत्मा लख्या काम का मूल उपारा । कहे केशवानन्द कामिनी काल की खानी । तासे रहो असंग कहत यूँ मुनिवर ज्ञानी ।

१०४ कुण्डलियां

जिव्हा इन्द्रिय चहे स्वाद को खट्टा मीठा अरु मधुर ॥ प्रारब्ध वसात् जो कुछ मिले पाते विचार कर सो चतुर ॥ पाते विचार कर चतुर बसें एकान्त मेंजाई मन से वासना उठाई । खाते भिक्षा

मांग सोते मसान में जाई ॥ कहे केशवानन्द पायो सुख अखंडा। फिरते सदा स्वछंद लिये वेराग का झंडा ॥

१०५ कुण्डलियां

पंच तत्व की गूदडी तामें रंग अनेक। ये पांचों से है परे, करके देख विवेक ॥ करके देख विवेक तू ही है अचल अनादी। सत् चित आनन्द एक है कहते पंडित वादी ॥ कहे केशवानन्द तू ही है अज अविनाशी। सदा तुही एक रस सब ही घट-घट का वासी ॥

१०६ कुण्डलियां

कहूँ लक्षण हंस के लखे कोइ बुद्धि निधान। दूर किया सब नीर को लिया दूध को छान ॥ लिया दूध को छान बसत मान सरोवर माहीं। चुगते मोती फल सदा डोमरीयों निकट न जाहीं ॥ कहे केशवानन्द कुण्डलीये है बनाई, किया यह विचार भर्म अन्दर से जाई।

१०७ कुण्डलियां

राम नाम को गहो नित, क्यों गहता है चाम। चाम के गहने छांड कर, भजो सदा एक राम ॥ भजो सदा एक राम विचार ऐसा अब कीजे, मानुषदेह अनमोल, सोध परमातम लीजे ॥ कहे केशवानन्द तबहिं हो सफल कमाई। राम नाम पहिचान, वृथा क्यों आयु गमाई ॥

१०८ कुण्डलियां

आया है सो जायगा, राजा रंक कंगाल। रचा खेल यह माया ने पड़ा काल के गाल ॥ पड़ा काल के गाल मुशुक बांधे कस कस के। भूलने का यह मजा, खबर लेवे नस-नस के ॥ कहे केशवानन्द, न जब तक हरि को जाने ॥ तब तक छुटेन मार, छुटे नहिं आने जाने ॥

१०९ कुण्डलियां

कोइला काले हो गये, निकसत अग्नि माहि ॥ यतन अनेकों करो पर, कालापन नहिं जाहि ॥ कालापन नहिं जाहि तीर्थों का नीर मगा वे। साबुन चोख़ी लायभले उनमें लगवावे ॥ कहे केशवानन्द न तो भी मिटे वो स्याही। जबहिं मिले निज आग, मिटे तबही वह स्याही ॥

११० कुण्डलियां

तैसे ही भूले आपको, करन लगे बहुपाप काम क्रोध मद लोभ में करने लगे कलाप ॥ करने लगे कलाप, पूजता देवा देवी। ब्रह्म-स्वरूप को छांड करत है सेवा सेवी ॥ कहे केशवानन्द न जब तक रूप समावे ॥ तब तक छुटे न फांस, बहुरि आवे अरु जावे ॥

१११ कुण्डलियां

अआ आये जगत् में कूटे है क्या चाम। चाम कूटना छाड़ कर, खयाल करो वह धाम ॥ ख्याल करो वह धाम काम में आयु

न खोवो। उलट करोवो वृत्ति रूप रामहि निज जोवो॥ कहे केशवानन्द, तबहिं पावे अविनाशी। कट गये दीरघ रोग, हुआ मन ब्रह्म में वासी॥

११२ कुण्डलियां

इई यह तन पाय के करना सदा विचार। क्या असार अरु सार है, ताको करो सुमार॥ ताको करो सुमार आत्मा सत्य बताया। झूठा जग संसार वेद ने योंही गाया॥ कहे केशवानन्द ये झूठी काया माया। झूठे मात अरु तात, झूठे सुत जनमी जाया॥

११३ कुण्डलियां

उऊ उस पर ब्रह्म का करिये सदा तलाश। परब्रह्म जाने बिना, होता है बड ह्रास॥ होता है बड ह्रास फिरे करता मजदूरी॥ जैसे भूल कर सिंह हो गये मेडा मेडी॥ कहे केशवानन्द न जब लग ब्रह्म को जाने। तब तक मिटे न भेद न छूटे आने जाने॥

११४ कुण्डलियां

ऋॠ ऋते आये हो, ऋते कर फिर जाय। चन्दरोज के रहन में अहंकार क्यों भाय॥ अहंकार क्यों भाय न है कछु तेरा मेरा। प्रीति करो शिव संग वही है मेरा तेरा॥ कहे केशवानन्द, बाँधकर मुठी आया। झूठा है जग जाल पसारे हाथों आया।

११५ कुण्डलियां

लृॡ लीजे राम को, हृदे सदा पहिचान। मिले दूध अरु नीर को, हंस लेते है छान॥ हंस लेत है छान, नीर जग किया है

न्यारा । दूध रूप है आप लेय निश्चय निरधारा ॥ कहे केशवानन्द मिटे तबही कंगाली । कोयल शिशु बनिकाग आम की बैठा डाली ॥

११६ कुण्डलियां

एऐ ऐसा धरम कर जासे होय उद्धार । काम क्रोध मद लोभ के, तज दो सभी विकार ॥ तज दो सभी बिकार हार हिम्मत ना कबहीं । जैसे मोती आव शूर जन रण पर चढ़ही ॥ कहे केशवानन्द, शीशजावे तो आगे । सच्चाशूर है वही न पीछे को जो भागे ॥

११७ कुण्डलियां

ओ औ और दूजा नहीं, लेलीजे संभार । जैसे मन के अनेक में, व्यापरहा यकतार ॥ ब्यापरहा यक तार, तैसे ही आपको जानो । वचंन कहे अनेक किसी की एक न जानो ॥ कहे केशवानंद ऐसा निश्चय कीजे । प्राण जायँ तो जायँ न पीछे चित को दीजे ॥

११८ कुण्डलियां

अंअः ब्रह्म के अंग से, जगत भया विस्तार । जैसे पुंवे से रूई, निकसत है बहुतार ॥ निकसत है बहुतार, सूत से पट्ट बुनावे । कोई मल २ खादि, कोई किमखाब कहावे ॥ कहे केशवानन्द सभी पट रूई सरूपा । ब्रह्म ज्ञानते भाष रहे सब ब्रह्म सरूपा ॥

दोहा—

स्बर ज्ञान के अर्थ को, समुझे चितदे कोइ ।
ज्ञान रूप में गरक रहे, जनम न दूजा होइ ॥
भूल चूक को माफ करो, सज्जन दीन दयाल ।
केशवानन्द की बीनती, बुद्धि है मम बाल ॥
कहना सुनना बहुत है, गुनना थोड़े माहिं ।
थोड़े महँ जो जन गुने, संशय शोक नसाहिं ॥
समिधा सूखी बहुत हैं, अग्नि रंचक मात्र ।
जो अग्नि के लगत ही, राख होत पल आत्र ॥

१११ तत्व बत्तीसी चौपाई

कका काया अन्दर भाई । सबका साक्षी रहा समाई ॥ आपहि द्दष्टा होवे जबही । जग मिथ्या ये लखता सवही ॥ खखा सबर करो मेरे प्यारे ॥ काम क्रोध से होबो न्यारे ॥ लोभ मोह कर रहा छिपाई । जैसे बादल सूर्य ढकाई ॥ गगा गावन की गुरुबानी ॥ तासे होय सकल भ्रम हानी ॥ भ्रम होत अधिष्ठान आसरे । रज्जू सर्प देख के ससरे ॥ घघा घर में रहो समाई । दूजे का घर होय दुखदाई ॥ जैसे अफीमची अमल को खाई । दूजे घर घुस गया पिटाई ॥ ङङा ऊपर नीचे समाया । अंत न शेष सारदा पाया ॥ सो आनन्द को गुरु लखावे । हद लख के बेहद को जावे ॥ चचा चमन खिली अति भारी । ताकी रंगत अजब निहारी ॥ मूरख देखकर फँस गये सारे । ज्ञानी तासे रहे

किनारे ॥ छछा छे रस तजो विकारा । छे रस में बहु गये हैं मारा ॥ छे रस को तजता जो कोई । अजर अमर घर पावे सोई ॥ जजा जाप करो निज अपना । दूजे जाप की तजो कल्पना ॥ तुझे भाव से दूजा भाषे । एक ब्रह्म का निश्चय नापे । झझा झगड़ा त्यागो भाई । एकहि ब्रह्म रहो लव लाई ॥ एक ब्रह्म देवन को देवा । याको गुरु मुख लखो नर भेवा ॥ ञञा इस जगत को कर्ता । पाले पोषे औ संहर्त्ता ॥ उपादान कारण माया जानो । निमित्त कारण ईश पिछानो ॥ टट्टा टारो सदा विषयन को । विषय पांच फसावे सवन को ॥ शम दम करिके याहि मिटावो । मन उमगाय ब्रह्म में लावो ॥ ठट्ठा ठाम कुटाम में तूही । ज्यों आकाश घट मठ में योंही ॥ नहिं उपजे नहिं बिनसे कबही । घठ मठ उपजे बिन से सब ही ॥ डड्डा डमा डोल न होना कबही । अडिग्ग रहै सो परमपद लहही ॥ जिनके निश्चय नहीं मन माहीं । जम-राजा से मार वो खाईं ॥ ढड्ढा ढूँढन को कहां जाबो । करि विचार निज आप में पावो इक्षू में गुड़ तिल में तेला । तैसे ही आतम देह में मेला ॥ णणा नगर बसा है कैसे । आब बुद २ में फैन है तैसे ॥ घट की कारन मृतिका जानो । भीतर बाहर मृतिका जानो ॥ तत्ता तत्व ज्ञान कर देखो । एक ब्रह्म दूजो नहिं लेखो ॥ तत्व ज्ञान को जाना जोई । सारा जमत् को खोया सोई ॥ थथा थंम की नाईं अचला । ब्रह्मज्ञान रंग लख में मचला ॥ रंग सोई जो रहे एक रंगा ।

दूजा रंग मिले बदरंगा ॥ दद्दा दर्श करोरे भाई । चूक पड़े तो फिर पछिताई ॥ दमन करो सदा इन्द्रिय को । दसो दिशा से रोको मन को ॥ धधा धर्म यही है भाई । मानुष देह वृथा नहिं जाई ॥ यह ही देह अमोल है भाई । लख निज रूप नारायण होई ॥ नन्ना नाम रूप को त्यागो । सत् चित् आनन्द रूप में लागो ॥ पांच अंश में जगत् है सारा । अस्ति भांति प्रिय रूप तुम्हारा ॥ पपा परम धर्म यहि भाई । आप रूप में रहो समाई ॥ आगम निगम पुराण बखाना । एक रूप है ब्रह्म समाना ॥ फफा फाँको ज्ञान की फंकी । होवे निश्चय रहो निशंकी ॥ रोग दोष को भय नहिं कीजे । कटगये रोग अभय पद लीजे ॥ बबा बर बश मन को जीतो । तब ही ज्ञान रस अमृत पीतो ॥ जो नर मन को जीता विषय से। वही देश एकांत बसैसे ॥ भभा भरम का बुरुज ढहाया । ब्रह्म-ज्ञान का गोला चलाया ॥ माया महल उड़े बुद २ ही । जैसे पिंजारा रूई धुन ही ॥ ममा मरम भेद पंच छेदा । रहा न रंचक भेद अभेदा ॥ जाश कर्म होवे निष्कर्मा । यह संतों के निश्चय धर्मा ॥ यया यारी चोरी न करना । करपुरुषारथ पेट को भरना ॥ जो अन्याय करे पेट कारन ॥ सो पशु मूढ़ है जान हजारन । ररा रमि रहा सब के माही । कीट पतंग ब्रह्म लों आई ॥ जो जाने यह रमझ समज को ॥ वोही पहुँचे अजबा घर को ॥ लला लीन होवो उस माहीं । पुनः उलट कर जगत न आहीं ॥ तारा सूर्य प्रकाश न करई । स्वयं रूप आपहि सो बरई ॥ ववा वाके घर में भाई लोक

चतुर्दश रहा समाई ॥ कोई कहता घट में काशा । सारे घट आकाश में बाशा ॥ शशा शाम करो मत प्यारे । रात पड़ेतो जाउ लुटारे ॥ जो कछु करना स्वास के पहिले । बिन निश्चय फिर पड़ोगे चहले ॥ षषा निश्चय सेन को लखना । फिर जानो नहिं होवे मरना ॥ जीवन मरन अविद्या करावे । निजहिरूप में मूरख गावे ॥ ससा श्रवण मनन नित कीजे । निदिध्यास में चित्त को दीजे ॥ तब ही चित्त को होवे चैना ॥ लख निज रूप गुरु की सैना ॥ हहा हरदम देखो नूरा । सो नर जानो जग में पूरा ॥ हुवे अलमस्त नहीं कहुँ अटके । जो न जानिं चोरासी भटके ॥ क्षक्षा क्षमा करो मन माहीं । हर्ष शोक अरु संशय नाहीं ॥ हर्ष शोक ये मन के धर्मा । ब्रह्म रूप होवो निष्कर्मा ॥ त्रत्रा तरुनी रसमत भीजो ॥ प्रान हरे अरु धन को खीजो ॥ धर्म पुण्य में आग लगावे । ज्ञान ध्यान से मन को छुड़ावे ॥ ज्ञज्ञा ज्ञान हुवा अब पूरा । ब्रह्म-ज्ञान में हरदम जूरा ॥ यही ज्ञान वशिष्ठ बताया । व्यास आदि नर पुंगव गाया ॥ जो यह बत्तीसी पढ़े मन लाई । जनम मरण संताप नसाई ॥ करे विचार पावे निर्बाना । द्वैत भरम के काटे काना ॥ अक्षर भूल रही हो कोई । बुध करि कृपा सुधारें सोई ॥

१२० दोहा

तत्व बत्तीसी के अर्थ को, जो कोइ लेय पिछान । दुःख दरिद्र नसाय के, ब्रह्महि रूप समान ॥ जमे रहो निज रूप में मन में

राखो धीर। जैसे हीरा घनन से, चोट सहे गंभीर ॥ ज्ञानी ज्ञान को पाय के, रहते सदा आनन्द। संशय शोक रहे नहीं, कहत केशवानन्द ॥

१२१ ग़ज़ल

अगर चाहो जो कुशलाई। करो वह देश भलाई ॥ कड़ापन दिल से तुम छोड़ो। जो दिल में होवे नरमाई ॥ टेक ॥ मातृवत् जान पर जननी ॥ द्रव्य पर को नहीं हरनी ॥ दम्भ पाखंड को तजनी। यही है चाल चतुराई ॥ १ ॥ सबईसे मित्रता कीजे। सुहित के काम को लीजे ॥ अमीरस प्रेम से पीजे। सुफल होवेगी कमाई ॥२॥ ये छिन में श्वास छुट जावे। न कछु भी हाथ में आवे ॥ तू सिर धुन २ के पछतावे। जनम मानुष का गमाई ॥ ३ ॥ कहा अब मानले मेरा। निकट स्वराज का डेरा। तजो भ्रम पाप का घेरा। केशवानन्द बात जनाई ॥ ४ ॥

१२२ होली

सत् गुरुजी से खेलो होरी। मैल मनके धोवोरी ॥ टेक ॥ सत्संग केतो फरश बैठ कर, विषय वासना टारी ॥ मल विक्षेप, आवरण दूर कर। तब होवे अधिकारी, प्रेम को रंग चढोरी ॥१॥ साधन चार बजाओ बाजा। शम दम दोऊ कर तारी ॥ वैराग्य विवेक के झाँझ हैं बाजे, श्रद्धा तितिक्षा सारी, मुमुक्षुता तान तोडोरी ॥२॥ मनन श्रवण अबीर उडावो निदिध्यासन रंग घोरोरी। ज्ञान पिचकारी

मुख पर मारी, वस्त्र भींज गये सारी, रंग में मस्त भयोरी ॥३॥ काम, क्रोध, अरु लोभ, मोह ईंधन एकत्र करोरी। संचित आगामी अरु तृषना, फूंक दियो जिमि होरी, केशवानन्द सेन लखोरी ॥४॥

१२३ होली

सुजन जन ही खेलेंगे होरी। कहा खेले मन्द मति थोरी ॥ टेक ॥ लख चोरासी भ्रमि कर आयो, मनुज जन्म पायोरी। जरा विचार करो दिल अन्दर, देवगण चाह करोरी; ताहि क्यों वृथा खोयोरी ॥१॥ बालापन सब खेलि गंवायो, युवा मस्त भयोरी। पर तिरिया पर धन को चाहे, मात पिता देहि गारी, महा उनमत्त भयोरी ॥२॥ वृद्धापन में सब अंग कापे, उपाय न एक चलोरी। तृष्णा चिन्ता भण्डार भरी है, खांसी खांय खाँय करोरी, बुढ़ायी फिर यों मरोरी ॥ ३ ॥ विवेक विचार करो मन अन्दर, स्वप्ना ठाठ जमो री, श्वास के छूटते बिछुड़ जायँगे, घर दौलत परिवारी, केशवानन्द आप कहो री ॥ ४ ॥

१२४ होली

आयो दाव न हारो भाई, करो संभाल कमाई ॥ टेक ॥ चार दिशा में घर वाली है, सोलह रचदी क्यारी ॥ दिवश निशा दोउ पाशा डारी, मारत चोट बनाई, काल की यह चतुराई ॥ १ ॥ चारों खानी गोटी जानो, छोटी बड़ी बनाई। निडर होय के सब को मारे, काल कर्म्म कठिनाई, वो तृण ब्रह्मालों जाई ॥२॥ धर्म्म कवच

क्षमा सिर कुण्डी, दया त्राण बनाई ॥ ढाल कृपान विराग ज्ञान, सत्य सुकृत से चलाई, काल नियरे नहिं आई ॥ ३ ॥ ऐसा खेल जो खेले खिलारी, अटकी गोटि छुड़ाई ॥ सर्व्व ओर से वह बचि गयी है, पक्की घर में आई, केशवानन्द कहि समुझाई ॥ ४ ॥

१२५ होली

शिवजी पूजन करूं तुम्हारी, आप हो वीर बिहारी ॥ टेक ॥ आत्मा आप हैं गिरजाजी मति, प्राण बन्यो सहचारी ॥ शरीर मन्दिर में आप विराजे, पूजा की तैयारी, सत्य व्रत थार भरारी ॥१॥ चित्त के चन्दन, प्रेम की पाती, अक्षत दया चढ़ारी ॥ शान्ति जल से स्नान कराओ, शील संतोष पयढारी, मनवा बन्यो है पुजारी ॥ २ ॥ क्षमा गुलाल अबीर उड़ावो, निष्काम आरती बारी ॥ ब्रह्मानन्द नैवेद्य धर्‍यो है; घड़ी घंट घमसारी, करुणा मुदिता आरती उतारी ॥ ३ ॥ पादप्रदक्षिणा अरु जिव्हास्तुति, अपर्ण सर्व्वस्व करोरी। या विधि पूजा जो नर कीन्ही, जन्म मरन भये दूरी, केशवानन्द आप भयोरी ॥ ४ ॥

१२६ दादरा

समझ मन स्वपने को संसार ॥ टेक ॥ स्वपने माहिं बहुत सुख पायो राजपाट परिवार ॥ १ ॥ जागपड़ा तब लाव न लशकर, ज्यों

का त्यों निरुआर ॥२॥ मात तात भ्राता सुत बनिता, मिथ्या सर्व्व विकार ॥३॥ कर सत् संग ज्ञान जब जाग्यो, नहिं कोई म्हारो न थार ॥४॥ चमक चाम को देखि न भूलो, यह सब माया असार ॥५॥ छुटते हि स्वाँस सब बिखर जायँगे, ज्यों मनके का तार ॥६॥ कर निष्काम प्रेम भक्ति को, जो चाहो भव पार ॥ ७ ॥ सत्य धर्म को कबहु न त्यागो, केशवानन्द निरधार ॥ ८ ॥

१२७ पद

प्रभुजी से करो ना यारी, मन तुम ॥ टेक ॥ स्वारथ वश परिवार सबहि है मात पिता सुत नारी ॥ १ ॥ अन्त समय कोइ काम न आवे, सास ससुर अरु सारी ॥ २ ॥ छल कपटन करि माल कमायो, मन में उमँग भयो बारी ॥ ३ ॥ जब यमराज कंठ में घेरैं, सुध बुध बिसरि है सारी ॥ ४ ॥ ज्ञान वैराग्य हृदय में धारो जो चाहो भव पारी ॥ ५ ॥ नर देही का काम यही है, कहते संत विचारी ॥ ६ ॥ दया धर्म्म हृदय में राखो, बिगड़ी बात सम्हारी ॥ ७ ॥ केशवानन्द अमर पद पइहो, तजो ज़गत् सब खारी ॥८॥

१२८ पद

देह जरे जिमि घास ॥ समझ मन ॥ टेक ॥ तृष्णा आग अहर्निशि फूंके, जिमि समुद्र अनल कर राश ॥ १ ॥ काम क्रोध क्षण क्षण

हि तपावे; अबा कुलाल के तास ॥ २ ॥ जब तक जीबे अंतः जराबे, मुवे होली सम खास ॥ ३ ॥ अस शरीर में अहम् भाव करि, हुवा विवेक का नाश ॥ ४ ॥ केशवानन्द लखो अविनाशी, नहिं तो हो जमपुर में हाँस ॥ ५ ॥

१२९ होली (पद कुटिया, धूल उड़ान)

उड़ावो उड़ावो, कुटिया की धूल उड़ावो ॥ टेक ॥ कुटिया बनी है पंच भूत की तामें जगत् पसारो ॥ सत्व अंश में ज्ञान इन्द्रियां अतः करण समारो; ताहि में आतम पावो ॥ १ ॥ रजो अंश है कर्म इन्द्रियें, पांचों प्राण लगावो ॥ तामें कोइ रूप नहीं है अपना, परिछिन्न अहं को जरावो; तबहि निज रूप को पावो ॥२॥ सार वस्तु है रूप आपनो, गो को दूर बहावो ॥ दस दिशि दरशन होत हमेशा, निश्चय धजा उड़ावो, ये ही भेषज को खावो ॥३॥ चारों साधन कोट बनावो, श्रवण मनन दोउ वारी ॥ निज निदिध्यास है नीर निरंतर, तामें मल २ न्हावो; मल विक्षेप नसावो ॥ ४ ॥ अहं ब्रह्मास्मि प्रगट भयो पावक कुटिया में लगि गयो झारो ॥ कुटिया अरु कुटिया अभिमानी, जरि भये दोउ छारो; राख सब गगन समावो ॥ ५ ॥ कुटिया का अभिमान करे सो, मूरख मूढ़ गमारो ॥ एक घर छोड़ दिया है अपना, काहे करो मुख कारो; केशवानन्द कहि समझावो ॥ ६ ॥

१३० पद कालिंगड़ा

कुटिया लगी अति खारी ।। मोमन कुटिया लगी अति खारी ।।टेक।। यह कुटिया में बहुत दुख पायो, मल-मूत्र त्याग २ हारी ।। १ ।। यह कुटिया अति जढ़ परिणामी, धरत षट विकारी ।। २ ।। या कुटिया में भयो है अनुभव, लखी पंचकोष बीमारी ।। ३ ।। जो अभिमान करे सोइ मूर्ख, ताकी मति गइ मारी ।। ४ ।। कुटिया लहे का दंड सभी को, सुरपति नर अधिकारी ।। ५ ।। केशव सत गुरु भेद लखायो, छुटि गई कल्पना सारी ।। ६ ।।

१३१ पद कलिंगड़ा

सच्चे पति से लाग ।। सुबुद्धी, सच्चे पति से लाग ।।टेक।। सच्चे पतित्रिकालाबाध हैं, ता संग खेलो फाग ।। १ ।। झूटे पति संग बहुत दुख पायो, तासे पीठ दे भाग ।। २ ।। शील संतोष की साड़ी पहरो, भूषण पहिरो वैराग ।। ३ ।। सच्चे पति निज रूप कूटस्थ है, तासे करो अनुराग ।। ४ ।। निर्भय होकर रहो जगत में, जरो न जग की आग ।। ५ ।। केशव सच्चा सतगुरु मिलिया, तोड़ भरम के ताग ।। ६ ।।

१३२ दोहा

जो निरख्या निज रूप को, देखन जोगन कोय। हम तुम दफ्तर गुम भये, चद्दर तान के सोय ॥ १ ॥ अस्ति भाति प्रिय रूप में नाम रूप दो बाध। वक्र भाव कैसे रहे, लागी शुद्ध समाध ॥२॥ धीर नीर में प्रति सम, मिलि रहा एकहि जान। कपट खटाई परत ही, विलग २ होय मान ॥ ३ ॥ मुख्य प्रीति का विषय है, आतम ब्रह्म सरूप। तासे ना प्रीती करे, क्यों न पड़े भव कूप ॥ ४ ॥ गुरु-गुरु सब कोइ कहे, गुरु लखे ना कोय। एक बार जो गुरु लखे, वह खुद गुरु होय सोय ॥ ५ ॥

१३३ राग बंगला

कुटी में क्यों करता अभिमान, कुटिया नरकों की है खान ॥ टेक ॥ प्रथम गर्भ पिताजी धारे, पीछे माता जान ॥ नरक द्वार से निकस पड़ी है, नरक द्वार समान ॥ १ ॥ प्रथम दिवस संयोग भयो है, तीजे दधी जमान ॥ तीन मास में पिंड सम जानो, चौथे नख शिख कान ॥ २ ॥ पंचम मास आकार बन्यो है, चेते पिंड में प्रान। छटे मास पुष्ट सब हो गये, सप्तम तेज बल जान ॥ ३ ॥ अष्ट मास में दुर्बल भयो है, नौमें पूर्ण निर्मान ॥

कुटिया कारन बहुत दुख पायो, कष्ट कष्टांतर जान ॥ ४ ॥ नरक द्वार में प्रकट भयो है, खुश होय मूढ़ अजान ॥ आनन्द में सब मगन भये हैं, बाजत नब्द निशान ॥ ५ ॥ इस कुटिया में तीन अवस्था, बाल वृद्ध अरु ज्वान ॥ बाल नादानी युवा मस्तानी वृद्धा चिंता खान ॥६॥ कुटी बनी थी ड्यूटीभजन को, उलटे फंसा अभिमान भरम करम में ताला जोड़ा, फंस गये कुफ्फर खान ॥७॥ अन्दर नरक बाहरहु नरक, है नरकहि नख शिख मान ॥ जो अभिमान करे कुटिया का, पड़ते चारों खान ॥ ८ ॥ जिसको सच्चा गुरु मिला है, बजाया गगन निशान ॥ केशव कुटिया की धूल उड़ा के, सोते चद्दर तान ॥ ९ ॥

१३४ बंगला

तजदे कुटिया का अभिमान, सुनले कथा लगा कर कान ॥ टेक ॥ अस्थि मांस की कुटी बनी है मल मूत्तर अस्थान ॥ रोम रोम से नरक झडत है, आखिर मिथ्या जानं ॥ १ ॥ रावण कुम्भकरण खरदूषण, सहस्त्राबाहु जान ॥ जिन २ कुटिया राग करा है; तिन २ की भई हान ॥ २ ॥ हिरनाकुश दुर्योधन राजा मधुकैटभ बलवान ॥ कुटिया का अभिमान् करे से रहा न नाम निशान ॥३॥ तनक बड़ाई तन धन पाकर चाहत है बड़ा मान ॥

खान पान में रती करत है, बुद्धी हो गई हान ॥ ४ ॥ ग्राम छोड़ कर जंगल रहते, सोवे चद्दर तान ॥ ज्ञान ध्यान की राह न पाई; अन्तर मैला जान ॥५॥ काला नाग बसे बांबी में कितनी हि दूध पियान ॥ औसर पाके काटे उसको, असर जाति का जान ॥६॥ बड़े भाग मानुष तन पाके समझो चतुर सुजान ॥ ज्ञान बिना सुख तीन काल नहिं कहते वेद पुरान ॥ ७ ॥ सच्चा लेना सच्चा देना, सच्चा रूप पिछान ॥ केशवानन्द आनन्द बन व्यापक; लखते एक समान ॥ ८ ॥

शेर—

सूर्य वत् प्रकाश हो, पर आतिस की तरह गरम नहीं ।
चन्द्र सम शीतल सदा, पर जलवत् नरम नहीं ॥
आकाशवत् भरपूर हो, नाम रूप सब कूर हो ।
सच्चिदानन्द जहूर हो, सो केशवानन्द का नूर हो ॥

—०—

१३५ दोहा

ग़ुसे तीनों गुण को, प पकड़ा मजबूत ।
तसे तत्व ज्ञान कर, माया करी निपूत ॥
ईश्वर के पर पंच में, मालव देश के माहिं ।
शहर एक रतलाम है, राजस्थान हैं ताहिं ॥
ताके पश्चिम भाग में, मील एक है स्थान ।
सागोदिया खाल कहत हैं, नाम यही पहिचान ॥

उभय खाल के बीच में, गुप्त कुटी ले जान ।
तामें बैठ पूरण भयो, तत्व गुटका ज्ञान ।।
सम्वत की संख्या कहूं, सुनिये चित्त दे कान ।
वसु आठ नव ग्रह है, शशी शशी पहिचान ।।
फाल्गुण कृष्ण द्वितिया भौमवार ले जान ।
ता दिन यह पूरण भयो, तत्व गुटका ज्ञान ।।

—o—

इति श्री महात्मा परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामीजी
श्री केशवानन्दजी महाराज (श्री केशव भगवान्)
कृत तत्व-ज्ञान गुटका समाप्तः